ALOCHNA HINDI

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GKV

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ACCN. 49429
~~49428~~
029546

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

GULZAR BOOK BINDING HOUSE

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

एक प्रमाणीकरण १९८४-१९८५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

CHECKED 1973
079546
079546
R
58
3693
20.9

आलोचना

कविता
हित्यिक सौष्ठव और सामाजिक तत्त्व
रस, सौन्दर्य और आनन्द
आदर्श और यथार्थ : हिन्दी कथाकार
भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास
मैक्सिम गोर्की
प्रस्तुत प्रश्न : नई कविता

सम्पादकीय
डॉ० भगीरथ मिश्र
विष्णु प्रसाद त्रिवेदी
अनन्त
अनन्त चतुर्वेदी
गंगाधर झा
ब्रजलाल वर्मा
प्रतापसिंह चौहान

राजकमल प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकु...

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ५ अंक ४ | पूर्णांक २० | अक्तूबर, १९५९

वार्षिक मूल्य १२) | इस अंक का ३)

सूची

▲सम्पादकीय

—'नई कविता' --- १

▲निबन्ध

—साहित्यिक सौष्ठव और सामाजिक तत्त्व :
डॉ० भगीरथ मिश्र --- ६

—रस, सौन्दर्य और आनन्द :
प्रो० विष्णुप्रसाद र० त्रिवेदी --- १८

—आदर्श और यथार्थ : हिन्दी कथाकार :
अनन्त --- २५

अध्ययन : भारतीय लेखक

—भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास :
अनन्त चतुर्वेदी --- ३५

अध्ययन : विदेशी लेखक

—मैक्सिम गोर्की :
गंगाधर झा --- ५२

▲प्रस्तुत प्रश्न

—'नई कविता'—दो समीक्षाएँ :
व्रजलाल वर्मा --- ६४

▲मूल्यांकन

—बूँद और समुद्र : आस्था की समस्या :
रामविलास शर्मा --- ८१

—हाथी के दाँत :
प्रकाशचन्द्र गुप्त --- ९३

—राह बीती :
प्रकाशचन्द्र गुप्त --- ९५

—कौड़ियों का नाच :
शिवकुमार मिश्र --- ९६

—हिन्दी-रीति-साहित्य :
रामचन्द्र तिवारी --- ९९

—पद्मसिंह शर्मा के पत्र :
लक्ष्मीरमण वार्ष्णेय --- १०२

—पुरानी राजस्थानी :
भोलानाथ तिवारी --- १०४

—बेकसी का मज़ार :
शिवकुमार मिश्र --- १०७

—कला-दर्शन :
सतीशचन्द्र काला --- ११५

—प्रतिमा-विज्ञान :
कृष्णदत्त वाजपेयी --- ११६

—अन्धा युग :
मनोहर वर्मा --- ११८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

गुरुकुल कांगड़ी पुस्तकालय
पुस्तक संख्या R
आगत संख्या दि. ३७ आ
अ. २०, पृ. १-२

आलोचना

सम्पादकीय

'नई कविता'

पत्रिका के इस अंक में नई हिन्दी-कविता पर दो समीक्षाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। दोनों समीक्षकों ने नई कविता शब्द से उस विशेष प्रकार की रचना का अर्थ लिया है जो इन दिनों बहुतायत से पत्र-पत्रिकाओं में छपा करती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी की नई कविता वर्तमान समय में इस विशेष शैली या प्रकार तक सीमित है। हिन्दी के अधिकांश प्रौढ़ और गण्यमान्य कवि अब भी भिन्न प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनकी अपनी गरिमा और महत्त्व है। यह कहना भी अनुचित न होगा कि हमारी नई कविता का प्रतिनिधि और प्रांजल रूप वही है, जो उन प्रौढ़ कवियों द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। न तो मात्रा में और न वैशिष्ट्य में इन प्रशस्त रचनाओं की समता नये प्रयोगों और अभ्यासों द्वारा की जा रही है। एक विशेष तबके के कवि एक विशेष लहजे की रचनाएँ तैयार कर रहे हैं और इसे ही वे नई कविता का नाम देने लगे हैं। इस नई सृष्टि में भाव या विचार अथवा शैली और शिल्प की दृष्टि से ऐसी विशिष्टता नहीं लाई जा सकी है कि हम उसे हिन्दी-कविता के विकास का आगामी चरण कह सकें। इस प्रकार की रचना भविष्य के प्रति कोई बड़ी आशा भी नहीं बँधाती। ऐसी स्थिति में हिन्दी-कविता की स्वस्थ और प्रांजल परम्परा को छोड़कर इस अटपटी शैली की रचना को नई कविता का नाम देना भ्रामक और असमीचीन होगा।

हिन्दी से भिन्न अन्य भारतीय भाषाओं में जो काव्य-रचनाएँ हो रही हैं, उन्हें देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन भाषाओं के नये कवि नई भावभूमियों का स्पर्श कर रहे हैं। उनकी काव्य-शैली आवश्यक नवीनता भी अपने साथ लाई है। परन्तु हिन्दी की भाँति अन्य भाषाओं में क्रमागत काव्य-पद्धति से इतना बड़ा बिलगाव नहीं दिखाई देता। उनका काव्य क्रमागत काव्य को नया विस्तार और नई प्राण-शक्ति देता है, किन्तु हिन्दी की यह नई रचना अपने नयेपन में एक अचम्भा उत्पन्न करती है। हिन्दी की प्रौढ़ काव्यधारा से नये प्रयोगियों की रचना इतनी भिन्न हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई है कि दोनों में किसी प्रकार का तारतम्य देख पाना भी कठिन हो गया है। कदाचित् यही कारण है कि इस प्रकार की कविता हिन्दी के सामान्य पाठक के काम की नहीं रही। उसका क्षेत्र एक विशेष तबके तक सीमित हो गया है। यदि नवीनता के नाम पर प्रतिदिन सीमित और संकीर्ण क्षेत्र की वस्तु बन जाना ही नई कविता की गतिविधि है तो यह संपूर्ण हिन्दी-जगत् के लिए विचार करने की बात है। हम इस नई शैली की रचना को नई कविता के छद्म नाम से नहीं पुकार सकते, क्योंकि हिन्दी की नई कविता इस छोटे घेरे में घिरी हुई नहीं है। साथ ही हमें इस छद्म नाम वाली नई कविता की संपूर्ण परीक्षा करनी होगी ताकि उसकी असलियत का उचित ज्ञान हो सके।

हमें यह देखकर कम आश्चर्य नहीं होता कि नई कविता के हिमायती छन्द के विरोधी हैं और लय के पक्षपाती। जिन नये कवियों की कोई रचना किसी छन्द को अपनाकर चलती है, उनके प्रति नये सम्प्रदाय के कर्णधार सशंक रहते हैं और अवसर आते ही उन्हें चेतावनी देते हैं। यदि चेतावनी मिलने के साथ ही कवि ने छन्दों का रास्ता न छोड़ा तो उसे सम्प्रदाय से बाहर किये जाने का खतरा उठाना पड़ता है। यदि हम पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित होने वाली प्रयोगवादी समीक्षाओं को पढ़ें तो देखेंगे कि प्रयोगवादी कविता के लिए छन्दों का वर्जन एक आवश्यक तथ्य बन गया है। छन्द के स्थान पर लय की चर्चा प्रयोगवादी विचारक अवश्य करते हैं, परन्तु छन्द का बहिष्कार करके लय की उपयोगिता बताना एक विचित्र अन्तर्विरोध का परिणाम है। काव्य के लिए छन्द के बहिष्कार की ऐसी पाबन्दी कविता के इतिहास में शायद ही कभी लगी हो। जिन कवियों के कानों को छन्दों का संगीत वर्जित है वे लय की संगति कहाँ तक समझ और पा सकेंगे! यही कारण है कि काव्य में लय की अथक चर्चा करने वाले अज्ञेय जैसे रचनाकार भी हिन्दी-काव्य के संगीतात्मक और लयात्मक पक्ष से अनवगत ही रह गए हैं। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'भारतीय कविता, १९५३' नामक सद्यःप्रकाशित पुस्तक में उनकी एक कविता का कुछ अंश इस प्रकार है—

यह दीप अकेला स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।
....

यह प्रकृति, स्वयंभू, ब्रह्म अयुत
इसको भी शक्ति को दे दो।
....

जिज्ञासु प्रबुद्ध सदा श्रद्धामय,
इसको भक्ति को दे दो।

हिन्दी का साधारण पाठक भी इन पंक्तियों की लयहीनता बिना प्रयत्न के ही बता सकेगा, परख की आवश्यकता भी न होगी।

पूछा जा सकता है कि नई कविता के ये पुरस्कर्त्ता काव्य के सहज संगीत और लय की पहचान क्यों नहीं रखते; उत्तर यह है कि ये काव्याभ्यासी अपनी विलक्षण मनोवृत्ति और मान्यता के जाल में फँसकर कविता के इस सर्वसम्मत अंग से वंचित हो गए हैं। इन लेखकों ने हिन्दी-काव्य की अपनी लय-पद्धति का भी उचित अनुशीलन नहीं किया है और प्रायः अंग्रेज़ी कविता के लय-संस्कारों को हिन्दी में अवतरित कर रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिमी संगीत और भारतीय संगीत, पश्चिमी काव्य और भारतीय काव्य में जितना और जो कुछ स्वाभाविक अन्तर है हिन्दी और अंग्रेजी भाषा की लय-पद्धतियों में भी उतनी ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्नता है। इस प्रकार की कविता की अनगढ़ लयों का एक तीसरा और कदाचित् मूल कारण यह है कि नये रचनाकार काव्य की सहज और अन्तरंग प्रेरणाओं से संचालित नहीं हैं। वे अधिकांश में श्रमसाध्य और गढ़े हुए कवि हैं जिन्होंने कवि-कर्म का बाना ग्रहण किया है।

जब से इस नये प्रकार की कविता का प्रारम्भ हुआ, तब से इस शैली के कवि स्वयं समीक्षक बन गए हैं और अपनी कविता का मर्म आप ही बतलाया करते हैं। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि इन कविताओं का मर्म और मूल्य प्रकट करने के लिए इन कवियों को अपना ही सहारा रह गया है, कदाचित् अन्यों को इन सृष्टियों से कोई रुचि या सरोकार नहीं रहा। यह न केवल चिन्ता की बात है, शंका और भय की भी वस्तु है। वह भी क्या काव्य है जिसका पारायण और आस्वादन करने के लिए हर घड़ी व्याख्याओं की आवश्यकता पड़े! और व्याख्याता भी वही जो स्वयं रचयिता हैं! हिन्दी-पाठकों का विशाल समाज क्या इस स्थिति से सन्तुष्ट या प्रकृतिस्थ हो सकता है? समस्या यह है कि हम कविता को अधिक महत्त्व दें, या उसकी व्याख्या को? किसी युग के काव्य के लिए क्या यह कम दुर्भाग्य की बात है कि बिना विस्तृत व्याख्याओं और वक्तव्यों के उसका पारायण ही न किया जा सके। नई कविता के इस परावलम्बन का अर्थ यही है कि यह प्रकृत धारा से टूटकर अलग हो गई है, सहज भावगम्यता का आदर्श खो बैठी है और अपनी भाव-सम्पत्ति को बौद्धिक आवरणों से आच्छादित कर दुरूह बन गई है।

कुछ समय पूर्व इस नई कविता के सम्बन्ध में चर्चा करने पर एक पक्षग्राही युवक ने कहा था कि इस कविता में बुद्धिरस की प्रमुखता माननी चाहिए। साहित्य के नवरसों के अतिरिक्त यदि कुछ लोग वात्सल्य, सख्य और माधुर्य आदि रसों की कल्पना कर सकते हैं तो बुद्धिरस को स्वीकृति क्यों नहीं दी जा सकती? प्रश्नकर्त्ता को इतना तो ज्ञात ही था कि काव्य की प्रक्रिया भावमूलक ही होती है। प्रतिभाशाली कवि आवश्यक बौद्धिक और दार्शनिक तथ्यों का अपनी भावमयी रचना में समाहार किया करते हैं। शायद ही कोई कृति हो जिसमें बौद्धिक चेतना का प्रवेश नहीं हो पाया। अतिशय भावना अथवा कल्पनावादी भी यह मानते हैं कि सहज वृत्तियों का उदात्तीकरण मानव-संस्कृति के विकास के साथ-साथ होता है। कोई राष्ट्र या जाति अपनी मूल या आदिम वृत्तियों को संजोये बैठी नहीं रहती। कविता में जातीय जीवन का बौद्धिक विकास भी प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु बुद्धिरस तो एक अनोखा पदार्थ है। काव्य के इतिहास में यह शब्द इसके पूर्व कदाचित् कभी नहीं आया। यहाँ इसका निषेध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस पर गम्भीरतापूर्वक आस्था रखने वालों की संख्या नगण्य है।

तथाकथित नई कविता में इसी बुद्धिरस का बाहुल्य है, इसीलिए कविता की यह नई धारा साहित्यिकों के लिए अटपटी और अग्राह्य बनी हुई है। काव्य में साधारणीकरण के प्रश्न पर मत देते हुए श्री अज्ञेय एक स्थान पर कहते हैं, **"उसे (कवि को) अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है। इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके; साधारणीकरण को उसने छोड़ नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़कर नहीं।" इस अभिमत में लेखक भाव और भाषा दोनों ही क्षेत्रों में एक सार्वजनिक अग्राह्यता की आशंका करता है। लेखक की समझ में कवि के भाव और उसकी भाषा सहज प्रेष्य या सार्वजनीन नहीं हो रहे। वह उन्हें क्रमशः प्रेष्य और बोधगम्य बनाने की आशा रखता है। उसका यह भी संकेत है कि नई पीढ़ियों के कवि नई भाव-चेतना का आविर्भाव करते हैं और इस निमित्त नई भाषा का माध्यम ग्रहण करते हैं। इस समस्त निरूपण में यह कहीं नहीं कहा गया कि काव्य या साहित्य में यह नवीनता अपना लक्ष्य आप ही है या इसकी कोई वस्तुमुखी या सामाजिक स्थिति या सत्ता भी है। युगचेतना के निर्माता कवियों को इतनी लम्बी सफाई नहीं देनी पड़ती। समाज के सामने उनका अदम्य काव्य रहता है, उनकी अक्षुण्ण अनुभूति रहती है और उनकी मर्मस्पर्शिनी अभिनव भाषा रहती है। इन त्रिविध सम्पत्तियों से सम्पन्न कवि को साधारणीकरण की हिचकिचाहट-भरी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

नई कही जाने वाली इस कविता की भाव-सम्पत्ति पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए। वह कौनसी नवीनता है जिसके साधारणीकरण में इतना संदेह और अविश्वास है? निश्चय ही साधारणीकरण में विलम्ब या असामर्थ्य वे ही कृतियाँ उत्पन्न करती हैं जिनकी भावधारा असामाजिक है, लोकरुचि अथवा लोक की आशा-आकांक्षा के प्रतिकूल है, इतनी निजी या वैयक्तिक है कि समाज उसकी उपेक्षा करता है अथवा ऐसी उलझी हुई और रहस्यमय है कि उस तक पाठक की पहुँच नहीं हो पाती। नई काव्य-उपज का अनुशीलन करने पर इनमें से एक या अनेक विशेषताएँ अवश्य दिखाई दे जाती हैं। अनेक रचनाएँ क्षणिक विनोद अथवा भोंडे व्यंग्य की सृष्टि के आगे नहीं जातीं। उन पर किसी प्रकार की सम्मति देना साहित्यिक कार्य नहीं है। आगे बढ़ने पर ऐसी रचनाओं से साबका पड़ता है जिनमें अर्थ-परम्परा टूट-टूट जाती है और पूरी रचना पढ़ लेने पर किसी भावान्विति का बोध नहीं होता। ऐसी रचनाएँ अन्तर्मन से अधिक सम्बन्ध रखती हैं, अतएव जब तक पाठक का अन्तर्मन और उसकी प्रज्ञा उसी साँचे में नहीं ढल जाती, जिसमें रचयिता की ढली है, तब तक वह रचना उसकी समझ के बाहर ही रहेगी। स्थिति यह नहीं है कि कवि अपने भाव-बाहुल्य में इतना प्रगल्भ है कि पाठक को उसकी सम्पूर्ण अभिज्ञता कुछ विलम्ब से होती है, बल्कि वहाँ तो भावधारा की विरलता ही आड़े आती है। वहाँ भावना अन्तर्मन की उसांस-भर है। इस प्रकार की रचनाएँ पश्चिम से हिन्दी में आ रही हैं। इनमें अन्तश्चेतन की प्रतिक्रिया बिना किसी प्रकार का चेतन सूत्र पकड़े व्यक्त होती है। ये रचनाएँ सामाजिक और व्यावहारिक तथ्यों से नितान्त असंपृक्त रहती हैं और कवि के निगूढ़ मन की छाया प्रतिभासित करती हैं। ऐसी कविताएँ हिन्दी में किसी नैसर्गिक प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं कही जा सकतीं। यह निहायत विदेशी कलम है और हिन्दी के लिए बहुत-कुछ बेमानी है। तीसरे प्रकार की कुछ रचनाएँ कवि को समाज अथवा राज्य द्वारा संत्रस्त होने की सूचना देती हैं। सामाजिक व्यवस्था और राष्ट्रीय दायित्व का इन रचनाओं में व्यंग्य हुआ करता है। युग-जीवन के प्रति विरक्ति इन रचनाओं का प्रधान स्वर है। प्रतिक्रिया में कुछ कवि समाज और राज्य को घोर अपराधी ठहराकर अपने लिए अथवा अपने जैसे अन्यों के लिए हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की छूट चाहते हैं—नैतिक, वैचारिक और क्रिया-सम्बन्धी। एक कृत्रिम विषाद की आड़ में यह छूट माँगी जाती है। जिस प्रकार वह विषाद निजी और अयथास्थान है उसी प्रकार यह छूट भी अनधिकृत है। कहते हैं कि ऐसी रचनाओं में मध्यवर्ग और विशेषतः उसके बुद्धिजीवी अंश का अवसाद और किंकर्त्तव्यता चित्रित हुई है। किन्तु किसी भी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक स्तर पर इन रचनाओं का समाधान नहीं किया जाता।

और भी रंगतें इस नई कविता में हैं, परन्तु जिस मूल वस्तु की उपेक्षा और अवहेलना सर्वत्र की गई है वह है जीवन सम्बन्धी रचनात्मक दृष्टि, कर्मण्यता और क्रियाशीलता। वैयक्तिक या वर्गगत प्रतिक्रियाओं में भी वास्तविकता होती है या हो सकती है, पर उस वास्तविकता का अवलम्ब लेकर राष्ट्रीय स्तर का काव्य उत्पन्न नहीं होता। नई कविता व्यक्ति और वर्ग की प्रतिनिधि होती जा रही है। सामूहिकता और सार्वजनीनता उसके उपादान नहीं रह गए हैं। यहाँ हमें अज्ञेयजी के साधारणीकरण वाले अभिमत की ओर फिर से दृष्टि-निक्षेप करना पड़ता है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। साधारणीकरण के मूल में सामाजिक और सामूहिक संवेदना ही होती है। लम्बी-चौड़ी भूल-भुलैया में भटकने के बाद अन्त में इस तथ्य पर आना ही पड़ेगा कि काव्य की सार्थकता वैयक्तिक सुख-दुःख की भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिक सुख-दुःख की भूमि में पहुँचने में है। यह प्रश्न अन्ततः कवि के व्यक्तित्व का है। वह अपने निजी परिवेश और प्रवृत्तियों से परिचालित होकर अपने व्यक्तित्व को सीमित कर बैठा है, अथवा परिवेश से ऊपर उठकर राष्ट्रीय और मानवीय धरातल पर आ सका है। व्यक्तित्व की इस आत्मसीमित परिधि का अतिक्रमण करने पर ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि सम्भव है और श्रेष्ठ काव्य की प्रकृति कभी अवसादमूलक नहीं हो सकती।

पिछले कुछ समय से नई कविता के समर्थन में एक नया तर्क दिया जाने लगा है; वह यह कि नवीन कविता वादों के आग्रह को छोड़कर मानवीय स्तर पर आ रही है। कुछ समर्थकों ने इसे काव्य में नये मानवतावाद का नाम दिया है। यह तथ्य की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक है। पाश्चात्य साहित्य में मानवतावाद और मानववाद के अर्थ को द्योतन करने वाले दो शब्द प्रचलित हैं। मानववाद का पर्याय ह्यूमेनीटेरियनिज़्म है और ह्यूमीनिज़्म को मानववाद कहते हैं। मानववाद के अन्तर्गत शेक्सपियर, मॉनटेन, इब्सन आदि परिगणित होते हैं, जिन्होंने मनुष्य की सम्पूर्ण वृत्तियों का—उसकी सम्पूर्ण शक्ति और दुर्बलता का—निस्संग चित्रण किया है। मानवतावादी लेखक अधिक भावुक और आदर्श-प्रेमी होते हैं। टाल्सटाय को मानवतावादी लेखक कहा जाता है, क्योंकि उसने अपनी अपार सहानुभूति से पददलित मानव की अशेष निहित शक्तियों और सम्भावनाओं का आलेख किया है। प्रश्न यह है कि प्रयोगवादी काव्य में मानववादी अथवा मानवतावादी दृष्टिकोण कहाँ है और किस प्रकार है? क्या इन रचनाओं में मनुष्य के सुख-दुःख की, उसके मिलन-वियोग, हर्ष-विषाद की सन्तुलित धारणा है या वह एकांगी रूप से व्यवित और वर्ग की सीमित आकांक्षाओं और स्थितियों का विज्ञापन है? अब तक जो अधिकांश रचनाएँ हम पढ़ सके हैं, उनमें हमें यह सन्तुलित मानववाद कहीं नहीं दीखता। उसके बदले झूठी विभीषिका में पड़े हुए रोते और कराहते हुए बाबुओं की क्षुद्र अभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाषाएँ, क्षुद्र चिन्तनाएँ अधिक परिलक्षित होती हैं, अथवा फिर ऐकान्तिक इच्छापूर्तियों और तृष्णाओं का बाहुल्य है। क्या यही मानवतावाद की झाँकी है, यही टाल्सटॉय की प्रतिच्छवि है? हम देखते हैं कि ये लेखक टाल्सटॉय के जीवन-दर्शन से भिन्न—बहुत भिन्न—जीवन-दर्शन के हिमायती हैं। अभी-अभी एक कविता-संग्रह की भूमिका में हमने पढ़ा कि नये लेखक और नये कवि 'क्षण' के महत्त्व को सर्वोपरि मानते हैं। हम नहीं कह सकते कि यह वक्तव्य नई कविता को देखते हुए कहाँ तक ठीक है। यदि इसका अर्थ यह है कि क्षण के अतिरिक्त और कुछ भी सत या सार्थक नहीं है, अतएव आये हुए क्षण का सम्पूर्ण सुखात्मक उपभोग कर लेना है, तो इस क्षणवाद को मानवतावाद का नितान्त विरोधी और विपरीत दर्शन मानना पड़ेगा। मानवतावाद त्याग और आस्था की भूमि पर संस्थित है, क्षणवाद के ठहरने की व्यक्तिगत विलास की भूमि है।

नई कविता के वादरहित स्वरूप पर बल देते हुए एक अन्य समीक्षक ने एक दूसरे अनोखे तर्क का सहारा लिया है। वे कहते हैं कि हिन्दी के पिछले काव्य-युगों में नायक के आधार पर काव्य के लक्ष्य-विशेष की सूचना मिलती थी और वे नायक एक विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों वाले व्यक्तित्व को प्रतिफलित करते थे। उदाहरण के लिए छायावादी काव्य में नायक की रूपरेखा एक विशेष प्रकार की होती थी, जिससे इस काव्य की प्रवृत्ति या भाव-दिशा का परिचय मिलता था। 'कामायनी' के मनु अथवा निराला के 'तुलसीदास' ऐसे ही व्यक्तित्व हैं। इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य के नायक भी अपनी विशिष्टता लेकर आये हैं। इस प्रकार की किसी एकदेशीय विशेषता का आग्रह नई कविता के नायक नहीं करते। यह भी कहा गया है कि नायक का अस्तित्व ही नई कविता से विलीन होता जा रहा है। पता नहीं इस कथन के पक्ष में कौनसे प्रमाण हैं। देखा यह जाता है कि नई कविता में या तो कवि का अहम्-प्रमुख व्यक्तित्व ही व्यंजित होता है अथवा फिर ऐसे व्यक्तित्व और वातावरण की सृष्टि की जाती है जिसमें नायक और उसकी परिस्थितियाँ अन्धकारमयी दिखाई पड़ें। श्री धर्मवीर भारती का नया नाटक 'अन्धा युग', जो कई दृष्टियों से एक सफल कृति है, इसी अनास्था को अभिव्यक्त करता है। तीसरे प्रकार की कृतियाँ वे हैं जो किसी भाव-दृष्टि या चरित्र-रेखा का निर्माण करती ही नहीं। ऐसी रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से असफल ही कही जायँगी, क्योंकि उनमें किसी प्रकार की स्पष्ट ग्राहकता आती ही नहीं। हम नहीं कह सकते कि समीक्षक ने किन नवीन कृतियों का आधार लेकर नायकहीनता अथवा निस्संगता की बात कही है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि नायकहीनता से काव्य के मानवीय दृष्टिकोण का बोध कैसे और किस प्रकार होता है? अधिक सम्भव है कि कविता की निःशक्तता ही नायकहीनता का हेतु हो। जिसे कुछ कहना है वह किसी-न-किसी चरित्र को आधार बनाकर चलेगा ही।

वर्तमान समय में साहित्यिक और काव्यात्मक मूल्यों की अभिज्ञता घटती चली जा रही है। जिन युगों में उत्तम साहित्य की सृष्टि नहीं होती, कदाचित् उन्हीं युगों में साहित्यिक मूल्य भी अज्ञेय रहा करते हैं। पश्चिम की चटकीली पुस्तकों और चंचल प्रतिमानों ने हमारे बीच अव्यवस्था उत्पन्न करने में और भी सहायता दी है। वहाँ अनेक नामों के साथ अनेक प्रसिद्धियाँ लगी हुई हैं। अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणों की अनेकविध प्रशंसा की गई है। किन्तु समाहित रूप में साहित्यिक आकलन की कमी वहाँ भी दूर नहीं हुई। नये-नये वादों के स्रष्टा और संचालक अपने सम्प्रदायों में पूजित हैं। किन्तु सम्पूर्ण साहित्य-जगत् सम्प्रदायों की चर्चा से अनुशासित नहीं हो सकता। सार्वजनिक मूल्यों और मानों का निरूपण और स्थिरीकरण होना ही चाहिए। किसी एक विशेषता या आविष्कार को लेकर चाहे जितनी दुहाई दी जाय, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भूमिका पर उसकी परख भी करनी होगी। सम्भव है नई कविता की बहुत सी उपलब्धियाँ अनुल्लिखित और अनङ्कित रह गई हों। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि नई कविता की विवेचना बहुत अधिक अतिरंजित भी होती जा रही है। पश्चिम में जिस प्रकार विविध साहित्यिक सम्प्रदायों के बीच आत्म-विज्ञापन की प्रथा है उसकी आवृत्ति हम हिन्दी के क्षेत्र में भी कर रहे हैं। किन्तु पश्चिम में राष्ट्रीय भूमिका पर समग्र विवेचन की जो प्रणाली अपनाई गई है उसे हम अब तक नहीं अपना सके। समय बदलता है, समय के साथ स्थितियाँ और रुचियाँ बदलती हैं; साहित्य की पद्धति बदलती है, परन्तु इस अनवरत परिवर्तन में साहित्य के मूलभूत उपादानों और उपकरणों को भुला देना बुद्धिमानी नहीं है। साहित्यिक समीक्षा की सार्थकता इस बात में है कि वह स्थिति और गति, व्ययशील और अव्यय, के चिरकालीन वैषम्यों में अपने को खो नहीं देती, बल्कि निश्चिन्त और निर्विकल्प रूप में अपने-आपको निरन्तर प्राप्त करती रहती है।

ऊपर के संक्षिप्त वक्तव्य से हिन्दी की नई शैली की रचना का जो रूप हमारे सामने आता है, उससे हम इसके भविष्य पर कुछ भी कह सकने की स्थिति में नहीं हैं। हम यह मानते हैं कि छायावाद की काव्यधारा अपने ऐतिहासिक उन्मेष में जो मूल्यवान भेंट साहित्य को दे गई है, उसके पश्चात् नये काव्य की सुस्पष्ट रूपरेखा बनने में समय लगेगा। हम यह नहीं कहना चाहते कि हिन्दी में उस पुरानी शैली की आवृत्ति ही होती रहे। नवीनता काव्य का प्राथमिक उपादान है और पिष्टपेषण उसका अन्तिम अभिशाप। छायावाद की शिष्ट और अलंकृत पदावली तथा उसकी विमोहक कल्पना-छवियों की प्रतिक्रिया होनी ही थी; परन्तु कोई भी प्रतिक्रिया अपने-आप में साहित्यिक मूल्य नहीं रखती। हमें नवीन निर्माण, नये शिल्प, नई वस्तु-योजना और नई समयोचित जीवन-दृष्टि की भी चाह है। इन तत्त्वों के समन्वित योग से जो नई काव्य-प्रतिमा बनेगी उसका स्वागत भी सभी सुधी जन करेंगे। अतिशय भावात्मकता के स्थान पर अतिशय बौद्धिकता स्वभावतः उसका स्थानापन्न बनना चाहती है; संगीत के मोहक स्वरों के पश्चात् कर्कशता का भी एक आकर्षण हो सकता है; हिन्दी-काव्य की कल्पना-प्रवण आध्यात्मिकता के पश्चात् एक नये मांसल प्रकृतिवाद की पुकार भी अनहोनी नहीं है। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि महायुद्ध के पश्चात् हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ भी बड़े वेग से बदली हैं, विशेषकर बुद्धिजीवी वर्ग के जीवन में आपात-परिवर्तन आया है। किन्तु इस समस्त परिवर्तन और स्थित्यन्तर के बीच हम अपना सन्तुलन नहीं खो सकते। हिन्दी-कविता आज अपनी आरोपप्रियता और व्यंग्यमयता में उस सन्तुलन को खोती जा रही है, जो राष्ट्र की सबसे मूल्यवान धरोहर है। नये समय में लेखकों और कवियों का दायित्व बहुत बड़ा है, पर वे समझते हैं कि उन पर किसी ने कोई अप्रत्याशित विपत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढा दी है। वे अपने को समाज या राज्य से आहत मानते हैं। उनकी कविता का मुख्य स्वर पीड़ा का द्योतन करता है; इसी पीड़ा की अगली प्रतिक्रिया आत्मपीड़ा में परिणत होती है और तब कविता में शृंगारिक भावना की शारीरिकता ज़ोर पकड़ती है और कवियों को बहुत-कुछ आत्मजीवी और असामाजिक बना देती है। हिन्दी की नई कविता में यथार्थवाद के नाम पर इन्हीं भावनाओं और प्रवृत्तियों की प्रमुखता हो रही है। किन्तु भावना की ऐकान्तिक शून्यता में पग रखते हुए कवियों को विशाल सामाजिक जीवन और उसके घात-प्रतिघातों में मुँह नहीं मोड़ लेना है। नई कविता के उन्नायक यदि हिन्दी-काव्य की संघर्षशील राष्ट्रीय परम्परा को कुछ भी मूल्य या महत्त्व देते हों तो उन्हें अपने रचना-क्षणों में अधिक संयम, शालीनता और दायित्व का परिचय देना ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबंध

डॉ० भगीरथ मिश्र

साहित्यिक सौष्ठव और सामाजिक तत्त्व

साहित्य और समाज का अटूट और अगाध सम्बन्ध है। समाज की जीवन-धारा में साहित्य का कमलवत विकास होता है, समाज के तरु का परिणाम साहित्य का नवनीत है, समाज के शरीर का मुख साहित्य है। वह समाज की धरती पर उगने वाले जीवन का फूल है। समाज के सुख-दुःखों की गंगा-यमुना की धाराओं के संगम पर साहित्य त्रिवेणी और तीर्थराज है। साहित्य सुगन्ध है, साहित्य मधुरिमा है। वह रूप, सौन्दर्य और प्रगति के प्रभाव का साकार चित्र है। वह समाज की बुद्धि का परिणाम और अनुभव एवं अनुभूति का सार है। साहित्य समाज की चिरस्थायी सृष्टि है। व्यक्ति उत्पन्न होते और समाप्त होते हैं, पर साहित्य उत्पन्न होने पर चिरकाल तक स्थिर रहता है, वरन् यह कहा जा सकता है कि उच्च साहित्य तो अमर ही है। साहित्य इस प्रकार समाज की अमर सृष्टि है। उसमें चित्रित जीवन का रूप शाश्वत है। आज हमारे बीच राम, रावण, बुद्ध, ईसा, ईलियड, रुस्तम, दुष्यन्त, सीता, शकुन्तला आदि नहीं, परन्तु साहित्य के बीच वे आज भी जीवित हैं। इतना ही नहीं, जो समाज में कभी नहीं थे, वे भी साहित्य में उत्पन्न हुए और अमर हैं। इस प्रकार साहित्य, समाज की सृष्टि होता हुआ भी, अपने निजी समाज की सृष्टि करता है। अतः साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

समाज की धरती से उखड़ जाने पर या समाज से विछिन्न हो जाने पर साहित्य की स्थिति हवाई है। जब तक एक क्षीण डोरा भी समाज से साहित्य की पतंग को बाँधे रहता है, तब तक वह दूर-दूर तक उड़ता हुआ भी प्रगतिशील, व्यवस्थित एवं सुचालित है, परन्तु यह सामाजिक सूत्र कट जाने पर वह कटी पतंग के समान दिग्भ्रमित होकर व्यर्थ उड़ता है। समाज की प्रबुद्ध चेतना, जो साहित्यकार में निष्ठ रहती है, साहित्यिक सृजन की परिचालिका है, जिसके बिना न उसे समाज की धरती ही मिलती है और न कल्पना का आकाश ही।

साहित्य की सार्थकता तभी है जबकि वह जीवन के प्रति एक अटूट आस्था और प्रबल उत्साह भर दे। जीवन के विविध पक्षों का सौन्दर्य इतने प्रेरक रूप में वह हमारे सामने प्रस्तुत करे कि उसकी विकृतियों को हम दूर करके उसे सुघर बनाने की तत्परता प्राप्त करें। विकृतियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस रूप में और इस अनुपात में न आएँ कि उसके सौन्दर्य को ढक लें, रूप को बोझिल बना दें और हमारे मन में एक निराशा और निरुत्साह भर जाय। अगति और शिथिलता की सड़ाँद से हम ऐसे ओत-प्रोत हो जायँ कि विकृति के साथ समझौता कर लें। जहाँ साहित्य इस प्रकार की स्थिति में पड़ जाता है वहाँ उसमें असामाजिक तत्त्व प्रधान हो जाते हैं और सामाजिक तत्त्व शीर्ण हो जाते हैं। ऐसी दशा में न केवल साहित्य ह्रासोन्मुख होता है, वरन् समाज भी पतन को प्राप्त करता है।

साहित्यकार के तेजस्वी व्यक्तित्व का तेज साहित्य में सदैव ज्योतित रहना चाहिए। जहाँ पर साहित्यकार तेजस्वी न होकर स्वयं विकारग्रस्त और रुग्ण रूप में आता है, वहाँ हम उसके साथ सहानुभूति भले ही रखें परन्तु उससे कुछ प्रेरणा प्राप्त नहीं करते। ऐसा भी होता है कि उसके विकार का संक्रमण दूसरों पर भी हो जाय। अतः अत्यधिक रोना साहित्य में असामाजिक है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि यदि साहित्यकार की निजी अनुभूति दुःखमयी हो और परिस्थितियाँ भी विषाद और निराशा-ग्रस्त, ऐसी दशा में उसकी प्रतिभा उसके निजी अनुभवों को प्रकाशित करेगी, तो क्या ये समस्त दुःखात्मक अनुभव के प्रकाशन असामाजिक होंगे? इस प्रसंग में उत्तर यही दिया जा सकता है कि यह बात साहित्यकार की निजी प्रवृत्ति एवं सामाजिक भावना दोनों ही पर निर्भर करती है। साहित्य एक सामाजिक अर्थात् समाज के हेतु की गई सृष्टि है, अतः उसमें अपनी वैयक्तिक दुःखानुभूति को सामाजिक धरातल पर, सामाजिक सम्वेदना के रूप में प्रकट करना अधिक उत्कृष्ट है। इस प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदास और प्रेमचन्द का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों के समान दुःख और निराशापूर्ण परिस्थितियाँ और किसी की क्या होंगी या हो सकती हैं? फिर भी, इनके साहित्यों में सामाजिक तत्त्व इतने उदात्त और शुभ्र रूप में प्रतिफलित हुए हैं कि इनकी रचनाएँ हमारे लिए आदर्श का काम करती हैं।

दूसरी शंका यहाँ पर एक और यह उठ सकती है कि व्यक्ति समाज का अवयव है। व्यक्ति ही मिलकर समाज बनाते हैं, तब वैयक्तिक अनुभूतियों का, चाहे वे दुःखात्मक हों या सुखात्मक, साहित्य में प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है। अतः वैयक्तिक निराशा, समाज के भीतर निराशों के प्रति संवेदना जगाने वाली होती है और इस प्रकार सामाजिक संस्कार अधिक संवेदनापूर्ण बनते हैं, तब उनको साहित्य में क्यों स्थान न मिलना चाहिए? बात हमारे सामने यही है कि हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा तथा जीवन में प्रवेश करने का उत्साह यदि साहित्य से मिलता है, तो वह साहित्य का रूप अभिनन्दनीय है। यदि निराशा या दुःखों के चित्रण ऐसे हैं कि वे हमें पीड़ितों या दुःखितों के लिए कुछ करने और सोचने के लिए बाध्य करते हैं, तो वे सामाजिक उद्देश्य को ही सिद्ध करते हैं। परन्तु यदि वे हमें स्वयं ही निराश और अकर्मण्य बनाते हैं, तो वे वांछनीय नहीं हैं। यह प्रभाव साहित्यकार के दुःखानुभूति के चित्रण में व्याप्त दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। देखना हमें यही है कि निराशा और विकृति का चित्रण हमें उसे दूर करने की कोई प्रेरणा देता है या उसके साथ समझौता करके हमारे आत्म-विकास के स्थान पर आत्म-संकोच का प्रेरक बन बैठता है। यदि वह आत्म-विकास को प्रेरणा देता है, तो वह उदात्त है अन्यथा संकीर्ण।

इस प्रकार साहित्य की कसौटी प्रधानतया सामाजिक है। वैयक्तिक आनन्द को देता हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी साहित्य या काव्य का रूप सामाजिक होता है, क्योंकि वह एक साथ ही एक व्यक्ति को नहीं, वरन्, समाज के अनेक व्यक्तियों को उसी प्रकार की अनुभूति प्रदान करता है। सामाजिक अनुभूति और चेतना की पूर्णतया अवहेलना करके साहित्य सामान्यतया नहीं पनप पाता। केवल एक स्थिति इस प्रसंग में सम्भव है, जिसमें समाज पूर्णतया पतनोन्मुख और विकृत हो तथा साहित्यकार एक प्रबुद्ध चेतना का व्यक्ति। ऐसी दशा में वह समाज में व्याप्त भावना के विपरीत उदात्त चेतना का प्रवर्तन करता है और समाज की भर्त्सना के कशा-प्रहार से विकार, आडम्बर और प्रमाद को निकालकर स्फूर्ति एवं उदात्त चेतना प्रदान करता है। कबीर आदि का कार्य इसी प्रकार का है।

साहित्य-सृजन की प्रेरणा भी सामाजिक भावना के अनुकूल होती है, प्रतिकूल नहीं। अधिकतर विद्वानों द्वारा सृजनात्मक प्रेरणा के जो कारण माने गए हैं वे हैं, अभाव आत्म-प्रकाशन, सौन्दर्य-प्रेम, कामना-पूर्ति और आनन्द। यदि हम विचारकर देखें तो इनमें भी सामाजिक सम्बन्ध देखा जा सकता है। साथ ही साहित्यकार जब इनमें से किसी तथ्य से प्रेरित होकर लिखता है, तब वह समाज की भावना का प्रतिनिधित्व भी करता है। अभाव की दशा में वह अपनी अथवा समाज की स्थिति में किन्हीं बातों का अभाव देखता है जो उसकी कल्पना में स्थित आदर्श समाज के भीतर होनी चाहिए। अतएव वह अपनी प्रतिभा द्वारा साहित्यिक सृष्टि करता है, जिसमें उस अभाव की पूर्ति है। इसका एक पक्ष तो वैयक्तिक संतोष है, परन्तु दूसरा पक्ष सामाजिक है। उस अभाव को समाज के बहुत से लोग अनुभव करते हैं, अतः उसकी इस काल्पनिक पूर्ति में उन्हें भी संतोष मिलता है, यह सामाजिक मनोविज्ञान की बात है। पूर्ति न भी करे तब भी अभाव का यथार्थ चित्र साहित्य में आने पर, उसे पूर्ण करने की एक प्रबल भावना हमारे हृदयों में जगती है और यदि कवि या साहित्यकार ने उस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन कर दिया, तो हम अपने बीच उस आदर्श को उतारने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

आत्म-प्रकाशन या आत्माभिव्यक्ति, साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा मानी गई है। साहित्यकार का आत्म, लोकमानस में प्रतिष्ठा प्राप्त होता है। उसकी आत्माभिव्यक्ति जैसे समाज के अनेक व्यक्तियों की निजी आत्माभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' या मीरा की पदावली, आत्माभिव्यक्ति होते हुए भी अनेक व्यक्तियों के मन को भाती है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या विकारपूर्ण आत्माभिव्यक्ति का भी लोकानुभव इसी प्रकार विकारी हृदयों में नहीं होगा ? मैं कहता हूँ कि अवश्य होगा। साहित्य एक प्रबल और संक्रामक अभिव्यक्ति है और उसका गहरा सामाजिक प्रभाव है, अतः साहित्यकार को यही बात ध्यान में रखते हुए विकृत भावनाओं को ऐसा प्रकाशन न देना चाहिए कि समाज उन्हें अपनाने लगे। विकार का विकार रूप में ही चित्रण करना चाहिए।

सौन्दर्य-प्रेम साहित्यकार की उज्ज्वल प्रेरणा है और इसका बहुत बड़ा सामाजिक महत्त्व है। रूप-गुण के सौन्दर्य के प्रति साहित्यकार सबसे अधिक संवेदनशील होता है। अतः वह इनके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रभावों को चित्रित करने में आनन्द का अनुभव करता है। साहित्य के भीतर आकर ये रूप-गुण के चित्र स्थायी हो जाते हैं और समाज के सौन्दर्य-बोध को प्रकृष्ट करते हैं। यद्यपि उसके द्वारा गृहीत प्रभाव व्यक्ति-सौन्दर्य के होते हैं, पर वे साहित्य में निर्वैय-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्तिकता धारण करके प्रायः आते हैं, अतः सर्वसंवेद्य हैं। राधा-कृष्ण और सीता-राम के सौन्दर्य-चित्रण में कवियों ने न जाने कितने व्यक्ति-सौन्दर्यों की सामग्री ग्रहण की होगी। रीति-युगीन राधा के चित्रण भी इसी प्रकार के हैं। अतः साहित्य में उतरकर सौन्दर्य चिरस्थायी हो जाता है और हमारी सामाजिक सौन्दर्य-भावना का विकास भी करता है। हाँ, यह अवश्य है कि सौन्दर्य की धाराओं को अति रूढ़ न होने देना चाहिए, उन्हें गतिशील बनायें रखना चाहिए। इसके लिए सहज रूप और गुणों पर कवि या साहित्यकार को विशेष ध्यान देना अपेक्षित है।

कामना-पूर्ति तो सामाजिक पृष्ठभूमि की स्पष्ट अपेक्षा रखती है। प्रमुखतया यश और अर्थ की कामनाएँ साहित्य-सृजन द्वारा पूर्ण की जाती हैं। यश-प्राप्ति के लिए तो निश्चय ही ऐसे साहित्य की रचना होनी चाहिए जिसका आदर समाज में हो सके। अर्थ की प्राप्ति के लिए अर्थदाता की इच्छा का ध्यान प्रायः रखा जाता है। अतः वैयक्तिक रुचि के साथ अन्यों की रुचि और सामाजिक रुचि का सम्बन्ध साहित्य से जुड़ जाता है।

आनन्द जिस रचना का प्रेरक है वह निश्चय ही अनुभूति और कल्पना के उस स्तर पर है जिस पर साधारणीकरण होता है, अर्थात् उस रचना से एक साथ बहुत से व्यक्ति आनन्दात्मक अनुभव प्राप्त करते हैं। अतः यह वैयक्तिक आनन्द लोकमानस के स्तर पर होता है। कवि लोकानुभूति का प्रतिनिधित्व करता है। इस आनन्दानुभूति का एक रूप सामान्य लोकानुभूति से उच्चतर स्थिति का है, फिर भी संवेदनात्मक होने के कारण वह निम्नस्तर से भी ग्राह्य हो सकती है। यह आनन्द की स्थिति कुछ अस्पष्ट हो सकती है। साहित्यकार अपनी कल्पना में दूर चला जाता है, अतः यह अस्पष्टता स्वाभाविक है, परन्तु उसके लिए सामाजिक भूमि छोड़ना अपेक्षित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रकट है कि साहित्य-सृजन की कोई भी प्रेरणा सामाजिक संवेदना के विरुद्ध नहीं है और इनके द्वारा उत्पन्न साहित्यिक रचनाएँ उदात्त सामाजिक तत्त्वों को अंगीकृत करने के लिए पूर्ण स्वच्छन्द हैं। अब हमें विचार यह करना है कि कौनसे सामाजिक तत्त्व ऐसे हैं जो साहित्यिक उत्थान को प्रेरित करते हैं या उसमें सहायक होते हैं, या जिन तत्त्वों को प्राप्त करने पर साहित्य उत्थान के मार्ग पर अग्रसर होता रहता है।

साहित्यिक उत्थान से हमारा तात्पर्य किसी भी प्रकार के साहित्य का प्रचुर मात्रा में निर्माण नहीं है, वरन् साहित्यिक उत्थान का तात्पर्य उच्च और उदात्त कोटि के साहित्य की रचना है। इसे हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इसका तात्पर्य शाश्वत् या चिरस्थायी साहित्य की रचना है। साहित्य की रचना के दो पक्ष होते हैं—एक तो वर्ण्य विषय और दूसरा अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति की कुशलता के कारण कभी-अभी वर्ण्य विषय अधिक उदात्त न हो, तब भी साहित्यिक कृति चिरस्थायी हो जाती है। परन्तु उदात्त का तात्पर्य केवल यही नहीं है कि उसमें उपदेशात्मकता या शिक्षा हो, अन्य प्रकार से भी हम उदात्त या उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं। अतः साहित्यिक उत्थान के लिए उदात्त सामाजिक तत्त्वों का समावेश होना आवश्यक है। जिन सामाजिक तत्त्वों के समावेश से साहित्य का उत्थान होता है, उनका हम यहाँ विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सबसे पहला तत्त्व है सत्य। सत्य का ग्रहण सामाजिक संघटन के लिए महत्त्वपूर्ण है। अतः सत्य का उद्घाटन साहित्य का दायित्व है। इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज में सत्य का क्या स्थान है एवं सामूहिक सभी प्रयत्न सत्य को ढूँढ़ने और उसे प्रगट करने के लिए हुए हैं। धर्म और दर्शन के उच्च व्याख्याताओं ने अपने विचारों में सत्य का ही उद्‌घाटन और प्रचार किया। सत्य की खोज में विज्ञान भी दिन-रात संलग्न है, परन्तु इन सबके द्वारा प्रकट किये हुए सत्य में कहीं-कहीं मतवैषम्य भी मिलता है, साथ ही उसका ग्रहण बुद्धि द्वारा होता है। साहित्य सत्य को अपने समस्त सौन्दर्य के साथ ग्रहण कर उसे प्रकट करना चाहता है। यह सत्य सिद्धान्त, नियम, नैतिकता, धर्म, अधर्म, घटना, चरित्र आदि किसी भी रूप में हो सकता है। साहित्यकार सत्य का सजीव रूप में साक्षात्कार करता है और उसे हमें कल्पना और अनुभूति द्वारा ग्रहण कराता है। इस प्रकार सत्य का जितना ही पूर्ण और व्यापक उद्‌घाटन साहित्य द्वारा हो सके उतना ही वह साहित्य उत्कृष्ट है। तुलसीदास की चौपाई, **परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥ नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरिसम होहिं कि कोटिक गुंजा॥** सत्य तत्त्व का प्रकाशन करने वाली है।

दूसरा तत्त्व है मानवता। साहित्य सत्य के उद्‌घाटन द्वारा हमें उदार और संवेदनशील बनाता है। साहित्य के लिए मानव-मानव का भेदभाव नहीं। उसकी मानव-भावना मानव-मात्र को एकरूप में समझती है। कहीं का कोई प्राणी साहित्य में चित्रित हो, हम उसके सुख में सुःखी और दुःख में दुःखी होते हैं। देश, काल और समाज के बन्धन साहित्य की मानवता के विकास में बाधक नहीं हैं। साहित्यकार की मानवता विश्वबन्धुत्व का सन्देश देती है। उसके लिए समस्त वसुधा मानव-कुटुम्ब है। इतना ही नहीं, साहित्यकार और कवि का समाज तो मानवेतर प्राणियों तक को अपनी परिधि में समेट लेता है। देवता, स्वर्गलोक के निवासी उसके समाज के हैं। पशु, पक्षी, वृक्ष सब उसके सगे हैं। जड़-चेतन का भेद साहित्य के संसार में नहीं है। वह पक्षियों को वाणी-सम्पन्न और पशुओं को करुणार्द्र चित्रित करता है। यह सब असत्य नहीं, व्यापक सत्य है। शकुन्तला के आश्रम के मृग, जायसी का हीरामन सुआ और पक्षी, तुलसी के वानर और रीछ, सूर की गौएँ और गोपाल, जमुना और बंसीवट, सब अनुभूति-संकुल हैं। इतना ही नहीं, आधुनिक कवि भी इस संवेदना को असत्य समझता हो, सो बात नहीं। साकेत में गुप्तजी ने लिखा ही है—

टप-टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा में,
झड़-झड़ पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा में।
कर पटक रही थी निम्नगा पीट छाती।
सन-सन करके थी शून्य की साँस आती॥

इसी व्यापक मानव-संवेदना ने ईश्वर के अन्तर्यामी रूप को पहचाना और प्रतिष्ठित किया। आप इस ईश्वर को मानवता, मानव-चेतना, सामाजिक चेतना जो चाहिए कहिए। वह सभी में व्याप्त है जिसे कबीर कहते हैं—

सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।
भाग उन्हीं का है सखी, जिन घट परगट होय॥

और तुलसीदास जी कहते हैं—

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।
बंदउ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भावना मानवता के तत्त्व का ही चरम विकास है। इसमें व्यक्ति समाजमय है। यहाँ व्यष्टि-समष्टि का भेद समाप्त हो जाता है। साहित्य का यही प्रतिपाद्य है। इसे प्रकट कर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। यह मानवता और विश्वबन्धुत्व का भाव साहित्य में हृदय को हृदय से जोड़ता है। यह भाव हमारे हृदय का विस्तार है।

साहित्य के उत्थान का तीसरा तत्त्व है निर्मल चरित्रों का चित्रण। साहित्य का सामाजिक पक्ष प्रबन्ध-काव्यों में ही निखरता है, जिनमें कथानक द्वारा कुछ चरित्रों का स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है। यह एक साहित्य का संसार है। साहित्यकार को प्रेरणा देने वाले निर्मल चरित्र रोचक अथवा प्रभावशाली व्यक्तित्व होते हैं। चरित्र-चित्रण के प्रसंग में आदर्श और यथार्थ का प्रसंग उठाना अनावश्यक है। बड़े-से-बड़ा साहित्यकार यथार्थ की पृष्ठभूमि में ही किसी आदर्श चरित्र का उद्‌घाटन करता है। ऐसा आदर्शवाद वांछनीय नहीं, जो यथार्थ की अवहेलना करे या उसकी हत्या ही कर दे। लोकानुभव यह भी है कि सज्जनों के सत्कार्य का सुपरिणाम भी मिलता है, और यह भी है कि सज्जनता के दुष्परिणाम प्राप्त होते हैं। सत्य और यथार्थ यही है कि इस प्रकार के परिणाम वास्तविक एवं स्वाभाविक पृष्ठभूमियों पर दिखाए जायँ। प्रेमचन्द का 'गोदान' यथार्थवादी उपन्यास है, परन्तु उसका पात्र होरी एक आदर्श चरित्र है जो कर्तव्य और सत्यता तथा मर्यादा पर अपना सब-कुछ स्वाहा कर देता है। समाज में उसे अपने पुण्य का फल नहीं मिला। पर ऐसे चरित्र हमारे हृदय में घर कर जाते हैं, वह अपने निर्मल चरित्र के कारण ही तो। यह निर्मल या उदार चरित्र एक क्षेत्रीय भूमि पर है। देशव्यापी या विश्व-व्यापी भूमि पर जो चरित्र अपने सद्‌गुणों को प्रकट करता है, वह निश्चय ही राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि के समान होता है। अतः हमें देखना यह है कि जिस चरित्र का चित्रण हुआ है, वह सच्ची वास्तविक भूमि पर कितना विकसित हुआ है। यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं माना जा सकता कि दुष्टों, दुर्जनों, छलियों और कपटी लोगों का ही चित्रण किया जाय, क्योंकि समाज में सज्जन व्यक्ति भी बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं और यह भी जीवन का वास्तविक यथार्थ है।

चरित्र-चित्रण में उदात्त गुणों का उद्‌घाटन सामाजिक उत्थान का प्रेरक होता है। उससे हमारे मन में उच्चता, चरित्र में दृढ़ता और हृदय में उत्साह प्राप्त होता है। अतः सामाजिक हित के लिए त्यागी, उदार, तेजस्वी, अन्याय का विरोध करने वाले तथा जिनमें समाज के नेतृत्व के गुण हों, ऐसे व्यक्तियों के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला जाना चाहिए। उनके सभी कार्यों का पुरस्कार ही मिले यह उचित नहीं। आपत्ति, कठिनाई, विरोध, सभी उनके जीवन में आने चाहिए। इस प्रकार के चित्रणों से साहित्य उत्कृष्ट होता है और उच्च गुणों की समाज में प्रतिष्ठा होती है। ऐसे चरित्रों के साथ दुष्ट, कपटी, क्रूर पात्रों का भी चित्रण होना आवश्यक है। महाकाव्य में नायक के चरित्र को उदात्त गुणों से ओत-प्रोत माना गया है। उसके सामाजिक सत् प्रभाव की प्रतिष्ठा के हेतु **'क्वचिन्निन्दा खलादीनां, सतां च गुण कीर्तनम्'** अर्थात् दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा का भी विधान है। परन्तु यह सब चित्रण विश्वसनीय और स्वाभाविक होना चाहिए, भोंडा और हास्यास्पद नहीं। यह दूसरा पक्ष कला से सम्बन्ध रखता है।

सत्य के प्रसंग में ही यह कहा जा चुका है कि साहित्य सत्य को अपने समग्र रूप में प्रस्तुत करता है, वरन् उसके सुन्दर रूप का उद्‌घाटन करता है। सौन्दर्य का चित्रण ही साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को इतना मोहक और रमणीय बनाता है। अतः साहित्यकार जीवन के विशाल अगाध खारे समुद्र से हाहाकार, गर्जन-तर्जन के बीच भी रत्नों को प्रकाशित करता है। यह सौन्दर्य-चित्रण रूप का भी होता है और गुण का भी। साहित्य ने जो रूप और सौन्दर्य की सृष्टि की है, आज हम और हमारा समाज उसी से सौन्दर्यवान् हैं। साहित्य का सौन्दर्य तिहरा है—रूप का सौन्दर्य, गुण का सौन्दर्य और अभिव्यक्ति का सौन्दर्य। रूपात्मक सौन्दर्य-सृष्टि हमारे हृदय को कोमल और सुकुमार बनाती है तथा रूप को हम कोमलता एवं मृदुता के साथ देखने का संस्कार प्राप्त करते हैं। उसके प्रति कोमलता का भाव हमारे हृदय में जाग्रत होता है। सौन्दर्य की सहज प्रक्रिया यह है कि हम उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं और विकृत एवं नष्ट होने से बचाना चाहते हैं। यह हमारे हृदय को कोमल और दृष्टि को सूक्ष्म तथा कल्पना को प्रसन्न बनाता है। ये रूप-चित्र हमारे मन की धरोहर होते हैं। हम उन्हें संजोकर रखना चाहते है। पैर की ललाई और गति का गतिमय रूप-चित्र देखिए—

पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन द्युति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूलि॥

इसी प्रकार मतिराम का एक रूप-चित्र है—

कुन्दन को रंग फीको लगै, झलकै असि अंगन चारु गुराई।
आंखिन में अलसानि चितौनि में मन्जु विलासन की मधुराई।
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लखे अंखियान लुनाई।
ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकसै ह्वै निकाई॥

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। रूप का प्रभाव तो हमारे हृदय पर पड़ता ही है। गुण का सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य को पुष्ट करता है और हृदय पर प्रभाव डालता है। हम इस सौन्दर्य से युक्त व्यक्ति के प्रति स्नेह, प्रेम, सम्मान, श्रद्धा आदि के भावों से ओत-प्रोत हो जाते हैं और इस प्रकार हमारे सद्‌गुणों के संस्कार बनते हैं। अतः यह सौन्दर्य-चित्रण साहित्य का सामाजिक तत्त्व है, जिसका जितना ही विकास हो उतना ही अच्छा।

अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य वर्ण्य-विषय से नहीं, वरन् उसके प्रकाशन की कला से सम्बन्ध रखता है। साहित्य अभिव्यक्ति पर सबसे अधिक निर्भर है। अभिव्यक्ति ही तो साहित्य का असली रूप है। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य के बिना तो उत्तम-से-उत्तम विषय भी प्रभावहीन है। अभिव्यक्ति भी एक सामाजिक तत्त्व है। इसके द्वारा ही व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध है, व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध है। यदि अभिव्यक्ति नहीं, तो हम अपने सुन्दर-से-सुन्दर भाव से भी किसीको प्रभावित नहीं कर सकते। अभिव्यक्ति सौन्दर्य ही अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के रूप में प्रकट होता है। अभिव्यक्ति चाहे जितनी सुन्दर और उत्कृष्ट हो, है साधन ही। अभिव्यक्ति को ही साध्य समझ लेने से साहित्य का उत्थान रुक जाता है। जब वह साधन है, तब उत्कृष्टता और सौन्दर्य के साथ पर-संवेद्यता का गुण भी उसमें होना चाहिए, अर्थात् दूसरे व्यक्ति उसमें कही हुई बात को भली भाँति सम्पूर्ण प्रभाव के साथ ग्रहण कर सकें यह आवश्यक है। इस प्रकार सरलता और सुगमता उसका प्रधान गुण है। गोस्वामी तुलसीदास के काव्य का आदर्श प्रकट करने वाली पंक्तियाँ इसी प्रकार की मान्यता प्रकट करती हैं। वे कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरल कवित कीरति विमल, सुनि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करैं बखान॥

इस प्रकार सरलता, अभिव्यक्ति की विशेषता और विमल कीर्ति वर्ण्य-विषय की विशेषता तुलसीदास के आदर्श के अनुसार ठहरती हैं। लोकहित तो समस्त साहित्यिक कृतियों का उद्देश्य होना ही चाहिए। यह गोस्वामीजी का निश्चित मत है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

साहित्य रमणीय वाङ्मय है। कालिदास की उक्ति 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव-रूपं रमणीयतायाः' के अनुसार रमणीयता का स्वरूप नितनवता का है। जो सदैव नव्य हो, वही साहित्य है। इस नव्यता के लिए साहित्यकार भव्य कल्पना का प्रयोग करता है। कल्पना वस्तु, तथ्य या घटना के मनोरम चित्र प्रस्तुत करती है और इन चित्रों में ही नवता और रमणीयता का निवास है। अतः भव्य कल्पना भी साहित्य का एक तत्त्व है, जो उसे श्रोता या पाठक के लिए ग्राह्य बनाता है। भव्य कल्पना द्वारा प्रस्तुत वस्तु, तथ्य आदि हमारे मानस में घर कर लेते हैं, जैसे—

उमगि हिये ते आयो प्रेम को प्रवाह, ताते लाज गिरी परी तरुवर तीर को।—मतिराम

× × ×

लोग मेरे नीर में सावन समझ कर डूबते हैं।
डबडबाती आँख के मोती चुराकर गा रहा हूँ।
लोग मेरे दीप को सूरज समझकर जागते हैं।
मैं सभी के स्नेह में बाती डुबोकर गा रहा हूँ।—वीरेन्द्र मिश्र

× × ×

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीन की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है।

× × ×

छिलके उठते जा रहे, नया अंकुर मुख दिखलाने को है।
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा आकाश नया आने को है।

यह भव्य कल्पना साहित्य के उत्थान के लिए अपेक्षित है। इस भव्य कल्पना के साथ-साथ दूसरी वस्तु जो समाज को प्रभावित करती है और हमारे मर्म पर प्रहार करती है, वह है भावुक व्यंग्य। बौद्धिक व्यंग्य में तो प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है और हम थोड़ी देर के लिए प्रेरित होकर रह जाते हैं, परन्तु भावुक व्यंग्यों की मार रह-रहकर कसकती रहती है। हमारे लोकगीत इन भावुक व्यंग्यों से भरे पड़े हैं, जिनमें प्रकृति की संक्षिप्त पृष्ठभूमि में बड़े मार्मिक चित्र हमारे सामने आते हैं और उनमें सामाजिक विषमता, दुर्व्यवहार, गरीबी, अनैतिकता, कर्कशता आदि व्यंग्य से प्रकट रहती हैं। यह भावुक व्यंग्य, जो लोकगीतों की निधि है, यदि कविता में हमारे कविगण उतार सकें तो वास्तव में आज के काव्य में मार्मिकता स्वतः आ सकती है। कुछ कवि लोकगीतों के उन्नयनशील तत्त्वों को अपनी रचनाओं में उतार भी रहे हैं। ये दो बातें अभिव्यक्ति सौन्दर्य से सम्बन्धित थीं।

एक और सामाजिक तत्त्व का उल्लेख करके हम यह वक्तव्य समाप्त करते हैं। यह है लोकानुभव या लोकनीति का तत्त्व। संस्कृत काव्य की अनेक सूक्तियाँ सूत्र-मंत्रवत प्रचलित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घाघ की कहावतें हमारे ग्राम-समाज के घर-घर में घर कर बैठी हैं। तुलसीदास, कबीरदास आदि की सूक्तियाँ जन-जिह्वा पर नाचती रहती हैं। इन सूक्तियों में लोकानुभव व्यक्त हुआ है। ये लोक-नीति का काम करती हैं। ये कवि के जीवनानुभव का निचोड़ हैं। ये हमारा मार्ग प्रशस्त करती हैं और विविध प्रकार के अनुभव से हमें लाभान्वित कराती हैं। अतः साहित्य में लोकानुभव और लोकनीति का भी प्रकाशन होना चाहिए। ये सूक्तियाँ उपदेशात्मक, व्यंग्यात्मक होती हुई भी सरस हैं, जैसे—

चाह गई चिन्ता मिटी मनुआ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिए सोई साहंसाह॥
पात पात को सींचिबो, बरी बरी को लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहंके कहु कोन॥
तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन॥
तुलसी तृण जलकूल को, निरबल निपट निकाज।
कै राखै कै संग चलै, बाँह गहे की लाज॥

तीसरे दोहे में तो ऐसा भावुक व्यंग्य है कि वह मर्मस्पर्शी प्रभाव डालता है। ये लोकानुभव कवि के अनुभव के रूप में अभिव्यक्ति पाकर साहित्य के जगमगाते रत्न बन जाते हैं। ये सूक्ति-मुक्तावलियाँ किसी भी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य के उत्थान के लिए प्रेरक उसका सामाजिक दृष्टिकोण है और उसके सहायक सामाजिक तत्त्व हैं, सत्य, मानवता, निर्मल चरित, सौन्दर्य, भव्य कल्पना, भावुक व्यंग्य और लोकानुभव की अभिव्यक्ति। भावुक व्यंग्य और निर्मल चरित्र-चित्रण के भीतर रस का समावेश स्वतः हो जाता है। इन सामाजिक तत्त्वों से युक्त होकर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। ऐसा साहित्य समाज का भी उत्थान करता है। इस प्रकार के साहित्य-सृजन के लिए साहित्यकार को साधना, तपस्या और अनुभव अर्जन करने की अपेक्षा होती है। यह साहित्य समाज में समभाव का प्रसार करता है। इसी प्रकार के साहित्य की तुलना देव-मंदिर से करते हुए हमारे एक कवि ने कहा है—

जय देव मंदिर देहली,
समभाव से जिस पर चढ़ी।
नृप हेम मुद्रा और रंक बराटिका।
मुनि सत्य सौरभ की कली,
कवि-कल्पना जिसमें खिली।
फूले फले साहित्य की यह वाटिका।

कवि के स्वरों में स्वर मिलाकर हम भी इस साहित्य की वाटिका के फूलने-फलने की कामना करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो० विष्णुप्रसाद र० त्रिवेदी

रस, सौन्दर्य और आनन्द

साहित्य के सभी प्रकार—गीतिकाव्य हो या प्रबन्धकाव्य, कहानी हो अथवा उपन्यास—सभी में अभीष्ट रूप में जीवन के उपादान प्राप्त हैं। जीवन को हम एक निश्चित समयावधि में ही देख सकते हैं, इसलिए उसमें हम सप्रयोजन आकृति, स्वरूप या केन्द्र का पता नहीं पा सकते। स्वरूप तो हम संवेदना से, बुद्धि से, दृष्टि से और कल्पना से रचते हैं। जीवन को प्रवाहरूप कहने का तात्पर्य इतना ही है कि इसमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष गति है, किन्तु इस गति की दिशा या सार्थकता स्पष्टतया ज्ञात नहीं होती। जीवन एक असीम सागर है; शतसहस्र उपसागरों को और छोटे-बड़े नालों को तथा अनेक नदियों को अपने अन्दर समाहित करने वाला महासागर है। उसमें अपार लहरें, ज्वार और भाटा तथा ऊपर दृश्यमान गति के अतिरिक्त अनेक अदृश्य प्रवाह हैं। केवल हमारी दृष्टि या प्रतिभा ही इसमें रूप का दर्शन कर सकती है।

हमारे दृष्टिबिन्दु से सतत गतिशील काल में फैले हुए जीवन को रूप (Design) या आकार मिलता है। संस्कार, शिक्षा और कल्पना की सिद्धि से युक्त सर्जक बुद्धि या प्रज्ञा से जीवन में अर्थ और रूप (रूप का अर्थ है सहेतुकता, सार्थकता) देखता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक विशेष दृष्टिबिन्दु से की गई कल्पना अयथार्थ है; ऐसा रूप स्थापित कर सकने की क्षमता, सम्भावना इस अनन्त जीवन में विद्यमान है, ऐसा माना जाना चाहिए। एक सापेक्ष आकृति, विशेष दृष्टिकोण से देखा हुआ रहस्य, समग्र जीवन का प्रतिनिधित्व भी कर सकता है। अन्यथा ऐसे दर्शनों में सच और झूठ की हमारी कसौटी अपर्याप्त है। फुल्लकुसुमित बबूल काँटों से युक्त होता हुआ भी सुन्दर है। सायंकालीन सुषमा में उसे देखकर कवि नर्मद (गुजराती का एक सुप्रसिद्ध कवि) आनन्द में विभोर हो गया था। प्रातः या सायंकाल इसका छायाचित्र कभी-कभी मनोरम बन जाता है। इस रमणीयता को यथार्थ क्यों नहीं कहा जा सकता? फिर भी इसके द्वारा वृक्ष की पूर्णता का ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है। मानव-जीवन का प्रश्न भी ऐसा ही विकट और जटिल है।

जीवन की सामग्री को अनायास रूप दे देने वाले प्रसंग व्यक्ति के जीवन में बार-बार आते हैं। किसी स्थान से या मित्र से दीर्घकाल के लिए बिछुड़ते हों, तो वह क्षण भूतकाल की कई बातों को आकृति देने वाला साधन बन जाता है। स्मृति में जड़ीभूत बने हुए संस्कार जाग्रत होते हैं, अपनी तीव्रता के अनुसार वे प्रभावपूर्ण होते हैं। इन संस्कारों के प्रकाश और छाया के मिश्रण से किसी रूप की आकृति मन में बन जाती है। इस प्रक्रिया का स्वाभाविक अन्त मिलन, विरह या मृत्यु ही है और इस अन्त को रहस्यमय बनाने वाली, अनिवार्य बनाने वाली, समझाने वाली अथवा एक प्रश्नचिह्न होकर भी सार्थक करने वाली घटनाओं को कल्पना अनुभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में से चुन लेती है। तात्पर्य यह है कि वास्तविक जीवन में भी विशेष प्रसंगों पर पात्र, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से मन में विशेष आकृति उपस्थित हो जाती है।

सर्जक ऐसी वास्तविक घटनाओं की प्रतीक्षा के लिए बैठा नहीं रहता। उसकी जीवनदृष्टि या तो निश्चित होती है और ऐसा होने पर अपने अनुकूल जीवन-सामग्री को वह ले लेता है, अथवा उसे ऐसा मोड़ दे देता है। निश्चित जीवनदृष्टि के अभाव में बुद्धि उदार होने पर भी कभी-कभी किसी रहस्य को सूचित करने वाली प्रसंग-परम्परा दिखाई पड़ जाती है। वास्तविक जीवन में नियामक तत्त्वबिन्दु अनायास ही प्राप्त हो जाता है। सर्जक के पास जीवन-सामग्री अंशतः अथवा पूर्णतः रूपविहीन आकृति में विद्यमान है। दीवार पर की लकीरों में अथवा भूमि पर पड़े हुए पानी में से जिस प्रकार गौतमबुद्ध, नटराज या अजन्ता की अप्सराओं की आकृति दिखाई देती है, उसी प्रकार जीवन के उपादानों के कुछ प्रकार प्रतीत होते हैं। फिर जैसे कोई निठल्ला कलारसिक उन रेखाओं को दृढ़ कर देता है, उसी प्रकार साहित्यसर्जक अपनी कल्पना के अनुसार रूपयोजना निश्चित कर देता है। जीवन से प्राप्त उपादानों के तात्पर्य की कल्पना में सर्जक का मन वैज्ञानिक की भाँति काम करता है। परन्तु वैज्ञानिक वस्तु-तथ्य को बदल नहीं सकता, उसे विशेष स्वरूप देने के लिए काट-छाँट नहीं कर सकता; इतना ही नहीं, अपितु कोई बात कल्पना के अंशतः भी बाधक हो जाय तो अपनी ऊहा (Hypothesis) या कल्पना ही बदलनी पड़ती है। इसमें कोई दूसरा उपाय है ही नहीं। साहित्यकार अधिक स्वतन्त्र है। जिसकी केवलमात्र झाँकी ही मिली है, ऐसे अन्त या तात्पर्य को भी निश्चित मानकर तदनुकूल जीवन का स्वरूप गढ़ लेता है। तात्पर्य ही उसका प्रयोजन है और वह तात्पर्य सहज ही प्रकट हो सके, ऐसे अंश उसे इष्ट होते हैं तथा उन्हीं को वह अंगीकार करता है। अतः प्रत्येक घटक में सप्रयोजनता रहती है। सर्जन-व्यापार में इसका अर्थ यह हुआ कि आकृति की प्रत्येक कल्पना में सर्जक की बुद्धि अव्यवस्थित और सार्थकताविहीन जीवन-उपादान में से अर्थ और रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न करती है। उस रहस्य या अर्थ को निश्चित करके तदनुकूल पूर्वोक्त उपादान को व्यवस्थित करती है, परिष्कृत करती है, आवश्यकतानुसार परिवर्तित भी करती है। इस प्रकार उसकी चेतना में समग्र विभावना या कल्पना उपस्थित हो जाती है, जो शब्दों में मूर्त होने का प्रयत्न करती है, अर्थात् कल्पना के पूर्व और कल्पना के अभिव्यक्त होने तक इस व्यापार में आरम्भ से अन्त तक और अन्त से आरम्भ तक क्रिया-प्रतिक्रिया चलती ही रहती है।

अन्तःउपादान की अनुनेयता (Flexibility) और रूपक्षमता के कारण सर्जक की जीवनदृष्टि साहित्यिक रचना-विधान में एक नियामक तत्त्व बन जाती है। जिसकी दृष्टि संस्कारक्षम है, जो आँख-कान खोलकर रहस्य को ढूँढने के लिए विचरता है, वह विशेष तटस्थ साहित्यकार हो सकता है। उसके सर्जन का हेतु केवल सौन्दर्य हो और तात्पर्य या रहस्य केवल उसी के अधीन रहे, ऐसे लेखक की भिन्न-भिन्न कृतियों में प्राप्त जीवन-दर्शन कहीं पर संगत और कहीं पर असंगत प्रतीत होता है। किसी वाद के अनुयायी या निश्चित जीवनदृष्टि वाले सर्जक में ऐसा नहीं होगा। साहित्य का सौष्ठव और औचित्य तथा रसतत्त्व की रक्षा करते हुए भी वह ऐसे रूपविधान की रचना करेगा, जिसमें अभीष्ट विचारों की पूर्ण अथवा आंशिक सुसंगत अभिव्यक्ति प्राप्त होगी। पूँजीवादी, समाजवादी या सर्वोदयवादी, नियतिवादी, मांगल्यदर्शी, असारदर्शी या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य किसी निश्चित विचारसरणी का अनुयायी अपनी अभीष्ट व्यंजना अनुमोदन करने वाला रूपविधान ही बहुधा प्रस्तुत करता है। वह कुशल कलाकार नहीं होगा तो उसकी कृति में कृत्रिमता आ जायगी, उसका प्रतिपादन शिथिल और अविश्वसनीय होगा। महान् लेखकों ने भी जब ऐसे निश्चित विचारों का वरण करके स्वाभाविकता और सौन्दर्य का त्याग किया है, तो फिर मध्यम सर्जक का, अभीष्ट विचारों का कला द्वारा प्रतिपादन करते हुए, कृत्रिम बन जाना असम्भव नहीं।

चाहे उपन्यास हो, नाटक हो या कहानी—ऐसी कृतियों में प्रारम्भ, मध्य और अन्त तक, कथाप्रवाह की विविध सम्भावनाओं में से लेखक अपनी कल्पना के अनुसार किसी एक को चुन लेता है। प्रारम्भ अथवा मध्य की घटना में अनेक प्रकार के अन्तों की सम्भावना निहित है। लेखक इनमें से एक अन्त को चुन लेता है। किसी वाद का प्रचारक या प्रस्थापक होने पर वह उसे सचेष्ट रूप से चुनता है, अन्यथा संस्कार, परम्परा या लोकरुचि के अनुसार अन्तों का चुनाव अपने-आप हो जाता है। महाभारतकार ने सुयोग्य चुनाव कर लिया है, कालिदास ने शाप और शाप के निवारण की योजना का चुनाव कर लिया है। कथावस्तु को इसी रूप में रखते हुए भी यूरोपीय कलाकारों ने शायद इस अन्त को बदल दिया होता। 'सरस्वतीचंन्द्र' (एक गुजराती उपन्यास) की कथा की भूमिका बदले बिना व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी कोई लेखक कुमुद और कुसुम की कथा का अन्त भिन्न प्रकार का बना देता। कुशल कथाकार इसमें परिणाम की स्वाभाविकता दिखा सकता था। परन्तु मौलिक ग्रन्थ के अन्त और इस अन्त के सम्बन्ध में कला-सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठता का प्रश्न बना ही रहेगा। जहाँ तक कथा की भूमिका एक ही प्रश्न को प्रस्तुत करती है, वहाँ तक दो भिन्न दृष्टि वाले सर्जक भी उसे एक समान रख सकते हैं। भिन्न-भिन्न कथाओं में मुख्य प्रश्न भिन्न-भिन्न स्थान पर आ सकता है। किसी में अन्त के समीप हो सकता है, तो किसी में लगभग बीच में। यह सच है कि छोटी कहानियों में प्रारम्भ और अन्त के समीप होने से उनमें परिवर्तन की सम्भावना कम है, किन्तु असम्भव नहीं है। खण्डकाव्यों में तथा गीतिकाव्यों में भी वही भूमिका रखकर अन्त की भिन्नता सम्भव है। मणिशंकर भट्ट ने अपनी कुछ कविताओं का अन्त परिवर्तित करके उसकी मूल संवेदना को ही बदल दिया है। रामनारायण भाई को 'वैशाखनो बपोर' (वैशाख का मध्याह्न) में मानवता के पुरस्कार के स्थान पर नियति की क्रूरता दिखानी होती, तो मजदूरों की मण्डली ने भी भूखे पिता-पुत्र का तिरस्कार किया होता—मजदूर लोग पिता-पुत्र के साथ अपना खाना बाँटकर खा लेते हैं, यह अन्त अनिवार्य नहीं है, परन्तु असम्भव भी नहीं है। सभ्य समुदाय में से भी रोटी देने वाले की सम्भावना थी, किन्तु कवि को यह सम्भावना इष्ट नहीं और न काव्य-प्रयोजन के लिए अनुकूल।

यह चर्चा कृति के सौष्ठव और रसतत्त्व के चिन्तन के सम्बन्ध में समीचीन है। कृति छोटी हो या बड़ी, कहानी हो या उपन्यास, उसका उपादान संगुम्फित और रूपविधान सुनिश्चित होना चाहिए। परिस्थिति, पात्र, घटनाओं तथा कथोपकथन में जितनी ही सुसम्बद्धता हो उतना ही उसको रूप-सौष्ठव प्राप्त होता है। सम्पूर्ण योजना अन्त के साथ जितनी अपरिहार्य रहेगी उतनी ही उसकी कलात्मकता की सफलता विशिष्ट मानी जायगी। हो सकता है कि कोई कृति किसी विशेष दृष्टि का, अथवा शृंगार आदि किसी रस का प्रतीक बन जाय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री के नियोजन पर ही रस के स्वरूप तथा आनन्द की सूक्ष्मता का आधार रहता है। कृति का प्रारम्भ प्रणय से हो और अन्त भी प्रणय-सुख में हो तो उस कृति का प्रधान रस शृंगार होगा, परन्तु कृति का अन्त करुण होने पर प्रारम्भिक शृंगार केवल उसका पोषक होगा और कृति की भावना करुण रस की ही होगी। सर्जन के पूर्वापर अंश सप्रयोजनता के साथ कार्य-कारण की शृंखला में आबद्ध हैं। इस परम्परा में कार्य का प्रभाव कारण पर नहीं पड़ता, परन्तु रसास्वादन में वैसी बात नहीं है। अन्त सम्पूर्ण कृति को उठा सकता है, या बिगाड़ भी सकता है; सम्पूर्ण कृति के रसतत्त्व को सार्थक अथवा निरर्थक बना सकता है। कभी मन अन्त जानने की उत्सुकता में व्यग्र हो करुण को विलीनकर हास्य या हर्ष की निष्पत्ति करता है, किसी उलझन को अनुकूल बनाने की इच्छा रखते हुए भी उसका अन्त अतिशय करुण बन जाता है और यह अन्त समस्त सौन्दर्य तथा रस में व्याप्त हो जाता है। परन्तु यह ज्ञान सम्पूर्ण कृति का आनन्द लेने के बाद ही सम्भव हो सकता है। सम्पूर्ण भावों का और सभी सुखद संवेदनों का आकलन होकर कृति के हृदयंगम करने से अन्त में तल्लीन करने वाली किसी विशिष्ट अवस्था का साक्षात् अनुभव होता है। यही सौन्दर्यबोध है। यह सच है कि कर्ता द्वारा लोकप्रसिद्ध वस्तु ली जाने पर रस की विशिष्टता के आस्वाद की अनुकूलता मन को पहले से ही प्राप्त रहती है, परन्तु जहाँ हम निष्पत्ति के कारणों की क्रमबद्धता का विचार कर रहे हों वहाँ यह बात समीचीन नहीं है।

079546

इस विषय में भारतीय संगीत के रागों के आस्वादन और साहित्य-कृति के आस्वादन में बड़ा भेद है। राग के प्रारम्भ होते ही आप उसे पहचानकर उसकी लीला में प्रकट होने वाले भावों की कल्पना कर सकते हैं, अथवा उस भाव का आस्वादन आप पहले से ही ले सकते हैं। काव्य में यह सम्भव नहीं है और इस हद तक तो सम्भव ही नहीं है। भारतीय रागों में भी रस-निष्पत्ति की अपेक्षा चेतना की आह्लादक वृत्तियों का ही अनुभव किया जाता है। चित्त का विकास या उत्कर्ष, चित्त की प्रसन्नता, चित की आर्द्रता—अर्थात् ओजस, प्रसाद या माधुर्य जैसे गुणानुभवों—का साक्षी हो सकता है। ये सब मन की ऐसी साधारण अवस्थाएँ हैं कि उन्हें रस का नाम नहीं दिया जा सकता। किसी राग की पीठिका में कोई पंक्ति मीरा या सूरदास की हो और उसकी पुनरावृत्ति में अपनी कल्पना को भाव से मिलाकर रसानुभव करें तो यह एक अलग बात है। इसमें भी इतना तो स्पष्ट ही है कि 'मेरे रघुवीर' के आवर्तन की अपेक्षा 'सुनी मैं हरि आवन की आवाज' के आवर्तन में रसोत्पादक भूमिका अधिक मात्रा में है। रागों में प्रयुक्त गीत-पंक्ति का इस दृष्टि से विचार होना चाहिए। कला के आस्वादन में तटस्थ मन सब द्वारों को खुला रखकर अनेक संस्कारों को अन्दर बहने देता है, हृदय की विशालता एक कला के आस्वादन में दूसरी कलाओं का भी आस्वादन करती है। गीतिकाव्य में संगीत का और संगीत में गीतिकाव्य का अनुभव होना एक सामान्य तथ्य है। जो कलाभावक काव्य के विषय में यह मानते हैं कि उनका कर्तव्य तो किसी विशिष्ट रमणीय स्थिति में चित्त को पहुँचा देना है, शेष कार्य चित्त ही अपनी स्मृति और संस्कार से कर लेगा, उनकी यही गलती है। ऐसे काव्यों में वस्तुतः संगीत का तत्त्व काव्य के तत्त्व में मिल जाता है। काव्य में शब्द और अर्थ का सहितत्त्व समान रूप से इष्ट है। शब्द के बिना अर्थ का आश्रय नहीं, वैविध्य नहीं, विशिष्टता या निश्चितता नहीं है। शब्द की गति के बिना अर्थ की गति नहीं, उसका नियमन नहीं,

पुस्तकालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकार नहीं है। इसीलिए काव्य को 'शब्दार्थों' से पहचानते हैं। यदि शब्द और अर्थ में तारतम्य करना ही हो तो काव्य को अर्थ की कला कहेंगे, शब्द की, लय की या भौतिक ध्वनि की नहीं।

इस प्रकार सर्जन और आस्वादन व्यापार की परीक्षा करें तो साहित्य के मुख्य प्रयोजन आनन्द के विषय में भी विचार उत्पन्न होते हैं। यह सच है कि आह्लाद और आनन्द का कोई उत्कृष्ट स्वरूप साहित्य-परामर्श में अनुभव किया जाता है, परन्तु किस साहित्य में और कहाँ होता है इसकी जाँच की जानी चाहिए। किसी भी कृति के आस्वादन के सम्पूर्ण स्वरूप का विचार करें तो भी उसके विशिष्ट तत्त्व कहीं से तो आते ही हैं और उस विशिष्ट तत्त्व का आधार कवि का लक्ष्य तथा उसकी उपलब्धि पर आश्रित है। 'मध्य रात्रि में कोयल' काव्य का आनन्द-तत्त्व, 'सुदामा चरित' का आनन्दतत्त्व, 'शाकुन्तल' और 'ऑथेलो' का आनन्दतत्त्व क्या एक ही है? एक ही मात्रा का है? इस आनन्द का मूल कर्ता के अभीष्ट और सिद्ध किये हुए अन्त में है, वस्तु के निरूपण में है, विषय को दिये गए घुमाव में है।

रमणीयता या सामान्य अर्थ में सौन्दर्य (रमणीयता में भव्य और रौद्ररम्य (Sublime), सुन्दर (Beautiful) और चारु (Pretty, graceful) का समावेश होना चाहिए) और भिन्न-भिन्न तत्त्व के रूप में रस की स्वीकृति होनी चाहिए। रस आस्वाद रूप है, काव्य के प्रवाह के साथ यह आस्वाद कम या अधिक आह्लादक हो सकता है; परन्तु रस में क्रम है, यह कृति के साथ काल में ही प्रवृत्त होता है। रस का सम्पूर्ण कृति के साथ सम्बन्ध होते हुए भी उसमें कृति के अवयवों के साथ रहने वाला एक विशिष्ट क्रम है। इस क्रम के प्रत्येक बिन्दु पर उससे पहले होने वाले कृति-अनुभवों के संस्कार एकत्र होते हैं और इस प्रकार रसानुभव में संस्कारों का विशिष्ट वहन चलता रहता है। किन्तु रमणीयता या सौन्दर्य में क्रम नहीं है। कृति का सौन्दर्य कृति के अवगाहन के अन्त में होने वाली तत्काल अनुभूति है, इसमें कालक्रम नहीं है, काल की मर्यादा या अवधि भी नहीं है। उपर्युक्त कथन के अनुसार सौन्दर्यबोध कृति का समग्र अनुशीलन है, मन को तल्लीन करने वाली विशिष्ट अवस्था है, जिसमें कृति-सम्बन्धी सर्व-संवेदनों की अन्विति होती है। सौन्दर्यबोध एक अखण्ड, क्रमहीन, सम्पूर्ण समन्वित अवस्था है। रमणीयता रसतत्त्व को पचाकर उत्पन्न होने वाली स्थिति है।

'योऽर्थः तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयतत्त्वमश्नुते।'

रमणीयता एक विशेष व्यापक तत्त्व है और रस के बिना भी इसकी स्थिति सम्भव है। रमणीयता के लिए रस के आश्रय की अनिवार्यता नहीं है। रस के होने पर वह उसका घटक या विशिष्ट तत्त्व हो सकता है, परन्तु रस का अभाव होने पर भी वहाँ रमणीयता सम्भव है। ऐसा समझ लेने पर छोटे-छोटे मुक्तकों में, जिनमें वस्तुतः कोई रसतत्त्व नहीं है, हम रस ढूँढ़ने का मिथ्या प्रयास नहीं करेंगे। उसकी चारुता से ही प्रसन्नता अनुभव करेंगे। यह कहना कठिन है कि सौन्दर्य में किस तत्त्व या तत्त्वों के साथ हमारी चेतना का अनुसन्धान होता है। इसमें रसबोध भी हो सकता है जो बहुधा होता ही है। इसमें वातावरण की विशिष्टता और समता भी हो सकती है। इसमें रेखाओं की ललित लीला या रंग की आभा सुयोजित भी हो सकती है। आचार्य कुन्तक के कथन के अनुसार इसमें छोटे-बड़े घटकों का, समुदायों का, शोभा और आकर्षण में परस्पर स्पर्धा करने वाला संयोजन किसी स्थापत्यकृति की भाँति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हो सकता है। अर्थात् प्रकृति में लालित्य, चारुता, सौन्दर्य और भव्यता की विविध तथा अनर्गल सम्पत्ति भरी हुई है। ऐसी ही विविध, अनर्गल और नियमों के बन्धन से रहित सम्पत्ति रमणीयता की भी है। इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन सबमें चेतना की किसी सूक्ष्म अवस्था तथा बाह्य पदार्थ (यहाँ कलाकृति से तात्पर्य है) के तत्त्वों का योग होता है। यह अवस्था अन्दर थी और प्रकट हुई अथवा न थी और बाह्य पदार्थ के सम्पर्क से उत्पन्न हुई, या किसी रूप-विशेष की थी और अन्य रूप में प्रकट हुई, इसका पता लगाना रसनिष्पत्ति के सदृश ही एक गूढ़ प्रश्न है।

अन्य कलाओं से साहित्य की प्रमुख भिन्नता यह है कि साहित्य में मानव-व्यवहार की सामग्री का प्रवेश रहता है। मनुष्य की भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्ति और अच्छे-बुरे कार्य उपादान के रूप में आते हैं। पात्रों की वृत्ति अच्छी-बुरी, पात्र अच्छे-बुरे, कार्य अच्छे-बुरे, इन सबका विवेक विचार-साहित्य में अपरिहार्य है और लगभग उसी भाँति अपरिहार्य है जिस प्रकार स्वर की कोमलता या रंजकता का विचार संगीत में, अथवा पत्थर की जाति का विचार स्थापत्य में अनिवार्य है। कभी-कभी साहित्य शुद्धाशुद्ध, शुभाशुभ कार्यों और वृत्तियों का संयोजन है और ऐसे संयोजनों में से कोई जीवन-रहस्य स्फुरित हो जाता है या उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार आकाश के रंग, नीति-विचार से निरपेक्ष चित्र में उतर आते हैं और उसे देखकर हम आह्लादित होते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार साहित्य की सीमा में आए चित्रों का नहीं होता। प्रजा की भावना या परम्परा में व्याप्त नीति के स्फुट या अस्फुट विचार व्यावहारिक कार्यों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित हैं और इन्हीं संस्कारों से युक्त जीवन-व्यवहार साहित्य में कला-स्वरूप को धारण करता है। साहित्य के सौन्दर्यबोध में स्फुट या अस्फुट रूप से जीवन के मूल्य प्रविष्ट होते हैं, प्रविष्ट हुए बिना रह ही नहीं सकते और किस भाँति के जीवन-मूल्य स्फुरित होते हैं उस पर भी इसके मूल्य का आधार रहता है। यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जीवन-मूल्य का अर्थ किसी समाज-विशेष या काल-विशेष के पारस्परिक मूल्य ही नहीं हैं, पारम्परिक मूल्य से सर्वथा भिन्न या विरुद्ध मूल्य भी हो सकते हैं; और जीवन के मूल्य सौन्दर्य के घटक-तत्त्वों के रूप में तथा सौन्दर्यरूप में उपस्थित होने चाहिए।

उच्चजीवन की कतिपय भावनाएँ सार्वजनीन हैं। प्रेम, मैत्री, समभाव, करुणा, दया, क्षमा, विनम्रता, आर्जव, धृति, सत्यकामना, सत्यनिष्ठा, कर्त्तव्यबुद्धि, अनासक्ति, समत्व, त्याग, इनमें से किसी एक का या अनेक का असाधारण दर्शन—कथनमात्र नहीं, उसका साक्षात्कार और प्रतिभान—हृदय के लिए अत्यन्त आह्लादक होता है।

अब हम विचारें कि साहित्य का स्वरूप, जीवनमूल्यों के स्फुरण और आह्लाद की उच्चावचता किस प्रकार एक साथ ग्रथित हो सकते हैं। 'शाकुन्तल' के प्रथम अंक में मुग्धा यौवना के दर्शन से तथा सखियों के परिहास से सामाजिकों का मन अत्यधिक आकर्षित होता है और राजा के रीति-रस्मों से परिचित पुरुष कुछ प्राकृत आकर्षण को प्राप्त करता है। इस अंक के दर्शन में आनन्द-प्राप्ति होती है, किन्तु इसकी समग्र नाटक के सौन्दर्य-विमर्श के आनन्द के साथ समरूपता नहीं दिखाई जा सकती। कोई नाटककार शकुन्तला के प्रत्याख्यान में ही नाटक का अन्त दिखाये, अथवा दोनों पक्षों से त्यक्ता शकुन्तला आत्महत्या करे, और तत्पश्चात् दुष्यन्त को पूर्व स्मरण हो, ऐसे संविधान की रचना करे, तो नाटक के रस में तो परिवर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा ही, साथ ही मेरे मतानुसार उसके आनन्द तत्त्व में भी परिवर्तन आ जायगा। इस आनन्द में ग्लानि या व्यथा का मिश्रण होगा। मनुष्य मनुष्य रूप में दृढ़ और पराक्रमी होता है या केवल नियति की ही जय होती है, इस पर भी आनन्द के स्वरूप का आधार रहता है और कदाचित् यह आनन्द पराकोटि का न भी हो। नाटककार प्रहसन या फारस लिखता है तो इसमें आकर्षण होता है, आनन्द भी होता है और कदाचित् हर्ष का उद्रेक भी होता है। नाटककार पूर्वोक्त शाकुन्तल के विषय में एक गूढ़ प्रश्न या जीवन-वैषम्य को मूर्त करे तो उसमें भी सामाजिकों का चैतन्य विशालता और गूढ़ता का अनुभव करके नये ज्ञान के बारे में—चाहे वह केवल प्रश्नरूप ज्ञान हो—विस्मित होता है; परन्तु उलझन में पड़कर, कलाकार के सुझाव से, जीवन के किसी अन्तिम या सनातन मूल्य की स्फुरणा से सच्चे स्वरूप में छूटने का अनुभव करने में ही वास्तविक आनन्दमय विश्रान्ति है। शाकुन्तल जैसी कृति में कारुण्यसंमार्जित प्रणय-दर्शन के आह्लाद के तत्त्व शुद्ध होते हुए सूक्ष्म होकर स्थिर मुदारूप में अनुभव किये जाते हैं। चेतना असाधारण चेतनमयता, व्यापकता और विश्वमैत्री का दर्शन कराती है, यही उत्कृष्ट आनन्दानुभव का रहस्य है। विश्व-योजना में आध्यात्मिक ऋत के दर्शन से उसे परितोष होता है। करुण कृति में भी आर्द्रता के संवेग से व्यक्तिगत रागद्वेष और अन्य मानसिक रुकावटें दूर हो जाती हैं तथा आत्मशुद्धि के आनन्द का अनुभव होता है। उदारता, वीरत्व, त्याग, आत्मभोग आदि के साक्षात्कार में जीवन के अप्रत्यक्ष मूल्यों में श्रद्धा प्रकट होकर उदात्त जीवन की कृतार्थता की सूक्ष्म तृप्ति उपलब्ध होती है। अ-पूर्व संवेदना के उदय का विस्मय और प्रेमतत्त्व का विस्तार, अर्थात् प्रकाश, प्रीति और माधुर्य, उत्तम आनन्द के आधार हैं। कोलाहल, व्यग्रता, विह्वलता, आतुरता, आवेग आदि के बाद की शान्ति, प्रसन्नता, मुदा, मैत्री, प्रीति, भक्ति जैसे जीवन-तत्त्वों का समावेश करता हुआ सूक्ष्म और मानों स्थिर आनन्द प्रशिष्ट कृति के समग्र सौन्दर्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान है। इसे पहचानना, इसका प्रत्यभिज्ञान करना, इसके लिए आतुर रहना और इसकी प्रतिपत्ति होने पर सहृदयों से निवेदन करना ही विवेचक का कार्य है।

---

१. चुन्नीलाल गांधी, विद्याभवन, सूरत की अगस्त १९५६ की बुलेटिन में प्रकाशित गुजराती लेख का अनुवाद; अनुवादक प्रो० ए० एम० देसाई, एम० टी० बी० कॉलेज, सूरत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनन्त

आदर्श और यथार्थ : हिन्दी कथाकार

मनुष्य-समाज में व्याप्त विकृतियों का निराकरण आदर्शवाद के अनुसार उन्हें जानकर दूर करना नहीं है, वरन् उन विकृतियों से परे ऐसे काल्पनिक रूप को सामने रखना है, जिससे व्यक्ति को आध्यात्मिक तुष्टि मिले; अर्थात् आदर्शवादी यह मानते हैं कि भौतिक जगत् से उद्भूत कठिनाइयाँ या पीड़ाएँ किन्हीं अलौकिक शक्तियों या जगत् से सम्बन्ध रखती हैं। वे सदा इस दुःखमय संसार और 'वर्त्तमान' से भागते हैं, क्योंकि उन्हें इससे विलग एक सुखी संसार की आशा रहती है। यह जीवन ही दुःख का मूल है और उससे मुक्ति पाने का उपाय इस जीवन-जगत् से दूर दूसरे जगत् की अवस्थिति को स्वीकार कर उसके ध्यान में मन को रमा देना है। व्यक्ति और समाज की पीड़ा का कारण किसी परा शक्ति में मान लेने से भौतिक जीवन को गौण मान लेना स्वाभाविक है। कोरे आदर्शवादियों ने सदा यही किया, इसी कारण मनुष्य के सम्मुख 'दिव्य' का रूप बड़ी तड़क-भड़क के साथ खड़ा करने पर भी वे उसकी पीड़ाओं को नहीं कम कर सके।

जीवन भौतिक तत्त्वों के द्वन्द्व के कारण सम्भव है। मनुष्य जहाँ एक ओर प्रकृति से जन्म पाता है वहीं वह उसके स्वरूप में परिवर्त्तन भी करता है। इस कारण भौतिक जगत् से असन्तुष्टि का अर्थ है जीवन के आधार को मानने से इन्कार करना। व्यक्ति के जीवन में उपस्थित 'क्यों' या 'क्या' का उत्तर इसी भौतिक जीवन से पाया जा सकता है। किन परिस्थितियों में मनुष्य किस तरह का व्यवहार करता है, एक ही परिस्थिति में रहने वाले व्यक्ति क्यों एक ही ढंग से विचार नहीं करते तथा यदि समाज का ढाँचा बदलता जाय तो मनुष्य की क्रियाओं और विचार-शक्ति में किस प्रकार का परिवर्त्तन होगा, ये सारी बातें मनुष्य के अन्तःकरण और बाहरी उपकरणों के उन पर प्रभाव का ढंग जान लेने पर ही अंशतः ज्ञात हो सकती हैं। पश्चिम में भौतिक जीवन के महत्त्व को पूरी स्वीकृति मिलने के कारण इन समस्याओं पर अधिक विस्तार से विचार होता रहा। इसी भौतिकता की स्वीकृति के बाद ही मनुष्य ने साहित्य में केवल 'दिव्य' का गुण-गान न करके स्वयं की पीड़ा की व्याख्या प्रारम्भ की। आज वह अनुभव करता है कि समाज की प्रणाली में भरे दोषों को विनष्ट करने का मार्ग समाज से अलग दूसरे पारलौकिक समाज की कल्पना में तल्लीन होना नहीं है, वरन् समाज की प्रणाली का ही आमूल परिवर्त्तन है।

कथा-साहित्य में यथार्थवाद का मूल खोजने के लिए हमें बोकेचियो (Boccacio १३१३-७५) के 'डीकेमराँ' (Decameron) तक जाना पड़ेगा। वही पहला कथाकार था, जिसने समाज की समस्याओं को व्यंग्यात्मक रीति से चित्रित किया। उसके व्यंग्य और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थ से घबराकर कुछ देशों के नैतिकवादी उसकी कथाओं में 'कुत्सा' घोषित कर उसकी कृतियों को अवैध कराने का यत्न कर रहे हैं। बोकेचियो के तात्कालिक यथार्थवाद और वर्त्तमान यथार्थवाद के बीच कितनी ही सीढ़ियाँ बन गई हैं। अँग्रेज़ी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ लिगुई और कज़ामयाँ का तो यहाँ तक कहना है कि "तर्कपूर्ण ढंग से कला को अभिव्यक्त कर सकने वाला हर प्रयत्न किसी-न-किसी यथार्थवादी स्वरूप से ही सम्बन्धित होता है।"

साहित्य में यथार्थ के दो रूप मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों के पश्चात् प्रचलित हुए। इन दोनों सिद्धान्तों ने जिस भाँति मनुष्य-समाज की पिछली मान्यताओं को ग़लत साबित किया, उसी प्रकार साहित्य के कोरे आदर्शवादी रूप को भी धक्का दिया। मार्क्स ने इतिहास के वर्ग-द्वन्द्व को सिद्ध किया। उन्होंने इस वर्ग-युद्ध के परे के मार्ग की ओर भी संकेत किया था, यानी उन्होंने वर्ग-युद्ध को कोई चिरन्तन नियम नहीं माना था। वास्तव में उस द्वन्द्व को वे समाप्त करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त प्रकृति या सौर-मण्डल के कार्य और प्रभावों का कारण भी उन्होंने समझने का यत्न किया और अन्त में भौतिकवाद को ठीक मार्ग माना। एक ओर जहाँ उन्होंने समाज के वर्ग-युद्ध को समाप्त करने की बात कही, वहीं व्यक्ति का विकास अबाध रीति से हो सके इसके प्रति भी सचेत रहे; किन्तु उनके सिद्धान्तों को कम्युनिस्ट सरकारों के बनने के बाद ग़लत ढंग से मान लिया गया। फल यह हुआ कि व्यक्ति को नहीं, महत्त्व राज्य को दिया जाने लगा और राज्य ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को काफ़ी क्षति पहुँचाई। राज्य का शक्तिवान होना जरूरी है, किन्तु ऐसा नहीं कि व्यक्ति का विकास रुक जाय। मार्क्स के दर्शन को अधूरा ही समझने के कारण कम्युनिस्ट साहित्य-शास्त्र आगे चलकर राजनीति से अपना सम्बन्ध ज्यादा रखने लगा, किन्तु यह निर्विवाद है कि समाज के दुःख-दर्द को और दलित की पीड़ा को समझने में मार्क्सीय दर्शन ने अभूतपूर्व योग दिया।

फ्रायड ने मनुष्य-जीवन के कुछ ऐसे सत्य प्रमाणों सहित बताये कि नैतिकता की दुहाई देकर समाज-सुधार में विश्वास करने वाले लेखक उन्हें तरह-तरह की गालियों से विभूषित करने लगे। पहले फ्रायड की किताबों को जलाया गया, उन्हें अवैध और अनैतिक ठहराया गया, किन्तु धीरे-धीरे उनकी सत्यता का रहस्य जानने पर ग़लती मानी गई। मानी किसने नहीं—यान्त्रिक मार्क्सवादियों या कुत्सित समाज-शास्त्रियों ने। उन्होंने समझा कि फ्रायड 'पशुवाद' के प्रचारक हैं, किन्तु फ्रायड ने सिद्ध कर दिया कि ऊपर से चाहे जितनी सफेदपोशी आदमी ने कर ली हो, वह अन्दर-ही-अन्दर घुट-घुटकर जी रहा है और उसका कारण है उसकी कामनाओं की अतृप्ति। व्यक्ति की तुष्टि के लिए 'काम' की तुष्टि ही एकमात्र मार्ग है। यहाँ तक तो ठीक था, किन्तु जब उन्होंने समाज को भी व्यक्ति के विकास में बाधा माना तो उनका दृष्टिकोण एकांगी हो गया। समाज स्वयं व्यक्ति के विकास को हानि नहीं पहुँचाता, वरन् समाज की व्यवस्था पहुँचाती है। जरूरत समाज से विद्रोह की नहीं, बल्कि समाज की मौजूदा प्रणाली से है। फ्रायड ने इसे अस्वीकार किया, इसी कारण उनके शिष्यों तक ने उनसे मत-वैभिन्य प्रकट किया। किन्तु मनुष्य की मनःस्थिति को समझने में उन्होंने महान् योग दिया, उसके उपचेतन को खोलने का यत्न कर मनुज की पीड़ा का कारण बतलाया। साहित्यकारों ने भी जहाँ फ्रायड के सत्य को अपनाया, वहीं उनकी कमज़ोरी से भी वे न बच सके और इसीलिए समाज और व्यक्ति का सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित करने के बदले व्यक्ति के अवचेतन को टटोलना ही अनेक साहित्यकारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का धन्धा हो गया।

प्रेमचन्द किसी 'वाद' में नहीं बँधे। उन्होंने जन के दुःख-दर्द की अनगिन कहानियाँ कहकर मनुष्य में अपनी अपार आस्था प्रकट की थी। 'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' तक के आदर्शवाद को अपना मार्ग मानते थे, वैसे इन उपन्यासों में भी युग-सत्य का जो चित्रण हुआ है वह यथार्थवादी है। हाँ, वे जोला या मोपासाँ की तरह सत्य को नहीं देख सकते थे, क्योंकि वह उनका रास्ता ही नहीं था। इससे कला और यथार्थ दोनों को क्षति पहुँची है, किन्तु मनुष्य के देवत्व में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए यही मार्ग भी है। 'कफ़न' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी कहानियाँ जीवन के सत्य को चीख़-चीख़कर कहती हैं, लेकिन वे यह भी बतलाती हैं कि उनका लेखक केवल सत्य को ही नहीं देखता, यदि उस सत्य से मनुष्य को क्षति होती है तो वह उनसे आगे की बात भी सोचता है और वह है मनुष्य की महानता। 'मन्त्र' और 'सुजान भगत' इसके प्रमाण हैं। 'गोदान' के पात्र भी केवल आदर्शों के लिए नहीं जीते, वे मनुष्य की अच्छाई-बुराई को अपने में समोकर जी रहे हैं।

प्रसादजी का क्षेत्र दूसरा था, किन्तु 'कंकाल' और 'तितली' में उन्होंने अपनी जनता का साथ दिया था, यहाँ तक कि अपने ऐतिहासिक पात्रों के मुख से अपने युग के जीवन में सुधार और देश-प्रेम का भाव व्यक्त कर उन्होंने अपने भीतर की छटपटाहट को ही प्रकट किया। गुलेरीजी की कहानी 'उसने कहा था' कला की दृष्टि से ही नहीं जीवन-सत्य की दृष्टि से भी सदा स्मरण की जायगी। प्यार, त्याग और शौर्य जैसी वृत्तियों को लहना के चरित्र में पिरोकर कहानीकार ने एक अमर पात्र की रचना की थी।

प्रेमचन्द के समय तक उनका व्यक्तित्व समूचे कथा-साहित्य पर इस प्रकार छाया हुआ था कि अनेक अन्य श्रेणियों के कथाकारों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हो सका था। नग्न यथार्थवाद के समर्थक उग्र, चतुरसेन, सर्वदानन्द वर्मा और ऋषभचरण जैन उनके समय से ही लिख रहे हैं। नग्न यथार्थवादियों ने जो कुछ लिखा वह समाज में व्याप्त घृणित यथार्थ का पूरा या सही चित्र नहीं बन सका था (सचाई उससे कहीं ज्यादा थी), पर उनकी 'नग्नता' के प्रति उतनी ही प्रीति साहित्यिक सीमा को लाँघ गई थी। अब भी उग्र और चतुरसेन लिख रहे हैं और 'जीजी जी' में उग्र अपनी पूर्व-परम्परा से कुछ हटे प्रतीत होते हैं। चतुरसेन ने अपने पास 'वर्तमान' से 'वस्तु' को खोज सकने का झंझट छोड़कर इतिहास या पौराणिकता की ओर रुख कर लिया है। 'वैशाली की नगर वधू' और 'वयं रक्षामः' जैसे भारी-भरकम उपन्यास लिखकर उन्होंने इतिहास की 'प्रामाणिक' घटनाओं को कलाबद्ध करने के प्रयत्न में अनेक कल्पित और श्रुत घटनाओं से ही उन्हें भर दिया है।

जैनेन्द्र का मार्ग अलग था। उन्होंने पारिवारिक जीवन में व्यक्ति की मनःस्थिति को समझने का यत्न किया। उनका एक आदर्श भी रहा जो अद्वैतवाद और गाँधीवाद को मिलाकर खड़ा किया गया था। नारी के जीवन की पीड़ा को निखारने का आरम्भ जैनेन्द्र ने ही किया और वह ढंग प्रेमचन्द से भिन्न था। प्रेमचन्द की पद्धति समाज-शास्त्रीय थी, जैनेन्द्र की भावनामयी। उन पर रवि बाबू के पात्रों का प्रभाव भी पड़ा; किन्तु एक तो इस कारण कि उनकी भाषा सरल दीखने पर भी वक्र रेखाओं की भाँति घूम गई थी, दूसरे गाँधीवादी प्रभाव से भी उनके पात्रों में वह शक्ति नहीं आई जो रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में थी। जीवन के प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनास्था भी जैनेन्द्र में कहीं-कहीं मिलती है।

जैनेन्द्र के व्यक्तिवाद को अज्ञेय ने ठीक मार्ग माना है। वे समाज के बन्धन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे पश्चिम के दार्शनिकों, विशेषकर फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषणवादियों तथा बर्ट्रेंड रसेल से प्रभावित हैं, जिनका खयाल है कि समाज का बन्धन व्यक्ति के विकास को रोकता है। उनके लिए समाज-व्यवस्था से व्यक्ति के नैतिक स्तर या व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'शेखर : एक जीवनी' तक तो गनीमत थी कि वे दुःख-दर्द को मिटाने के लिए, वैयक्तिक विद्रोह ही सही, चाहते थे, पर 'नदी के द्वीप' में समाज को बिल्कुल अलग करके व्यक्ति का असली 'विकास' दिखाया गया है। कुछ कहानियों में अवश्य, विशेषकर 'जयदोल' और 'शरणार्थी' में, समाज से रिश्ता कायम रखा गया है, किन्तु अधिकतर वे शून्य (Vaccum) में ही अपनी कला की पैंतरेबाजी दिखाते रहे हैं। बिना समाज-गठन को परिपार्श्व में रखे व्यक्ति को समझ सकने का दम भरना मात्र अहम् है। अज्ञेय इसके शिकार हैं।

इलाचन्द्र भी फ्रायडियन दृष्टिकोण को उचित मानते हैं, किन्तु उन्होंने अपने को एक बाड़े में बन्द नहीं कर लिया है और यही कारण है कि जहाँ 'काम' को समस्या के रूप में मान कर उन्होंने उसका विश्लेषण किया वहीं वे जन-जीवन के प्रति भी आँख मूँदकर नहीं रह सके। वे देखते हैं कि समाज में बड़ी पीड़ा है, पर उससे निस्तार पाने का मार्ग क्या है यह वे नहीं कहते। शायद वे सोचते हैं कि यह पीड़ा तो चिरन्तन है। यह लगभग उसी तरह का विचार है जैसे मायावादी कहते हैं कि यह तो भगवान् की लीला है, मनुष्य इस जंजाल से नहीं छूट सकता। यदि वस्तुस्थिति को उसके असली रूप में चित्रित कर देना ही सब-कुछ मान लिया जाय तो 'जहाज का पंछी' एक महान् कृति है, किन्तु वही कलाकार का अन्तिम दायित्व नहीं है। मार्ग की ओर संकेत जरूरी है। हाँ मार्ग का प्रच्छन्न होना और भी जरूरी है। पर अगर मार्ग की ओर संकेत न हो तो 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के लेखक भगवतीचरण वर्मा की भाँति उसे कोई मार्ग दीखेगा ही नहीं। भगवती बाबू एक कुशल शिल्पी हैं, किन्तु जहाँ तक वस्तुस्थिति या मनःस्थिति का विश्लेषण कर मौन हो जाने का प्रश्न है वे जोशीजी के ही समान हैं। भगवती बाबू ने 'चित्रलेखा' में कहा—पाप और पुण्य कुछ नहीं है, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में वे बोले—जितने भी रास्ते हैं सभी बेकार हैं, और 'आखिरी दाँव' में सिनेमा-जगत् का नक्शा खींचकर मौन साध लिया गया है। प्रश्न यह नहीं है कि ये लेखक बड़ी-तड़क-भड़क के साथ क्रान्ति की आवाज क्यों नहीं उठाते, पर इतना जरूर है कि वे पाठक को कोई सन्देश क्यों नहीं दे पाते।

'विदा' और 'विजया' के यशस्वी लेखक प्रतापनारायण श्रीवास्तव भी समय के साथ नहीं बढ़ सके। उन्होंने पूर्व-जन्म और आत्मवाद को ही अपनी उपन्यास कला का साध्य माना। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द-काल के लेखकों और उसके बाद के कथाकारों में भी वे ही थे जिन्होंने हिन्दू-ईसाई हृदयों को प्रेम-सूत्र में बाँधने की ओर ध्यान दिया था। 'विसर्जन' उनकी पहले की मान्यताओं में कोई फर्क नहीं डालता।

समाज या व्यक्ति के यथार्थ को दृष्टि में रखकर कुछ लेखकों की कृतियों का मूल्यांकन सम्भव नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने इतिहास से अपने कथानक चुनकर उनमें नये आदर्शों को खड़ा किया है। ऐसे लेखकों में वृन्दावनलाल वर्मा का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वर्माजी की कलम ने पिछले दो सौ वर्षों के बुन्देलखण्ड को नवीन और जीवन्त रूप देकर अमर कर दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

है। उनकी लक्ष्मीबाई, कचनार, निन्नी, लाखी, हेमवती और कुमुद बुन्देलखण्ड की धरती की उपज होती हुई भी भारतीय संस्कृति के गौरव की प्रतीक हैं। इतिहास के प्रति उनका जो दृष्टिकोण है उससे सहमत होना कठिन है, किन्तु उनके पात्रों में जीवन के प्रति जो आस्था और उनके व्यक्तित्व में प्रकृति के बीच में जीने के कारण जो आकर्षण है वह हिन्दी के लिए ही नहीं समूचे भारतीय साहित्य के लिए आदर्श की चीज है। हजारीप्रसाद की 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' उनकी विद्वत्ता और बहुज्ञता को तो प्रकट करती ही है, काफी सीमा तक बाणभट्ट के युग का चित्र भी बड़ी सफलता से पेश करती है। द्विवेदीजी यदि भारतीय संस्कृति की महानता को सकारते हैं तो उसकी दुर्बलताओं से भी इनकार नहीं करते।

इन लेखकों के अतिरिक्त समाज के सुख-दुःख को अपने साहित्य का माध्यम बनाने वाले लेखक मार्क्सवादी वर्ग से उठे। उन्होंने सामाजिक प्रणाली की विकृतावस्था को पहचानकर उसके बदले एक नई व्यवस्था की कामना प्रकट की। व्यक्ति को समाज से अलग काटकर देखने की गलती भी उनसे नहीं हुई और अध्यात्मवाद तथा रहस्यवाद को भी वे नहीं अपना सके। इसका फल यह हुआ कि भौतिक जीवन को अधिक निकट से देखने के कारण उन्होंने मनुष्य से प्यार किया, उसको पशु नहीं माना, न ही इसके लिए बहुत चिन्तित हुए कि 'व्यक्ति का हक' मारा जा रहा है। जन-साधारण की विपत्ति और पीड़ा को, जिसे प्रेमचन्द ने असाधारण ढंग से व्यक्त किया था, इन्होंने और भी निखारा तथा युग के दर्द से भी अपना सम्बन्ध बनाए रखा। मार्क्सवादियों की इस देन को स्वीकार करना ही होगा।

मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों ने जन-समाज के सङ्कटों के प्रति तो ध्यान दिया, पर सड़े-गले मौजूदा समाज के बदले उन्होंने जो आदर्श रखा वह रूस का था। सभी ने ऐसा नहीं किया, पर अधिकांश इसी पद्धति पर सोचते रहे कि रूसी समाज ही एकमात्र नियति है। ऐसा सोचने के कारण अपनी संस्कृति के स्वस्थ तत्त्वों को भी अनदेखा करना लाजिमी था। प्रत्येक देश या समाज अपनी प्राचीन संस्कृति से नाता तोड़कर कभी जीवित नहीं रह सकता, वर्तमान और अतीत का एकसूत्रीय गठन उतना ही आवश्यक है जितना वर्तमान और भविष्य का। दूसरी गलती मार्क्सवादियों ने यौन-सम्बन्धी विषय में की। यहाँ तक तो उचित था कि परम्परागत विकृत यौन-धारणा पर प्रहार करते, झूठी नैतिकता का पर्दा उठा देते, धार्मिकता और सफेदपोशी की आड़ में होने वाले कदाचार के प्रति जन में घृणा उपजाते; किन्तु यह और भी जरूरी था कि उन सब घृणित आचारों के स्थान पर एक नई स्वस्थ यौन-भावना और सम्बन्धों का रूप खड़ा करते, जो वे पूरी सफलता से नहीं कर सके। मार्क्सीय दर्शन से प्रभावित लेखकों ने मध्यवर्ग को भी सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखा। जरूरत मध्यवर्गीय घुटन और बनावटी जिन्दगी से संवेदना प्रकट करने की नहीं है, पर मध्य-वर्ग ही समाज के बुद्धिजीवियों का सबसे बड़ा खजाना है, जरूरत यह सत्य भुला देने की भी नहीं है।

सबसे पहले राहुल सांकृत्यायन ने ही मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कहानी और उपन्यास लिखे। 'वोल्गा से गंगा' के प्रकाशन पर कई आलोचक तो बेतरह घबरा गए थे कि आर्यों के इस पवित्र देश में इस तरह की परम्परा-विरुद्ध पुस्तकों की क्या जरूरत? इस ग्रन्थ में राहुल ने बड़ी कुशलता से मनुष्य के इतिहास को कहानियों में लिखने का प्रयास किया था। कहानी इतिहास नहीं हो सकती, कल्पना का समावेश उसमें अवश्य रहेगा; 'वोल्गा से गंगा' में भी यही

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। पर भगवतशरण उपाध्याय इसलिए नाराज हो गए कि उसमें 'साहित्य नहीं था और इतिहास भी सर्वथा गलत था' और रामविलास इसलिए कि उसमें ब्राह्मणों के प्रति रिआयत नहीं की गई थी। उसके बाद ही रामविलास ने राहुल के विरुद्ध सम्प्रदायवादी होने का ग़लत आरोप लगाया था। 'सिंह सेनापति', 'जय यौद्धेय' उनके दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास हैं। पर यह एक सत्य है कि कला की दृष्टि से राहुल बहुत ऊँचे नहीं उठ पाते।

मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र की गहराइयों में पैठकर समाज और व्यक्ति के प्रश्नों का हल खोजने में यशपाल एक समर्थ कलाकार हैं। उनके साहित्य को पढ़ने पर हमारे दिमाग में मार्क्स या मार्क्सवाद नहीं आते, आता है अपने इस देश की दरिद्रता का चित्र, घुटन और गलाजत। समाज के यथार्थ को प्रेमचन्द के बाद यशपाल और रांगेय राघव से अधिक समझने में अन्य कोई समर्थ नहीं हुआ। व्यंग्य और विद्रूप करने में यशपाल समूचे साहित्य में बेजोड़ हैं। 'पिंजरे की उड़ान' से 'उत्तमी की मां' तक कहानियों का ऐसा स्रोत है जो हमारे पराधीन और स्वाधीन भारत की उथल-पुथल को सामने रखता है। 'मंगला', 'हलाल का टुकड़ा', 'इसी सुराज के लिए' जैसी कहानियों का यथार्थ पाठक को भीतर-ही-भीतर कचोटकर रख देगा। पर 'मनुष्य के रूप' और 'देशद्रोही' न अपने-अपने युग का चित्र उपस्थित करते हैं, न हमें अनाचार से लड़ने की प्रेरणा देते हैं। यशपाल प्रकृतवादियों से भी बहुत प्रभावित हैं। उन्होंने सेक्स के प्रति वही दृष्टिकोण रखा है जो फ्रेंच प्रकृतवादियों का था। अपनी कहानियों में तो उन्होंने समाज और व्यक्ति की समस्याओं को बड़ी पैनी दृष्टि से देखा, किन्तु उपन्यासों में वे यौन-सम्बन्धों की विकृतियों का चित्रण करते करते-उसमें रस लेने लगे।

रांगेय राघव ने भरसक अपने को यशपाल की इस कमजोरी से बचाया। उनका 'घरौंदे' शिल्प की दृष्टि से हिन्दी के लिए नई चीज थी। भाषा और शैली के नयेपन ने पाठकों को मोह लिया था। रहमान के चरित्र में कमरे में बैठकर क्रान्ति की बात सोचने वालों पर व्यंग्य होने से एक मार्क्सवादी आलोचक नाराज हो गए, पर वह एक सत्य था, इसलिए सारे विरोधों के बावजूद उन्होंने जनता के जीवन को अपने साहित्य में सदा ही उतारा। 'विषाद मठ' में बंगाल की आकुल मानवता की छटपटाहट का एक भयंकर सत्य उन्होंने उपस्थित किया। स्वाधीनता के बाद लिखा गया 'हुजूर' लघु उपन्यास होने पर भी अधिक-से-अधिक समाज की यथार्थता को समोने का सफल प्रयत्न था। हिन्दी में तो नहीं ही, शायद भारतीय साहित्य में भी इतने कम में इतना अधिक कह सकने वाला कोई उपन्यास नहीं लिखा गया। वर्ग-द्वन्द्व के चित्र के कारण बौखलाए अहिंसा और समझौतावाद की दृष्टि से इतिहास को देखने वाले लोगों ने 'मुर्दों का टीला' उपन्यास का महत्त्व भरसक कम करने का नारा लगाया पर, सचाई यह है कि आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के मिलन को दिखलाने का बड़ा ही कुशल प्रयास इसमें था। इतना सब होते हुए भी रांगेय राघव ने अभी किसी ऐसे चरित्र का निर्माण नहीं किया जो सर्वयुगीन महत्त्व का हो।

नागार्जुन के उपन्यासों में स्थानीय रंग (Local clour) अधिक मिलता है, इसीलिए उनके पात्रों में ग्रामीण जीवन की उदासी और सुकून, प्रीति और डाह के जो दृश्य दिखलाई पड़ते हैं वे यथार्थता के इतने निकट होते हैं कि हम उन्हें पढ़ते समय उनके व्यक्तित्व में अपनी तस्वीर देखते हैं। पर यह स्थानीय तत्त्व हार्डी के उपन्यासों से भिन्न है। हार्डी ने कुछ पात्रों को लेकर यह दिखलाना चाहा कि नियति के नियम में बँधा जीवन अन्त में पीड़ा का कोष ही है, नागार्जुन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीड़ा को, नियति को भी मनुष्य के जीवन से ऊपर नहीं मानते, उनका ध्यान पीड़ा को देख सकने पर भी उसके कारण व्यवस्था पर सदा रहता है। मिथिला की ग्रामीण जनता के दुःख और पीर को नागार्जुन से अधिक शायद ही कोई जनता हो। नगर के जीवन का ज्ञान उनको कम है। इसके विपरीत यशपाल और रांगेय राघव का शहरी ज़िन्दगी का अध्ययन बहुत गहरा है।

मन्मथनाथ की कहानियाँ ही उनको यथार्थवादी सिद्ध करती हैं। वे एक ओर तो व्यक्ति को व्यवस्था की उपज मानती हुई उसके भीतरी भावों—प्रेम, ईर्ष्या—को भी कला के माध्यम से समझने का यत्न करती हैं, दूसरी ओर उनमें विद्रूप और तीतापन भी मिला होता है। इस दृष्टि से 'शिवादानी का अन्त' एक श्रेष्ठ रचना है।

'अश्क' से रामविलास बहुत नाराज़ रहते हैं और शिवदान अति प्रसन्न। 'गिरती दीवारें' को भी रामविलास कोई महत्व देने को तैयार नहीं, जबकि यह उपन्यास पंजाब के मध्यवर्गीय जीवन को काफी निकट से देखता है। कम्यूनिस्ट-दर्शन के अनुसार मध्यवर्ग प्रतिक्रियावादी है, इस कारण रामविलास इस वर्ग के जीवन के बारे में कुछ भी सुनना बरदाश्त नहीं कर सकते; पर यह भी एक सत्य है कि बावजूद अपनी कमज़ोरियों के मध्य-वर्ग समाज की बौद्धिक शक्ति है। लेकिन 'अश्क' गोर्की भी नहीं हैं, जैसा कि शिवदान का कहना है। गोर्की ने यदि अपने युग-यथार्थ को पहचाना था तो वह जीवन के यथार्थ को भी अधिक जानते थे।'अश्क' की 'बड़ी-बड़ी आंखें' तो वीणा और संगीत के क्रिया-कलापों को ही बखान कर रह जाती हैं। फिर 'नदी के द्वीप' की असामाजिकता से अश्क क्यों नाराज हैं ?

'बया का घोंसला' में पहाड़ी ने भी पहाड़ी जीवन के दर्द को व्यक्त किया था। वे यदि मार्क्स से प्रभावित हैं तो फ्रायड से और अधिक। 'हिरन की आँखें' की कहानियाँ इसका प्रमाण हैं। उनके पास शिल्प की भी कमी है।

विष्णु प्रभाकर की दो कहानियाँ 'धरती अब भी घूम रही है' और 'नचिकेता' उनकी कहानी-कला के विकास की ओर स्पष्ट संकेत हैं। गांधीवाद से प्रभावित प्रभाकरजी के सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। नौकरशाही पर जैसा व्यंग्य 'धरती अब भी घूम रही है' में है वैसा इधर कई वर्षों से हिन्दी-कहानी में नहीं देखा गया था। 'नचिकेता' बाल-मनोविज्ञान और जीवन-सत्य का ऐसा घुला-मिला रूप है जो हमारे अन्तरमन को झकझोर देता है। सरल, सीधी भाषा में इतना तीव्र 'क्लाइमेक्स' हिन्दी-कहानीकारों में नहीं मिलता। अमृतराय की भाषा भी ललित विषयों से प्रेम रखने वाले कवि की भाँति सरस है, किन्तु 'बीज' में ऐसा लगता है जैसे भाषा की सरसता का लेखक ने अधिक ध्यान रखा है, समाज-सत्य की ओर कम। व्यक्ति के जीवन को घेरकर उसका गला घोंटने वाली समस्याओं की ओर ध्यान खींचा था कृष्ण-नन्दन सिन्हा ने। उनके 'हरदम आग' में शहरी जिन्दगी की छटपटाहट साफ़ तौर से नज़र आती है।

निर्गुण ने मनुष्य की उदात्त वृत्तियों को अपने पात्रों के माध्यम से मुखरित कर ऐसे आदर्श की सृष्टि की कि मनुष्य में हमारा विश्वास बढ़े। 'साबुन' कहानी का प्यार, भाभी और देवर का निश्छल सम्बन्ध इतना प्रभावशाली है कि पाठक पढ़कर सोचता है—अर्थ-संकट के चक्र में पड़ने पर भी जीवन कितना आनन्दमय है! पर निर्गुण में कहीं-कहीं अंधविश्वासों के प्रति भी आसक्ति दिखलाई पड़ती है। शिवप्रसादसिंह में गाँव का दुःख-दर्द कहने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी 'निगु ण' की तरह मन्त्रों के बल पर खराब गले के तुरन्त ठीक हो जाने जैसे उदाहरण नहीं मिलते। यहाँ तक तो ठीक है कि शिवप्रसाद रेखाचित्र बनाते चलते हैं, पर उन रेखाचित्रों का 'लक्ष्य' क्या है यह साफ नहीं हो पाता। कला का लक्ष्य पूरी तरह से स्पष्ट नहीं होना चाहिए, मानता हूँ, किन्तु इतना तो होना ही चाहिए कि पाठक उसे सोचकर पा ले। इस दृष्टि से देखने पर कमल जोशी भी शिवप्रसाद जैसे ही हैं। जोशीजी व्यक्ति के भीतर देख पाते हैं, उसकी बेचैनियों को भी बड़ी कुशलता से व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु वे व्यक्ति से उसकी वर्त्तमान स्थिति के बाद भी कुछ चाहते हैं यह स्पष्ट नहीं है। इसी कारण उनकी कहानियों को पढ़ने के बाद कुछ साफ़ तरह से नज़र नहीं आता, यदि आता है तो बस एक प्रश्नचिह्न ? राजेन्द्र यादव की बात समझ में आती है, यानी अगर वे व्यंग्य के माध्यम से ही कहते हैं तो भी 'लक्ष्य' ऐसा प्रच्छन्न नहीं रहता कि वह कहीं मिले ही न। उनके साथ कठिनाई यह है कि अभी वे यह नहीं निश्चय कर पाए हैं कि प्रगतिवाद या प्रयोगवाद में कौन सही रास्ता है और यदि ये दोनों ही नहीं हैं तो क्या है ? वैसे चेखव के यथार्थवादी दृष्टिकोण से वे प्रभावित हैं।

हाल के ही कथाकारों में रेणु और कृष्णा सोबती के नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। रेणु का 'मैला आँचल' प्रेमचन्द के उपन्यासों के बाद हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास है। एक ग्राम को केन्द्र बनाकर लेखक ने समूचे भारतीय जीवन के पिछले तीन दशकों की उथल-पुथल को जिस भाषा में लिखा है वह भारतीय साहित्य में अपना अलग स्थान रखता है। बिलकुल गाँव की भाषा, गाँव के ही पात्र और ग्रामीण जीवन में धीमे-धीमे होने वाले परिवर्तनों को रेणु ने एक कुशल शिल्पी की भाँति खड़ा किया है। लेखक की दृष्टि केवल वस्तुस्थिति को देखकर नहीं रह गई है, वह आदर्श की ओर भी देखती है और यही कारण है कि डॉक्टर का चरित्र अन्त तक पहुँचकर मानवीय तेज और त्याग का असाधारण पुञ्ज लगता है। उपन्यास के अन्त पर कलात्मक त्रुटि या कोरे आदर्शवाद का दोष लगाया जा सकता है, पर यह निर्विवाद है कि 'मैला आँचल' हिन्दी-कथा-साहित्य के इतिहास में एक कीर्ति-स्तम्भ की भाँति सदा रहेगा जैसे कि 'गोदान' है, 'शेखर' है, 'चित्रलेखा' और 'जहाज का पंछी' है। सोबती का क्षेत्र रेणु से तनिक भिन्न है। परिवार, उसका दुःख-दर्द, बिछोह, व्यक्ति की छटपटाहट को सोबती खूब जानती हैं। उनकी कहानियों की टीस हमें हार्डी और शरत् की याद दिलाती है। सोबती के लिए पीड़ा ही जीवन का सत्य है। उस सत्य को तीव्र अनुभूति और कुशल अभिव्यक्ति देकर लेखिका पाठक के अन्तरमन को गीला कर सकती हैं। बिखराव साधारणतया कहानियों में शक्ति नहीं हो पाता, किन्तु सोबती में वह है।

समाज-सत्य और यथार्थ को कथा-साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति देने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों में अमृतलाल नागर, बेनीपुरी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, मोहन राकेश, कमलेश्वर, ओंप्रकाश और कृष्णदास आदि हैं।

प्रयोगवादियों का अपना अलग अस्तित्व है। उन्होंने एक दूसरा ही मार्ग बनाया है और उसको सही सिद्ध करने के लिए उनका प्रगतिवादियों से वैचारिक द्वन्द्व जारी है। इसीलिए प्रगतिवादियों ने इन्हें बहुत गाली दी। कारण यह था कि इनमें ऐसे अनेक लेखक थे जो 'कम्यूनिज़्म' का विरोध करते थे। विरोध काफ़ी हद तक ठीक था, यह मौजूदा पूर्वी यूरोप और सोवियत के संघर्ष से स्पष्ट हो गया है। प्रयोगवादियों ने भाषा, भाव और कला के क्षेत्र में जो एक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसता (stereotypedness) हो गई थी उसे नष्ट कर नयापन दिया, इसे न मानने का अर्थ है युद्धकालीन और युद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य के सबसे बड़े सत्य से इन्कार करना। यहाँ तक ठीक है कि इन्होंने कम्यूनिज़्म का विरोध किया, क्योंकि किसी भी सिद्धान्त का विरोध करना ग़लत नहीं है, किन्तु उसके स्थान पर 'क्या होना चाहिए' यह न बता सकना ही ग़लत है। प्रयोगवादियों से यह ग़लती हुई। इस कम्यूनिज़्म-विरोध के स्वरूप ने धीरे-धीरे दलबन्दी का रूप ग्रहण कर लिया, इस तरह से जिस चीज के लिए कम्यूनिस्ट लेखकों से इनका विरोध आरम्भ हुआ था कि लेखक को पक्षधर (partisan) नहीं होना चाहिए (और जो ठीक भी था) वही चीज इन्होंने अपना ली। इसी कारण भाषा, शिल्प और भावों को इकट्ठा कर चुकने के बाद इनके यहाँ जिस चीज की कमी पड़ गई वह थी 'वस्तु', यानी इन सब चीजों के माध्यम से क्या कहा जाय? जिस तरह कम्यूनिस्ट लेखकों के आदर्श गोर्की, शोलोकोफ, नरूदा और नाजिम हिक़मत थे, उसी तरह इनके लिए आदर्श यूरोप से ही लिये गए, जैसे ज्वायस, लारेन्स, प्रूस्त, ऑरवेल आदि।

धर्मवीर भारती के पास कवि का हृदय है, भाषा भी है; पर एक तो इसलिए कि मार्क्सवाद का विरोध करना वे अपना कर्त्तव्य मानते हैं, दूसरे मध्यवर्ग के अतिरिक्त वे अन्य किसी से अपना सम्बन्ध नहीं रखते, उनके यहाँ कमी हुई यथार्थ की। 'पृथ्वी और स्वर्ग' की कहानियों में जिस अजाने देश के पात्रों को गढ़ने जैसा प्रयास था, आगे चलकर उन्हीं का विकास हुआ। उनके पात्रों का व्यक्तित्व अंशतः तो इसी जगत् का लगता है पर अधिकांशतः वे हमारे बीच में नहीं लगते। जैसे बादल से कभी-कभी बड़े मनहर चित्र बन जाते हैं पर इनमें स्थायित्व नहीं होता उसी तरह भारती के पात्र हैं। वे मध्यवर्ग के सुख-दुःख को हमारे सामने रखना चाहते हैं, पर उसका भी चित्र अपनी समस्त पीड़ाओं सहित, जो हमें अपनी शक्ति से सोचने को मजबूर करे, कम ही दे पाते हैं। इसके लिए मार्ग है अत्यधिक रोमानियत या भावुकता से निस्तार पाना।

डॉ० देवराज ने भारी-भरकम उपन्यास 'पथ की खोज' लिखकर अपनी भीतरी उथल-पुथल को जाहिर किया था। तीसरे भाग के आने तक अन्तिम बात नहीं कही जा सकती, पर भाषा की नीरसता और प्रभाव डाल सकने की अशक्तता में 'पथ की खोज' बेजोड़ है। उन्होंने इसमें यत्न किया है कि वे निष्पक्ष होकर परिस्थितियों या सिद्धान्तों को देखें, लेकिन 'प्रजा शोस्लिस्टों' के सिद्धान्तों में उनका विश्वास छिपता नहीं। 'भीतर-बाहर' छोटा है इसीलिए सफल है, क्योंकि कुछेक चरित्रों को लेकर लेखक एक वातावरण को सजीव कर देता है। भाभी के पागल होने पर मध्यवित्त समाज की उत्पीड़ा पाठक को झकझोरकर जैसे कहती हो यह यथार्थ है, इस यथार्थ से मुँह चुराना असम्भव है, और सचमुच देवराज का यह लघु उपन्यास उनके मध्यवर्गीय जीवन के अध्ययन को प्रकट करता है।

प्रभाकर माचवे अपने उपन्यासों में मनोविश्लेषण की आड़ में अपनी बहुज्ञता को दिखाने या समझाने में सफल अवश्य होते हैं, पर कथानक दब जाता है और प्रश्न या समस्याएँ भी, जिन्हें लेखक उठाना चाहता है, नहीं उठ पातीं। 'परन्तु' और 'सांचा' कुछ जोड़े हुए कतरनों का संग्रह लगते हैं। मात्र प्रयोग कर सकने की लालसा कला और मनोविश्लेषण दोनों को कितनी क्षति पहुँचाती है, यह माचवेजी के उपन्यासों से स्पष्ट है। 'ड्रामा' इसका प्रमाण है।

इस दल से सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों में लक्ष्मीनारायणलाल, गिरधर गोपाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना हैं। सर्वेश्वरदयाल लगभग उसी धारा के उदीयमान लेखक हैं, जिसके कि ऑरवेल और कोयस्लर, अर्थात् जिनका एकमेव ध्येय कम्यूनिस्टों को जनता की नजर में गिराना है। 'सोया हुआ जल' बस इतना ही करता है। गिरधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर' उवायस की परम्परा में आता है। ओंकार शरद् का सम्बन्ध इस दल से टूट चुका है।

प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, किन्तु प्रयोगवादी दल से कोई सम्बन्ध न रखने वाला उपन्यास शिवसागर मिश्र का 'बहती गंगा' है। लगभग पिछले दो सौ वर्षों की घटनाएँ और जीवन को गंगा की लहरों के माध्यम से कहलाकर लेखक कुछ अमर पात्रों और मानवीय त्याग-शौर्य का रूप पेश करता है। बीसवीं सदी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, जैसे सत्याग्रह, अनशन और पंडा-जगत् की कारस्तानियों के प्रति लेखक का मौन अनुभव की कमी के कारण ही है। भूमिका में 'विश्व-साहित्य में विशिष्ट देन' का दावा भी उतना ही भ्रामक है जितना 'पथ की खोज' में प्रूस्त से तुलना। उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' किसी 'वाद' से अपना सम्बन्ध न रखते हुए भी बम्बई के निकट के बरसोवा-निवासियों का जैसा चित्र उपस्थित करता है, वह 'मैला आँचल' के घोर यथार्थ की भाँति ही प्राणवान् हैं, अन्तर केवल इतना है कि उसमें रेणु-जैसा व्यंग्य या विद्रूप नहीं है।

हिन्दी-कथा-साहित्य पर एक दृष्टि डालने से इतना स्पष्ट है कि यहाँ ईमानदार लेखकों की कमी नहीं है। व्यक्ति के अन्तरमन में चक्कर लगा सकना ही काफी नहीं है, अपने से परे की पीड़ा और निरन्तर होने वाले अन्याय के प्रति सचेत रहना और भी जरूरी है। कलाकार का काम यथार्थ से मुँह मोड़ना नहीं है, पर वह राजनीतिक सम्प्रदायों के लिए परचे तैयार करने वाला कारकुन भी नहीं है। वह कदाचार से लड़ता है, जीवन में आस्था दिलाता है और मनुष्य के 'मनुष्यत्व' को उभारता है। जब समाज-जीवन में विचार और आदर्श विरुद्ध होकर उसकी गति रोक देते हैं तो कलाकार नये आदर्श, नये मानों को स्थापित करता है। साहित्य या कला में यथार्थ का अर्थ निरुद्देश्य होकर जो है उसी का स्वरूप खड़ा करना होता तो वह अधिक मुश्किल काम नहीं था। मुश्किल काम है नये मार्ग की ओर संकेत कर सकना। जो लेखक वस्तुस्थिति में प्रवेश कर समस्याओं को देख सकने के साथ ही सड़े-गले तत्त्वों के स्थान पर स्वस्थ जीवन के निर्माण में सहायक तत्त्वों को समझ सकता है वही यथार्थ और आदर्श में समुचित समन्वय स्थापित करता है। आने वाले युग की जनता उसे ही याद रखेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन : भारतीय लेखक

अनन्त चतुर्वेदी

भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास में सामाजिकता का आग्रह प्रेमचन्द की रचनाओं से आरम्भ होता है। यह सच है कि प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यास सामाजिक परिवेश से प्रभावित होते हैं और उनकी कथावस्तु सामाजिक समस्याओं एवं समाधानों को इंगित करती है; परन्तु उनमें सामाजिक चिन्तन की न वह व्यापकता मिलती है, न सामाजिक समस्याओं के प्रति वह गहरी अनुभूति, जो प्रेमचन्द की विशेषताएँ हैं। प्रेमचन्द की सामाजिक अन्तर्दृष्टि अपूर्व थी और उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संघर्षों, अन्तर्विरोधों और व्यंग्यों को अपने उपन्यासों के माध्यम से मुखरित किया है। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक हम भारतीय नगर और ग्राम की एक अत्यन्त विशाल चित्र-पटी से परिचित होते हैं और इन रचनाओं के सैकड़ों चरित्रों के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्ग और उनकी समस्याएँ हमारे सम्मुख आ जाती हैं। किन्तु प्रेमचन्द के सामाजिक चिन्तन की भी अपनी सीमाएँ हैं। वह अधिकतः सामूहिक या समूहगत दृष्टि से बँधा हुआ है और मानव के चिरंतन प्रश्नों से उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया है। उसमें तथ्यवादिता की प्रधानता है और कभी-कभी ऐसा लगता है कि जिस जीवन का चित्रण प्रेमचन्द कर रहे हैं वह मात्र सतही बनकर रह गया है। इसका कारण केवल इतना ही है कि गहरी अन्तर्दृष्टि के होते हुए भी उनकी चित्रपटी इतनी विशाल है कि वह सब पर अपना समान ध्यान रखकर चलना चाहते हैं। दूसरे, कविता और कल्पना का संस्पर्श जिस औपन्यासिक सामाजिक चिन्तन को सप्राण बनाता है, वह प्रेमचन्द में अत्यन्त सीमित रूप में है। सन् १६२८ के लगभग इस स्थिति की प्रतिक्रिया हिन्दी-उपन्यास में परिलक्षित होती है और तटस्थ चित्रण का स्थान औपन्यासिक व्यंग्य तथा काल्पनिक चित्रण को प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप अभिव्यक्ति में बल आता है और उपन्यास-कार सामाजिक तथ्य को चिरंतन समस्याओं के साथ गूँथने लगते हैं। और ये चिरन्तन समस्याएँ होती हैं कि वास्तव में समाज को किस दृष्टिकोण से देखना चाहिए, वास्तव में समाज में पाप और पुण्य की क्या व्याख्या हो, प्रेम और विवाह का क्या स्वरूप हो, और समाज में व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य क्या माना जाना चाहिए, आदि। ये समस्याएँ अलग-अलग रूपों में उठती हैं और लेखक तटस्थ दर्शक की स्थिति से ऊपर उठकर इन पर अपना ठोस निर्णय देता है। नैतिकता और आदर्श के तत्त्व उसके इन निर्णयों में बाधक नहीं होते और इसीलिए चित्रण के क्षेत्र में संयम का स्थान अतिवादिता को मिलता है। प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों में सामाजिक चिन्तन की एक नई ही धरती उभरने लगती है और जीवन का सत्य कला का सत्य बनकर सामने आता है। 'निराला' और भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास इसी भाव के विकास की सूचना देते हैं। उनमें कवि-दृष्टि की प्रधानता है और भावना का उन्मुक्त विलास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। प्रेमचन्द के सामाजिक चिन्तन से उनके सामाजिक चिन्तन की प्रकृति ही भिन्न है। उसमें उतना दिक्व्यापी प्रसार भले ही न हो, उतनी क्रान्तिदर्शिता भी नहीं है—परन्तु एक नया बौद्धिक आधार अवश्य है। उनकी वैचारिकता भी प्रेमचन्द के उपन्यासों की वैचारिकता से अधिक पुष्ट है। प्रेमचन्द का साहित्य चित्रणमूलक कहा जा सकता है और इन उपन्यासकारों की रचनाएँ समस्यामूलक एवं तर्कमण्डित। उनमें मध्यवित्त समाज की द्वन्द्वात्मक स्थिति अधिक स्पष्ट रूप से उभरी है।

भगवतीचरण वर्मा हिन्दी के ख्यातिप्राप्त कवि, कहानीकार औरउपन्यासकार हैं। उपन्यास-क्षेत्र में उनका आगमन 'पतन' के साथ हुआ, किन्तु उनकी प्रसिद्धि 'चित्रलेखा' के प्रकाशन और उनके सफल फिल्मीकरण से हुई। ये दोनों ही उपन्यास उस युग की प्रवृत्तियों से विभिन्न रूप में थे—विशेषकर 'चित्रलेखा' एक नवीन ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण लेकर आई थी, इसलिए वर्माजी का उपन्यास-क्षेत्र में स्वागत और मान हुआ। 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'आखिरी दाव' उनके अन्य उपन्यास हैं जो विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गए हैं।

'तीन वर्ष'

विवाह और प्रेम दोनों में क्या सम्बन्ध है यह प्रश्न बहुत ही उलझा हुआ है और इसकी यह उलझन ही इसको विभिन्न व्यक्तियों के सामने विभिन्न रूप में रखती है। क्या विवाह के लिए प्रेम आवश्यक है, अथवा प्रेम का अन्त विवाह में ही होना चाहिए? हर व्यक्ति इस सम्बन्ध में अपनी अलग राय दे सकता है और हो सकता है कि उसकी राय उसके ढंग से सही हो। 'तीन वर्ष' की मूलाधार समस्या यही है।

'तीन वर्ष' का नायक रमेश प्रभा से व प्रभा रमेश से प्रेम करती है। दोनों सुन्दर हैं, दोनों युवक हैं, परस्पर प्रेम होना आश्चर्यजनक नहीं। आदर्शवादी रमेश प्रेम का अन्तिम परिणाम विवाह मानता है, यद्यपि उसका अधिक समझदार और दुनिया को परखे हुआ मित्र अजीत जानता है कि निर्धन रमेश व विलास में पली ऐश्वर्य की अभ्यस्त प्रभा के मध्य विवाह-सम्बन्ध असम्भव है। प्रभा स्वीकार करती है कि रमेश से उसे प्यार है, किन्तु विवाह के लिए वह राजी नहीं। उसके अनुसार प्रेम का सम्बन्ध वासना-भोग से है, यौवन की उन्मुक्त लालसा से है, विवाह का सम्बन्ध है जीवन-यापन अर्थात् धन की सुविधाजनक स्थिति से। रमेश की सामर्थ्य इतनी नहीं कि वह प्रभा की आवश्यकताओं को, जो काफी बढ़ी हुई हैं, पूरी कर सके। अतः विवाह का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

दुनिया से भागा हुआ, शराब की बेहोशी में अपने ग़म को गलत करने में सचेष्ट रमेश का अनायास सरोज से परिचय होता है और दुनिया को चाँदी से तोलने वाली 'हृदयहीन' वेश्या निरुद्देश्य जीवन को ढकेलने वाले इस लापरवाह नवयुवक की ओर आकर्षित हो जाती है। उस वेश्या के यहाँ, जहाँ प्रेम का मूल्य अर्थ की सीमा से नापा जाता है, रमेश सच्चा प्रेम पाता है। मदहोशी के आलम के साथ जीवन की कोमल अनुभूति का उसके जीवन में समन्वय हो जाता है। किन्तु उस समय तक वह प्रेम को परखने की शक्ति ही खो चुका था, अतएव वह पत्थर-हृदय व्यक्ति सच्चे प्रेम की उपेक्षा कर पतन के मार्ग की ओर, पशुता की ओर बढ़ता जाता है, दुनिया और स्वयं से बेखबर। सरोज के त्याग से उसका जमा हुआ हृदय पिघलता है किन्तु होश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आकर देखता है कि उसने सरोज को खो दिया है, उसकी अपनी निष्ठुरता से हत्या कर दी है। इसे हत्या ही कहना उचित होगा। उस समय प्रथम बार उसे ज्ञात होता है कि प्रेम में केवल पाना ही पाना नहीं है, त्याग भी होता है, कुछ देना भी होता है। प्रेम का चरम उत्कर्ष त्याग है। सरोज का त्याग उसके मोह के नशे को तोड़ देता है और वह लाखों की सम्पत्ति का स्वामी बनकर, किन्तु हृदय की निधि लुटा निर्धन बन, उठने के लिए फिर संसार में आ जाता है, क्योंकि सरोज ने मरते समय उठने का आग्रह जो किया था। लखपती रमेश से विवाह करने में प्रभा को अब कोई आपत्ति नहीं है, वरन् वह उसके लिए उत्सुक है; किन्तु सरोज को खोकर रमेश सीख गया है कि विवाह आत्माओं का सच्चा सम्बन्ध है और उस दृष्टि से उसका सरोज से वास्तव में विवाह हो चुका है।

तब अन्त में प्रश्न उठता है कि प्रेम क्या है? क्या प्रभा का लेन-देन, शारीरिक विलास का नाम प्रेम है, अथवा सरोज का मौन त्याग? लेखक का मत है कि विवाह का आत्मिक सम्बन्ध प्रेम है। किन्तु लेखक का यह कथन भी बहुत अस्पष्ट-सा है। वस्तुतः "**प्रेम की परिभाषा करना असम्भव है। हम प्रेम को समझ सकते हैं, उसको अनुभव कर सकते हैं, पर उसकी परिभाषा करना हमारी शक्ति के बाहर है।**" प्रेम के दो रूप—एक तो जो प्रभा का आदर्श है और दूसरे की साधना सरोज में दिखाई देती है—सामने आते हैं। दोनों रूप विभिन्न हैं। कौनसा रूप सत्य है इसका अन्वेषण रमेश द्वारा कराया गया है। 'चित्रलेखा' के लेखक ने 'तीन वर्ष' में उठाई गई समस्या को उसी ढंग से हल करने के लिए इस बार केवल एक ही पात्र चुना, अतएव उत्तर भी अब की बार अधिक स्पष्ट मिल गया है।

सरोज रमेश से प्रेम करती है व उसके लिए जीवन का बलिदान भी करती है, किन्तु उसके निःस्वार्थ प्रेम की—ऐसे प्रेम की जो धन के बंधन से मुक्त है—सच्ची परीक्षा उस समय होती जबकि सरोज निर्धनता को स्वीकार कर, अभाव की चपेटों को बरदाश्त करते हुए भी रमेश से बिना शिकायत किये हुए अपने प्रेम में अडिग रहती। प्रेम की महत्ता उसी समय प्रकट होती जबकि ऐश्वर्य में पली सरोज अभावों से भी विचलित न होती। बहुत से मनुष्य प्राण दे सकते हैं, किन्तु अभावों को बरदाश्त नहीं कर सकते। सरोज के पक्ष में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसके सामने ऐश्वर्य को त्यागकर निर्धनता को अपनाने का प्रश्न ही नहीं आया जैसा कि प्रभा के सामने आया था, अतः उसको प्रेम प्रदर्शित करने का पूरा अवसर ही नहीं दिया गया। जहाँ अवसर मिला है उसका निश्छल प्रेम सागर के समान अथाह व गम्भीर ही दिखाई देता है। रमेश के सभी अत्याचारों, क्रूर व्यवहारों व अपमानों के बाद भी वह शिकायत-भरी उफ़ तक नहीं निकालती।

रमेश व सरोज का विवाह-सम्बन्ध सम्भव था। वह वेश्या की पुत्री थी तो क्या? जबकि यह सम्भव है कि एक बिलकुल देहाती किस्म का युवक, जिसकी टोपी से चोटी बाहर की हवा खाने को स्वतन्त्र है, कुछ ही महीनों के छोटे-से अरसे में एक बड़े वकील की पाश्चात्य फैशन में पली नवयुवती को आकर्षित कर सकता है; जबकि यह भी सम्भव है कि वेश्याएँ किसी व्यक्ति में दार्शनिकता की बू पाकर विचित्र भाव से देखें और शीघ्र ही यह भाव एक निःस्वार्थ व निश्छल प्रेम का रूप धारण कर सकता है; जबकि यह भी सम्भव है कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने पहले शायद शरबत, सोडा भी न चखा हो, अनायास ही पक्का शराबी बन बैठता है और 'नीट' ह्विस्की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के गिलास-के-गिलास उँडेलकर भी होश कायम रखकर पुराने शराबियों को चकित कर सकता है (शराब पीना अपने हाथ में है, किन्तु उसके बाद होश न खोना नहीं), तब बहुत-कुछ सम्भव है। उस हालत में वेश्या के साथ विवाह-सम्बन्ध भी सम्भव हो सकता है (कम-से-कम इससे वह समाज में एक आदर्श उपस्थित करने की प्रेरणा दे सकता था)। किन्तु अच्छा हुआ कि उपन्यासकार इस आदर्श को प्रस्तुत करने के चक्कर में न पड़कर अपने रास्ते पर सीधा ही बढ़ता गया है। 'प्रेम क्या है ?' यही समस्या लेकर वह बढ़ा है और उसी के हल में उसे हम प्रयत्नशील पाते हैं।

'तीन वर्ष' के पात्र

वर्माजी के इस उपन्यास में नायक रमेशसहित कुल चार पात्र हैं—रमेश, अजित, सरोज तथा प्रभा। गौण पात्र भी बहुत अधिक नहीं हैं, गिने-गिनाए हैं। इस प्रकार दो प्रमुख पुरुष हैं व दो नारी। ये पात्र दो विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। रमेश व सरोज आदर्शवादी पात्र हैं और प्रेम के आत्मिक पक्ष को स्वीकार करते हैं। अजित और प्रभा प्रेम को यथार्थवादी (भौतिकवादी) दृष्टिकोण से देखते हैं। इस प्रकार एक पुरुष व एक नारी-पात्र एक दृष्टिकोण—आदर्शवादी दृष्टिकोण—के पोषक हैं तो दूसरे दृष्टिकोण—यथार्थवादी दृष्टिकोण—को लेकर आगे बढ़ने के लिए भी एक पुरुष व एक नारी दिखाई पड़ते हैं।

रमेश प्रेम के आत्मिक पक्ष में आस्था रखता है। वह प्रेम को अनादि, अनन्त, मनुष्य का प्राण और जीवन मानता है। यह आदर्शवादी नवयुवक प्रेम का अन्त विवाह में स्वीकार करते हुए आशा करता है कि उसकी प्रेमिका प्रभा उससे प्रेम करने के नाते बिना हिचकिचाहट के जीवन-संगिनी बनना स्वीकार कर लेगी। आशा को ठोकर लगती है और अपनी आस्था को बिना खोए ही रमेश अपने जीवन को बदलना चाहता है, पुराने जीवन को भुला देना चाहता है। इस प्रयास में वह विक्षिप्त-सा हो जाता है और लापरवाही के साथ पतन की ओर बढ़ता जाता है। किन्तु न वह पुराने जीवन को ही खो पाता है और न पुरानी आस्था को ही। यही कारण है कि वह जीवन की नई आस्था ले नये सिरे से प्रारम्भ नहीं कर पाता और जीवन यों ही अस्त-व्यस्त चलता रहता है, उस समय तक जबकि उसको एक दूसरी ठोकर द्वारा, सरोज के त्याग द्वारा, होश नहीं आ जाता।

प्रेम के आत्मिक पक्ष पर पूर्ण आस्था सरोज के हृदय में भी मिलती है। वह वेश्या है, शरीर एवं रूप का सौदा करती है। पैसे का उसके लिए विशेष अर्थ नहीं, चाँदी के टुकड़ों की कीमत इतनी ही है कि उससे शरीर खरीदा जा सकता है। वह एक ऐसे समाज का अंग है जो घृणित माना जाता है, जिस पर किसीको सहानुभूति नहीं, जहाँ सौदा चाँदी के टुकड़ों पर होता है। वह उस समाज में ढकेल दी गई है जहाँ सम्बन्ध क्षणिक होते हैं। सच्चे प्रेम, सहानुभूति-भरे दो शब्दों और ऐसे सम्बन्ध कि जिनमें चाँदी के टुकड़ों का दखल न हो और जो स्थायी हों—वह तरसती रहती है। जीवन में प्रथम बार एक व्यक्ति ऐसा आता है जो उसके रूप और यौवन को चाँदी के बल पर नहीं खरीदना चाहता, जिसको उसके रूप की ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं। वह झुक जाती है, उसे पहली बार सच्ची मानवता का, पीड़ित मानवता का, परिचय मिलता है। हृदय की पीड़ा एक पीड़ित हृदय के सम्पर्क में आकर पिघलने लगती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और पहली बार सरोज मानवता के गुणों से अपने हृदय को छलकता हुआ पाती है। पैसे की उसे परवाह नहीं, उसके पास आवश्यकता से अधिक धन है। उसको तो सच्चे प्रेम की चाह है और वह उस प्रेम की स्निग्ध किरण से रमेश के हृदय को प्रकाशित या अपनी पूर्ण निधि सहित उस पर न्यौछावर हो गई। सरोज को प्रेम के अलावा और कुछ नहीं चाहिए। प्रेम का आत्मिक पक्ष मात्र ही उसे पर्याप्त है। शारीरिक प्रेम तो एक ऐसी वस्तु है कि वह चाहे जहाँ से प्राप्त की जा सकती है। उसने तो अनमोल रत्न पा लिया और उस रत्न को वह प्राण देकर भी रखने में सचेष्ट है।

अजित यथार्थवादी है। उसने दुनिया देखी है। भौतिक सुखों का उसने पूरा उपयोग किया है और वह जानता है कि भौतिक सुखों को महत्त्व देने वाले व्यक्ति की किस अवसर पर क्या प्रतिक्रिया होगी। अजित के पास पैसा है और उसने उसके बल पर सब तरह का आनन्द लूटा है। उसके लिए उनमें कोई नवीनता नहीं और न उस वर्ग के प्रति कोई आकर्षण है जो भौतिकवादी पक्ष का है। प्रभा आदि तितलियाँ केवल खिलवाड़ की वस्तुएँ हैं, उनसे आत्मिक प्रेम सम्भव नहीं—इस तथ्य का उसे पूर्ण ज्ञान है, क्योंकि वह स्वयं न जाने कितनी तितलियों के साथ खिलवाड़ कर चुका है। भौतिकवादी सुखों में उसे कोई आकर्षण नहीं रह गया है। इसीलिए तो वह अपने वर्ग से अलग वर्ग के व्यक्ति रमेश से मित्रता जोड़ता है। रमेश का आदर्शवादी प्रेम उसके लिए एक नवीन वस्तु है, यद्यपि उसके प्रति उसके हृदय में अनास्था का भाव नहीं है। रमेश की असफलता से अजित को धक्का नहीं लगता क्योंकि उसे पहले ही प्रभा की मनोवृत्ति का ज्ञान है। किन्तु उसे वास्तविक धक्का तब लगता है जबकि वह देखता है कि असफल होकर भी रमेश अपनी अवस्था से डिगा नहीं, आस्था को मिटाकर नवीन आस्था—खेलने-खाने की आस्था—को ग्रहण करने के स्थान पर वह (रमेश) स्वयं अपने को मिटाने पर तुला हुआ है। अजित ने दुनिया देखी है, वह यथार्थवादी है और उसके विचार तर्क पर आश्रित होने के कारण एक हद तक सही होते हुए भी प्रेम का ऐसा पक्ष उसके सामने आया जिसकी उसे कम सम्भावना थी और इसका धक्का उसको जबर्दस्त बैठा। उसने अनुभव किया कि रमेश की इस अवस्था की जिम्मेदारी उस पर है। भौतिकवादी आस्था के प्रति आकर्षण तो पहले ही न रह गया था, इस धक्के ने उसे भौतिकवादी सुखों को लात मारकर कहीं चले जाने की प्रेरणा दी। अन्त में प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में रमेश द्वारा लेखक ने जो मत प्रकट किया है उसमें अजित व रमेश दोनों के विचारों का समन्वय है। प्रभा के प्रति भौतिकवादी पक्ष को अवश्य गर्हित माना है। अजित विवाह के लिए प्रेम इसलिए आवश्यक नहीं मानता क्योंकि प्रेम रूप के आकर्षण की उपज होने से अस्थायी है। इस प्रकार वह प्रेम के भौतिकवादी स्वरूप को नहीं स्वीकार करता—यही कारण है कि वह यथार्थवादी होते हुए भी बहुत-कुछ आदर्शवादी है, विवाह के बाद प्रेम के आदर्श पर जोर देता है।

प्रभा ऐश्वर्य में पली है, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हैं। प्रेम को वह पेट-भरे का विलास मानती है। धन प्रमुख है, उसके पश्चात् अन्य वस्तुओं पर ध्यान दिया जा सकता है। इस दृष्टि से वह भौतिकवादी यथार्थ पक्ष को ग्रहण किये हुए है। प्रेम और धन में उसको धन महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। वह प्रेम के यौनपक्ष (Sexual side of love) को ग्रहण करती है। जहाँ सरोज के प्रेम में त्याग का चरम उत्कर्ष है, वहाँ प्रभा के प्रेम में प्राप्ति की चरम लालसा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह का यौनिक प्रेम कोई अलभ्य वस्तु नहीं, वह तो उसे चाहे जहाँ मिल जायगा। अधिक कठिन है धन पाना, इसीलिए वह धन पर विशेष अनुराग रखती है। त्याग की आवश्यकता ही क्या है, जो कुछ रमेश से उसे मिलता है वह तो वह कहीं भी पा सकती है। हाँ, सरोज को रमेश से जो कुछ मिला है वह एक दुर्लभ वस्तु है, यही कारण है कि दोनों के दृष्टिकोण अलग हैं। एक सब-कुछ लुटाकर रमेश से प्रेम करती है, दूसरी धन के पीछे रमेश को ठुकरा देती है।

अजित और प्रभा दोनों यथार्थवादी हैं, अन्तर केवल यही है कि अजित भौतिक वातावरण में रहकर भी लिप्त नहीं है, उसे ही सब-कुछ स्वीकार नहीं करता और प्रभा भौतिक सुखों को ही चरम उद्देश्य मान लेती है। एक ही प्रकार के वातावरण में रहते हुए भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न होने का मूल कारण यही है। इसीलिए प्रभा की प्रेम और विवाह की व्याख्या में यान्त्रिकता है, जो आत्मिक सम्बन्ध को कहीं भी स्वीकार नहीं करती—न विवाह से पूर्व, न विवाह के पश्चात्। अजित प्रेम को बिलकुल त्याज्य न मानते हुए केवल उसकी परिस्थिति में अन्तर-भर चाहता है। वह प्रेम का मूल्य विवाह के पश्चात् मानता है।

लेखक ने अपना निष्कर्ष उपन्यास के अन्त में दिया है। विवाह के दो पहलू हैं—पहला आत्मिक, जिसे प्रेम कहते हैं व दूसरा आर्थिक—जीवन-यापन से सम्बन्धित। प्रभा का प्रेम भोग-विलास तक सीमित था व विवाह का अर्थ था धन के बदले में शरीर का सौदा। प्रेम और विवाह में वह सम्बन्ध नहीं मानती, इसीलिए एक व्यक्ति से वह प्रेम करते हुए उससे विवाह को राजी नहीं होती। जब वही व्यक्ति धनाढ्य हो जाता है तब वह उससे विवाह को उत्सुक हो जाती है। इस प्रकार प्रभा विवाह का कारण धन मानती है, प्रेम नहीं। वह उसके शारीरिक एवं आर्थिक पहलू मात्र को स्वीकार करती है। वह पुरुष का धन लेती है, अपना शरीर देने के बदले में और यह वेश्यावृत्ति है। उपन्यासकार ने जो हल रखा है उसने आर्थिक पहलू पर विशेष ध्यान न दे आत्मिक पहलू को स्वीकार किया है। इस पहलू की स्वीकृति के परिणामस्वरूप ही रमेश सरोज के साथ अपने इस बन्धन को स्वीकार करता है।

उपन्यास एक समस्या को लिये हुए है जो तार्किक शैली में लिखा गया है। वर्माजी की भाषा संयत और प्रांजल है, उसमें ललचाऊपन नहीं है।

'चित्रलेखा' के प्रभाव से उपन्यासकार मुक्त नहीं हो सका है। कुछ सीमा तक यही शैली पकड़े हुए है। 'तीन वर्ष' का अजित 'चित्रलेखा' के बीजगुप्त की भाँति रमेश को अभावों की दुनिया से उठाकर ऐश्वर्य के प्रासाद में लाकर छोड़ देता है, विभिन्न प्रकार के त्याग करने को प्रस्तुत है, यद्यपि वह बीजगुप्त की भाँति महान् नहीं हो सका है, न यह उपन्यास ही उतना ऊँचा उठ सका है जितना 'चित्रलेखा'।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते'

समाज में दो प्रकार के वर्ग हैं—एक वह जो पुराने विचारों में पला है व वे विचार उसके रग-रेशे में इस तरह समा गए हैं कि वह नवीनता का समर्थन नहीं कर पाता और समय के साथ बढ़ने में असमर्थ हो अपने स्थान पर ही अड़े रहना चाहता है। इस प्रयास में वह प्रगतिशील विचारों का विरोध करते हुए अपने साथ ही समय को भी रोकने की चेष्टा करता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु इस चेष्टा में वह स्वयं भी घिसटता चलता है।

दूसरा वर्ग है उस समाज का जो नवोदित भावनाओं का स्वागत करता है, उनके विकास तथा प्रसार में सहायक होता है। अधिकांशतः नवयुवक इस वर्ग में ही शामिल हैं। इस वर्ग में विभिन्न उपवर्ग हैं: यथा साम्यवादी, समाजवादी, क्रान्तिकारी, कांग्रेसी आदि।

प्रथम वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि हैं—पूँजीवादी व साम्राज्यवादी तथा सामाजिक क्षेत्र के पूरक हैं प्राचीन रूढ़िवादी।

द्वितीय वर्ग में भी दो भेद हो गए हैं—१. हिंसावादी, २. अहिंसावादी। क्रान्तिकारी तथा साम्यवादी दल हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास करते हैं, यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास में साम्यवादी दल ने हिंसा का आश्रय नहीं लिया है। कांग्रेस तथा गांधीजी से प्रभावित व्यक्ति अहिंसा में विश्वास करते हैं।

वस्तुतः संघर्ष सबल एवं निर्बल के बीच है। साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध गुलामों का, पूँजीवादियों के विरुद्ध गरीब मजदूरों का, जमींदार के विरुद्ध शोषित किसानों का तथा अपनी इच्छा लादने वाले परिवार के मुखिया के विरुद्ध परिवार के स्वतन्त्र-चिंतक सदस्यों का विरोध है। इस प्रकार समस्या आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार की है।

आलोच्य उपन्यास में सबल वर्ग के प्रमुख प्रतिनिधि हैं पं० रामनाथ तिवारी। वे जमींदार हैं और इस हैसियत से किसानों पर उनका कोड़ा चलता है व पिता तथा परिवार के मुखिया की हैसियत से छोटे भाई व पुत्रों पर शासन अपना अधिकार समझते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति, जिसके पुलिस, फौज, विशम्भरदयाल सरीखे व्यक्ति पुर्जे हैं, सारे देश के शासन को हाथ में रखने में प्रयत्नशील है। इस प्रयत्न में बाधक शक्तियों का दमन करने में प्रथम वर्ग पूर्णतया दृढ़ है। पं० रामनाथ पुत्र से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और किसानों का दमन कठोरता से करते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति भी दमन करने में पूरी तौर पर कठोर व निर्भय है, यद्यपि यह बात दूसरी है कि अहिंसात्मक आन्दोलन को कुचलते समय प्रयत्न करने पर भी बहुत निर्दय नहीं हो पाती।

प्रस्तुत उपन्यास में निर्बल और सबल का संघर्ष तो है ही, साथ ही सबल का सबल से भी संघर्ष हो पड़ता है। शक्ति का पुजारी सबल दल अहं में आस्था रखता है और इस अहं की रक्षा हर कीमत पर करना चाहता है। रामनाथ व विशम्भरदयाल के बीच इसी अहं की भावना ने संघर्ष का बीज रोपा। विशम्भरदयाल तथा रामनाथ दोनों ही शक्ति व अहं के नशे में मदहोश हैं, धन की उन्हें चिन्ता नहीं और इसीलिए एक ही दल—सबल दल के होते हुए आपस में जूझ जाते हैं। पराजय दोनों की होती है। प्रभानाथ को सरकारी मुखबिर बनाने में विशम्भरदयाल असमर्थ रहते हैं और बेटे को मौत से बचाने में रामनाथ असफल हो जाते हैं। सबल की आपसी लड़ाई में ही तो निर्बल को अवसर मिलता है कि सबल की इस निर्बलता का लाभ उठाकर अपनी शक्ति बढ़ाई जाय, सबल को करारी चोट दी जाय।

विरोधी निर्बल दल का प्रतिनिधित्व पं० रामनाथ के तीनों लड़के करते हैं। यह एक मजे की बात है कि उनके तीनों लड़के तीन अलग दलों में सम्मिलित होते हैं व करीब-करीब उच्चतम नेता का पद पा जाते हैं। दयानाथ कांग्रेस का माना हुआ नेता बनता है, उमानाथ साम्यवादी दल के देश के सबसे बड़े नेता का पद संभालता है और प्रभानाथ क्रान्तिकारी दल का नेता न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने पर भी हीरो (Hero) बन जाता है। इस प्रकार असाधारण पिता के तीनों पुत्र असाधारण निकलते हैं। पिता एक वर्ग का प्रतिनिधि है तो तीनों पुत्र तीन अलग दलों में विशेष स्थान रखते हैं।

पिता व पुत्रों की विचारधाराएँ सर्वथा भिन्न हैं। सबका दृष्टिकोण अलग है, सबके रास्ते अलग हैं। सवाल उठता है कि आखिर कौन सही रास्ते पर है और किनका मार्ग गलत है? सब अपने-अपने ढंग से सोचते हैं व उसी ढंग से अपने मार्ग पर चलते हैं। हरेक अपने ढंग से ईमानदारी के साथ अपने मार्ग को ठीक समझकर उस पर बढ़ता है। लेखक ने सबका दृष्टिकोण यथासम्भव तटस्थ की भाँति स्पष्ट कर दिया है। अन्त तक उसकी चेष्टा रही है कि वह किसी एक मार्ग को सही व सीधा मानकर उसके प्रचार में न शामिल हो जाय। सभी मार्ग उसके लिए टेढ़े-मेढ़े हैं, आसान उनमें से कोई नहीं है। तब भी उसकी सहानुभूति गांधीवादी अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रति है। साम्यवादी दल के प्रति उसकी सहानुभूति कम है। कुछ-कुछ वह उसे अराष्ट्रीय मानता है, रूस का चलाया आन्दोलन स्वीकार करता है। क्रान्तिकारी आन्दोलन को भी वह सही नहीं मानता, किन्तु राष्ट्रीय होने के नाते उसकी सहानुभूति का यह भागी अवश्य है। यही कारण है कि वह एक प्रमुख क्रान्तिकारी द्वारा मरते समय आतंकवाद को गलत कहलाते हुए भी अपने मार्ग पर ईमानदार प्रभानाथ व वीणा के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार कायम रखता है और प्रभाकर का चरित्र उज्ज्वल चित्रित करता है। दूसरी ओर गांधीवाद व कांग्रेस का समर्थन करता है और रामनाथ सरीखे दकियानूसी के मुँह से अहिंसा की शक्ति की प्रशंसा व गांधी के प्रति श्रद्धा प्रकट कराते हुए निजी स्वार्थ में लीन दयानाथ की कुछ फजीहत भी करा देता है।

पात्र

प्रत्येक काल में, प्रत्येक राष्ट्र में, समयानुकूल प्रगति के अनुसार नई पीढ़ी बढ़ती है, सम्पूर्ण सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्थाओं एवं मानव की मान्यताओं में क्रमानुसार परिवर्तन होते चलते हैं और पुरानी पीढ़ी भी परिवर्तनों का विरोध करते हुए उनकी बढ़ती धारा को रोकने में असफल हो धीरे-धीरे उनके अनुरूप ढलती चलती है। इस प्रकार नई पीढ़ी तथा पुरानी पीढ़ी में सतत बौद्धिक संघर्ष चलता रहता है, भले ही यह संघर्ष संकटपूर्ण परिस्थिति न उत्पन्न करता हो।

कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं कि देश व समाज में होने वाले इन बाह्य एवं वैचारिक परिवर्त्तनों की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है और पुरानी पीढ़ी की मन्द गति इनका साथ न दे सकने के कारण उपर्युक्त संघर्ष विकट रूप धारण कर लेता है। प्रस्तुत उपन्यास में ऐसा ही अवसर प्रस्तुत हुआ है। पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि एवं उपन्यास के सम्भवतः सर्वप्रमुख पात्र रामनाथ की मनोदशा इन शीघ्र परिवर्त्तनशील परिस्थितियों के कारण ही असन्तुलित हो गई है। वे उलझन में हैं कि अचानक सभी कुछ नवीन और अनजाना-सा क्यों होता जा रहा है। पुराने युग के सुशिक्षित एवं तर्कशील प्रतिनिधि रामनाथ अपने को नये युग का समझते हैं,[1] क्योंकि वे पुरानी रूढ़ियों एवं परम्पराओं के बिना तर्क की कसौटी पर कसे स्वीकार करने को तैयार नहीं, किन्तु जब वे देखते हैं कि वे तो समय से काफी पिछड़ गए हैं अथवा नया मार्ग जाने वाले युग का स्वरूप उनकी समझ के परे है तो उनकी अहम्मन्यता की भावना को ठे

१. पृ० १४२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगती है। सारी समस्या यही है कि वे अपने को पिछड़ा मानने को तैयार नहीं। यहीं उनका नये युग से विरोध है। वे नये युग को स्वाभाविक एवं कल्याणकर मानने से ही इन्कार कर देते हैं। दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी का अल्पशिक्षित एवं तर्कबुद्धि से प्रायः रहित पुरातनपंथी झगड़ू मिसिर में अहम्मन्यता का अभाव होने से हठधर्मिता नहीं है और परिणामस्वरूप वे नई पीढ़ी के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में, उसके साथ कदम मिलाकर चलने में, सफल हैं। उनकी रूढ़िवादिता एवं उनका बौद्धिक पिछड़ापन अज्ञान का परिणाम है, रामनाथ की भाँति वह हठधर्मी के साथ जान-बूझकर नई रोशनी का विरोधी नहीं है। रामनाथ का व्यक्तित्व जितना प्रखर एवं शक्तिशाली है, यदि उनमें उपर्युक्त कमी न होती तो उसके अनुसार उनमें सारे पात्रों की विचारधारा को संचालित करने की शक्ति सम्भव थी। क्रान्तिकारी प्रभाकर भी इस व्यक्तित्व की प्रखरता से भयभीत है,[1] किन्तु पण्डित रामनाथ का स्वयं अपने से ही संघर्ष है। वे जिस बात को तर्क द्वारा समझते हैं उसको स्वीकार करने में उनके हृदय में हिचक है। अपनी इसी दुर्बलतावश वे अपनी शक्ति बहुत-कुछ खो बैठते हैं। वे ऐसे शक्तिशाली नेताओं के समान हैं जिनमें नेतृत्व की क्षमता, प्रबल क्षमता है, किन्तु जो गलत पक्ष का समर्थन कर रहे हों तथा साथ ही स्वयं भी इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। उनकी अहम्मन्यता ने एक ऐसे पुतले का निर्माण किया है जो ऊपर से फौलादी है और हर परिस्थिति में अडिग रहने वाला है, किन्तु जिसके भीतर मानवीय भावनाएँ भी भरी हैं (दबी हुई ही सही) तथा इन भावनाओं की आग इस कठोर फौलादी ढाँचे को भीतर-ही-भीतर जलाकर खोखली करती चली जा रही है। बाहर से अब भी भले ही कठोर फौलादी ढाँचा खड़ा है, किन्तु वस्तुतः उसकी बरदाश्त करने की शक्ति व्यय हो चुकी है।

वास्तव में समस्त जीवन-भर रामनाथ की कोशिश यही रही है कि वे कहीं पराजित न हों। ब्रिटिश शासन के आगे भी वे इसी दृष्टि से सिर नहीं झुकाना चाहते हैं। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन तथा जमींदार वर्ग एक-दूसरे के सहारे टिके हुए हैं और इस दृष्टि से उनमें बराबरी का-सा सम्बन्ध है। लड़कों द्वारा प्रतिपादित नवीन विचारों के आगे अपने विचारों एवं धारणाओं की अवहेलना उनको पुत्रों से जुदा कर देती है। वे अपने विचारों को, अपने व्यक्तित्व को ही, सर्वोपरि मानते हैं। छोटा लड़का प्रभानाथ कहीं झुक न जाय, इसकी चिन्ता है, क्योंकि बच्चों की दुर्बलता में भी वे अपनी पराजय देखते हैं। दोनों बड़े लड़कों को अपने पथ से भ्रष्ट होने से (उनके पथों के विरोधी होते हुए भी) वे बचाते हैं। छोटे लड़के को भी उनसे शक्ति मिलती है कि दृढ़ रहे, किन्तु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि यह दृढ़ता शंकास्पद है। रामनाथ विकल हैं, बेबस हैं। उनकी सारी शक्तियाँ इन परिस्थितियों के सन्मुख निरर्थक हो गई हैं कि वीणा इस कार्य में आगे बढ़ती है। वीणा द्वारा प्रभानाथ को दुर्बलता प्रदर्शित करने से रोकने का कार्य यद्यपि रामनाथ के अहं की रक्षामात्र के लिए नहीं था, किन्तु इससे रामनाथ की पराजय अवश्य बच गई। रामनाथ की पराजय होती है स्वयं के साथ युद्ध में और इस युद्ध में वे इतने जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं, इतने अशक्त हो जाते हैं कि एक अबोध बालक के सहारे के लिए ही व्याकुल हैं। जिस व्यक्ति ने सदैव सब पर शासन करना ही सीखा हो उसका अन्त में एक अबोध बालक को चिपटा लेना उसकी मनोदशा का द्योतक है। स्पष्ट ही रामनाथ भयभीत हैं कि सब-कुछ लुट

१. पृ० २६३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया, कहीं यह सहारा भी न छिन जाय। उनकी सारी शक्ति का महल अब इस छोटे-से सहारे पर ही टिका रह गया है। वस्तुतः यह उस व्यक्ति का अत्यन्त दीन स्वरूप है—उस प्रखर व्यक्तित्व का जो सबको झुलसा देता है, जिसके आगे प्रभाकर सदृश क्रान्तिकारी भी दहलते हैं। तथापि सम्भवतः पहली बार रामनाथ यहाँ हाड़-माँस से बने मानव के रूप में स्पष्ट रूप से प्रकट हो सके हैं, इससे पहले उनके मानवस्वरूप पर अहम्मन्यता का आवरण सदैव ढका मिलता है।

नई पीढ़ी के पात्र अनेक हैं। उनके मार्ग अनेक हैं। रामनाथ के तीन लड़के दयानाथ, उमानाथ तथा प्रभानाथ तीन विविध मार्गों के प्रतिनिधि अनुयायी हैं, शेष पात्र इनके राजनीतिक सिद्धान्तों का न्यूनाधिक पालन करते हैं। उदाहरणार्थ ब्रह्मदत्त को लेने पर ज्ञात होता है कि वह साम्यवादी मजदूर-आन्दोलन का समर्थक होते हुए भी कांग्रेस-दल का सदस्य है।

दयानाथ कांग्रेस का सदस्य एवं प्रमुख नेता है। कांग्रेस के कार्य के हेतु वह अपने पिता के रोष का सामना करता है। उसमें जहाँ एक ओर देश-प्रेम की भावना कूट-कूटकर भरी है और उसके कारण वह विदेशी शक्ति के समर्थक जमींदार वर्ग (पिता सहित) का विरोधी है, वहीं उसमें अहम्मन्यता की पैतृक सम्पदा कूट-कूटकर भरी है। उसमें अपने पिता से स्वभावगत कोई भिन्नता नहीं है। केवल वह कुछ दुर्बल है तथा बौद्धिक तर्क-वितर्कों से परे है। उसका व्यक्तित्व भी उतना प्रखर नहीं है, केवल कठोरता एवं दर्पभाव उसमें है। वह जनता के लिए लड़ता है, किन्तु जनता से, कांग्रेस के अपने अधिकांश साथियों से, भी समान भाव से नहीं मिल सकता है। यह पैतृक अहम्मन्यता उसकी पराजय का कारण बनती है और वास्तव में यह पराजय उसके लिए आवश्यक है। तथापि उसके चरित्र की दुर्बलता इतने से ही प्रदर्शित हो जाती है कि वह पराजित होते ही मार्ग से डिग जाता है और यदि उसके पिता ने, जिन्होंने निर्ममता के साथ अपने इस बागी पुत्र को 'त्याज्य' घोषित कर दिया है, उसको सही दिशा का निर्देश नहीं किया होता तो उसका चारित्रिक पतन तो हो ही चुका था।

उमानाथ भारत के बाहर से अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठन एवं आन्दोलन का प्रशिक्षण प्राप्त करके भारत आया है। उसकी पश्चिम-भक्त दृष्टि में भारत रूढ़िवादियों और जाहिलों से भरा हुआ जंगली देश है। भारत के बुद्धिजीवी वर्ग की हालत उसको और भी परेशान करती है। यदि वह चकित होता है तो अशिक्षित और 'गावदी' ब्रह्मदत्त की तर्कबुद्धि एवं सूझ-बूझ से। अन्तिम धक्का लगता है महालक्ष्मी के प्रेमपूर्ण त्याग एवं अटूट श्रद्धापूर्ण व्यवहार द्वारा। उसकी सारी पश्चिमी विचारधारा आस्था की इस प्रबल आँधी में सूखे पत्ते की भाँति उड़ गई। पश्चिमी तर्कवाद यहाँ भारतीय श्रद्धा के आगे घुटने टेक देता है। उमानाथ के माध्यम से मानो उपन्यासकार ने विदेशी साम्यवाद को भारत से निकाल फेंका है, भारत की भूमि इस पौधे के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती है। यह सम्भव है कि साम्यवाद भारत में आए, किन्तु यह निश्चय है कि वह अपने विदेशी स्वरूप को त्यागकर विशुद्ध भारतीय बनकर ही आ सकता है। उपन्यासकार साम्यवादी धारणा के विपरीत नहीं ज्ञात होता है, किन्तु उसको राष्ट्रीयता-विरोधी साम्यवाद किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है। उमानाथ में भी अहम्मन्यता का बीज विद्यमान है, भले ही पाश्चात्य वातावरण में रहने के कारण उसके हृदय में यह पनप नहीं पाया है। प्रारम्भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वह ब्रह्मदत्त के प्रति जो उपेक्षा भाव प्रकट करता है[1] उसमें दूसरों को तुच्छ समझने की भावना कार्य कर रही है, तथापि उसमें अपनी भूल को स्पष्ट स्वीकार करने का भारी गुण विद्यमान है। अहम्मन्यता के विरोध में यह विशेषता उसके व्यक्तित्व को आकर्षक बना देती है। पश्चिमी स्वच्छन्दता उसकी कमजोरी है जिसके अन्तर्गत वह अपने जीवन में अनेक परिवर्त्तन ले आता है—यथा एक पत्नी के होते हुए भी दूसरा विवाह करके प्रथम पत्नी को तलाक देने का विचार करता है, अपनी दूसरी पत्नी हिल्डा के साथ स्वच्छन्द व्यवहार आदि—किन्तु वह शीघ्र ही अपेक्षाकृत संयत एवं भारतीय वातावरण के अनुकूल होता जाता है।

प्रभानाथ सरल स्वभाव का सीधा-सच्चा नवयुवक है। मानवता के विकृत स्वरूप को देखकर उसका हृदय हिल उठता है, जीवन के प्रति आस्था तक की नींव हिल जाती है और वह अनायास ही उग्र क्रान्तिकारी दल में जा पड़ता है। जीवन की अपेक्षा मानवता के प्रति उसका प्रेम उस समय पूरी तरह प्रकट होता है जबकि वह जीवन पर भीषण संकट की अवस्था में भी अपने घायल साथी प्रभाकर को नहीं छोड़ना चाहता है। प्रभाकर के माध्यम से उपन्यासकार ने हिंसक-क्रान्ति के मार्ग को 'बड़ा गलत रास्ता' बताया है तथा यह भी संकेत किया है कि इस मार्ग को उन लोगों ने अपनाया है 'जो निराश हो चुके हैं'।[2] प्रभानाथ की आयु अधिक नहीं है, अतएव उसमें जीवन के प्रति गम्भीरता का दृष्टिकोण नहीं बना है।

उपन्यास के प्रमुख नारी-पात्रों को दो वर्गों में रख सकते हैं—(१) स्वतन्त्र व्यक्तित्वरहित नारी, तथा (२) स्वतन्त्र व्यक्तिगत सत्तायुक्त नारी। प्रथम वर्ग में महालक्ष्मी तथा राजेश्वरी आती हैं तथा दूसरे में वीणा। तीनों नारी-पात्र प्रेम में त्याग एवं समर्पण को स्वीकार किये हुए हैं। इसके विपरीत एक अन्य नारी हिल्डा का तुलनात्मक चरित्र प्रस्तुत किया गया है। हिल्डा पाश्चात्य समान अधिकार का दावा करने वाली दुर्बल नारी का स्वरूप प्रकट करती है—ऐसी नारी का स्वरूप जो स्वच्छन्दतापूर्ण व्यवहार को प्रगति एवं बौद्धिक चेतना का आधार मानती है। उपन्यासकार ने इस प्रकार पश्चिम तथा भारत के वैवाहिक सम्बन्धों का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है। पश्चिमी दाम्पत्य-जीवन केवल एक आर्थिक समझौता-मात्र है, पति-पत्नी के सम्बन्ध उतने गहरे नहीं हैं जितने भारतीय जीवन में होते हैं। भारतीय दाम्पत्य-जीवन का आधार आत्माओं का मिलन है। उपन्यास के तीनों भारतीय नारी-पात्र भारतीयता के इस विशेष पहलू को प्रकट करते हैं। राजेश्वरी तथा महालक्ष्मी का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है ही नहीं। उनके व्यक्तित्व तो उनके पतियों के साथ ही हैं। सुशिक्षित एवं सबला नारी वीणा का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वह सोच सकती है, स्वयं के निर्णय करती है, किन्तु प्रेम का त्यागमय तथा गहरा स्वरूप उसके चरित्र में भी प्रकट होता है। प्रभानाथ उसका पति नहीं है, किन्तु प्रेम के नाते उसने यह सम्बन्ध मान लिया है और वह काल्पनिक सम्बन्ध भी इतना गहरा है कि उसके निर्वाह-हेतु वीणा स्वयं अपने प्राणों के महत्त्व को खो देती है। भारतीय नारी का जो आदर्श माना गया है वह इन तीनों नारियों के चरित्रों में भरपूर प्रकट हुआ है। रामनाथ सदृश संस्कारी, कठोर तथा जिद्दी व्यक्ति भी, जिसके लिए किसी विजातीय कन्या को पुत्रवधू स्वीकार करना अकल्पित था, इस बंगाली लड़की के दृढ़ एवं आदर्श विश्वास के आगे डिग जाता है

१. पृ० १७४।
२. पृ० ३८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और धार्मिक अनुष्ठानों सहित विधिवत् विवाह-संस्कार के अभाव में भी, केवल एक भावना की शक्ति के सम्मुख नत होकर, इस भावना के सम्बन्ध को चुनौती देने का भी विचार नहीं कर पाता। वह वीणा से पूछता है, 'क्या पत्नी के कर्त्तव्य जानती हो?' मानो वह चुपचाप वीणा के इस अधिकार को कि वह प्रभानाथ की पत्नी है, स्वीकार कर लेता है। भावना की इस शक्ति के सम्मुख इस दर्पयुक्त तथा प्रखर व्यक्तित्व का यह आत्मसमर्पण जहाँ एक ओर रामनाथ की पराजय नहीं प्रकट करता (क्योंकि यह आत्मसमर्पण ही अधिक स्वाभाविक है) वहीं वीणा का चरित्र इससे अधिक निखर आया है। केवल इसी शक्ति के आधार पर वह दुर्बल-सी लड़की उस पराजयपूर्ण परिस्थिति को विनष्ट कर देती है, जिसके आगे रामनाथ का व्यक्तित्व, धन-सम्पदा आदि, श्यामनाथ का उच्च-शासकीय पद एवं भाग-दौड़, सभी असफल सिद्ध हुए थे। इस दृष्टि से वह रामनाथ की सहायिका ही कही जा सकती है।

'आखिरी दाँव'

आज के भौतिकवादी युग में, चमचमाती सभ्यता के इस युग में, सबसे शक्तिशाली है पैसा। पैसा ही मानव का भगवान् है, उसका इष्ट है। पैसे में वह शक्ति है कि उससे शरीर क्रय किया जा सकता है, आत्मा क्रय की जा सकती है। मानव का मूल्य चाँदी के सिक्कों से निर्धारित किया जाता है। वर्माजी के 'आखिरी दाँव' उपन्यास में यही प्रतिपाद्य है।

इस पैसे के साधन द्वारा समाज में ऊँचा स्थान मिलता है। यह पैसा कैसे मिले! कोई भी आदमी बिना बेईमानी के, बिना आत्मा को बेचे, धनवान नहीं बन सकता। रामेश्वर, जोकि इस तथ्य को जान गया है, पूरी तौर पर पैसा पैदा करने में लग जाता है। रामेश्वर को चमेली से प्रेम है और वह जानता है कि पैसे के न होने से ही उसकी चमेली उससे पैसे वाले छीने ले रहे हैं। चमेली को पाने के लिए ही वह पैसा पैदा करने के लिए हर कदम उठाने को तैयार है। रामेश्वर से चमेली को भी प्रेम है। वह रामेश्वर की सच्चे अर्थों में है, किन्तु परिस्थितियाँ उसे दूर ढकेल रही हैं। चमेली के पतन का मुख्य कारण अपने को समझकर रामेश्वर इतना अमीर होना चाहता है कि फिर कोई उसकी चमेली को न छीन सके। जिस पैसे के कारण चमेली को वह पतन के गर्त में ढकेलने को विवश हुआ, उसके प्रति एक प्रकार का रोष-सा उसके हृदय में समा जाता है। वह उस शक्तिशाली पैसे को भी गुलाम बनाने के लिए पागल-सा हो उठा है। दुनिया की कोई शक्ति, चमेली तक में शक्ति, नहीं कि उसकी गति को रोके। दुनिया का कोई तर्क, धर्म व आत्मा की पुकार भी उसके बढ़े कदम को नहीं रोक पाते। जिस भाग्य ने उसको निर्धनता देकर लूटा था उस पर वह हँसना चाहता है, किन्तु भाग्य की अन्त में विजय होती है। अपनी पाप की कमाई वह हार जाता है। यह विजय मंगल की नहीं, भाग्य की है। मंगल तो एक साधन-मात्र है, भाग्य का एक अस्त्र-मात्र है, जिसके रूप में भाग्य रामेश्वर को लूटने आया है। सारा धन तो रामेश्वर हार ही जाता है, किन्तु साथ ही वह आखिरी दाँव, जिसमें उसने बची-खुची पूँजी भी लगा दी थी, हार जाता है। मंगल के सामने तो आखिरी दाँव में वह थोड़े-से चाँदी के टुकड़े ही हारता है, किन्तु नियति के विरुद्ध लगाये गए इस आखिरी दाँव में वह स्वयं अपने और अपनी चमेली को भी हार जाता है। वह उसकी आखिरी हार है। अब हारने को उसके पास कुछ नहीं है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीतने का कोई प्रश्न ही नहीं। इस अवस्था में एक निराशा-मिश्रित विरक्ति (Resignation) के साथ वह झुक जाता है, आत्मसमर्पण कर देता है। अब उसमें कोई विरोध शेष नहीं रहा।

'आखिरी दाँव' में समस्या है पैसे की, किन्तु समस्या को प्रधानता न मिलकर परिस्थितियाँ प्रमुख हो गई हैं। वे नाटकीय तथा फिल्म के ढंग की उतार-चढ़ावयुक्त हैं।

वर्माजी मुख्यतः समस्या-प्रधान उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों में समस्या प्रधान होती ही है। आलोच्य उपन्यास सम्भवतः फिल्म के लिए लिखा गया था। उपन्यास के गठन से तो यही प्रतीत होता है। फिल्म के लिए लिखा जाने के कारण परिस्थितियों को महत्त्व देना पड़ा और इस प्रकार समस्या दब गई, परिस्थितियाँ प्रबल हो उठी हैं। फिल्म-व्यवसाय के क्षेत्र में पूँजीवादी संस्कारों ने कितनी अनैतिकता और भ्रष्टाचार पैदा किया है, उसके चित्रण करने का प्रयास भी इस उपन्यास में है।

जिस प्रकार वर्माजी ने 'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य का, 'तीन वर्ष' में प्रेम और विवाह का, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का द्वन्द्व दिखाया था, उसी भाँति 'आखिरी-दाँव' में पैसे और नैतिकता का संघर्ष है, जिसमें अर्थ की ही विजय है, नैतिकता को बार-बार उसके सन्मुख झुकना पड़ता है। पूरा उपन्यास परिस्थितियों क एका चक्र-सा है जिसमें फँसा मनुष्य विवश-सा है, वह उसमें पराजित होता है।

पात्र

रामेश्वर प्रमुख पुरुष पात्र है। उसमें पौरुष है और इसीलिए वह चमेली के धन पर जगमोहन को भाँति आश्रित होने को तैयार नहीं। स्वयं अपने पाँव पर खड़े होने का आत्मविश्वास उसमें है। यही कारण है कि उपन्यास के प्रारम्भ में ही जुए में सब धन हारने पर उसमें विवशता व भविष्य के प्रति आशंका व आंतक का भाव नहीं है। अपने पर उसे आत्मविश्वास है, इसलिए वह भविष्य से निश्चिन्त है। उसके दृढ़ व्यक्तित्व का ही प्रभाव है कि जल्द ही वह भयङ्कर-कर्मा व्यक्तियों का नेता बन जाता है। रामेश्वर की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह गहरी किस्म का व्यक्ति है, शीघ्र ही बह जाने वाला कच्ची किस्म का नहीं। अपने पर उसे संयम है, यही कारण है कि चमेली को सेठ शीतलप्रसाद के साथ शराब पीते देखकर उत्तेजित हो उठता है अवश्य, किन्तु जल्दी ही वह अपने पर काबू पा लेता है। उसकी यह दृढ़ता, पौरुष व शक्ति सब उसके उस व्यक्तित्व के अंग हैं, जिसके आगे चमेली परास्त है और सब नत हैं, हतप्रभ-से हैं। उसमें कमजोरी है तो केवल एक। वह यह है कि वह जुए के मोह को नहीं छोड़ पाता। अन्त में भाग्य के साथ जुए में वह जिन्दगी का आखिरी दाँव लगाता है जिसमें वह स्वयं अपने को व चमेली को भी हार जाता है। पहली बार वह परास्त होता है। यह पराजय अपनी हार पर नहीं वरन् चमेली को भी खो बैठने पर ही स्वीकार करता है। चमेली के प्रति उसके हृदय में जो सच्चा प्रेम है, उसके ऊपर विश्वास है वे उसके चरित्र को बहुत उज्ज्वल बना देते हैं। चमेली के पतन पर भी रोष प्रकट नहीं करता और न चमेली को पतित स्वीकार करता है। उसके पतन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है। इस प्रकार वह असफलताओं व पाप की जिम्मेदारियाँ दूसरों के माथे पर पटककर मुँह चुराने वाला पलायनवादी नहीं है, वरन् सबको स्वीकार करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए भी पराजय स्वीकार न कर जीवट वाला पुरुष है। चमेली को खोकर वह अवश्य टूट जाता है, यदि न टूटता तो वह आदमी नहीं रह जाता। उसका पतन भी हमारी दृष्टि में उसे गिराता नहीं और अन्त में उसकी पराजय हमें विषाद में डाल देती है।

चमेली प्रमुख नारी पात्र है। परिस्थितियाँ उसे पतन के गढ़े में ढकेलती हैं जिसमें वह गिरती ही जाती है, प्रयत्न बहुत करती है कि सँभाल जाय। उसके पतन के बावजूद रामेश्वर के प्रति उसके हृदय में सच्चा प्रेम है, वह उसे बहुत ऊँचा उठाए रखता है और वह हमारी सहानुभूति की पात्र रहती है। अन्त में सेठ शीतलप्रसाद की हत्या कर वह आत्महत्या करके अपने कलंक को धो डालती है।

इस उपन्यास में भी नारी दुर्बल है, पुरुष का आश्रय चाहती है। चमेली को धन से बढ़कर रामेश्वर की आवश्यकता है।

इस उपन्यास के चरित्रों की यह विशेषता है कि उनमें अन्तर्द्वन्द्व पर्याप्त मात्रा में है। पात्र यथार्थ की भूमि से कहीं अलग नहीं हैं, उन्हें वह स्थिति स्वीकार करनी पड़ती है जिसमें वे फँसे हुए हैं। वे सब परिस्थितियों के शिकार हैं और उनसे हार मान भी लेते हैं। वे बार-बार गिरते हैं और बार-बार उठने का प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु वे पराजित होते हैं—लेकिन यह पराजय बाह्य-जगत् की है, अन्तरंग की नहीं, अन्यथा चमेली पतन के गर्त में गिरकर भी फिर एक बार उठने का प्रयत्न न करती, न रामेश्वर ही अपने जीवन को बदलने की बात को विचारता। इस दृष्टिकोण से उपन्यास अपना विशेष महत्त्व रखता है।

उपन्यास में समस्या परिस्थिति के आगे दब अवश्य गई है, किन्तु बीच बीच में वह सिर उठा लेती है। गुपचुप परिस्थितियों को प्रभावित तो वह कर ही रही है। परिस्थितियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं। रामेश्वर से सम्बन्धित परिस्थितियाँ तो मुख्यतः पैसे की समस्या से ही प्रभावित हैं। रामेश्वर प्रमुख पात्र है, इसलिए उसके कार्य सब परिस्थितियों पर असर डालते हैं। इस प्रकार समस्या का अस्तित्व व अप्रत्यक्ष महत्त्व तो रहता ही है।

विचार-पक्ष

वर्माजी के उपन्यास समस्या-प्रधान हैं। 'चित्रलेखा' में आध्यात्मिक, 'तीन वर्ष' में सामाजिक, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में राजनीतिक, 'आखिरी दाँव' में नैतिक समस्या उपस्थित की गई है। समस्या उपस्थित करते समय लेखक तटस्थ रहने का प्रयास करता है और हर दृष्टिकोण को तार्किक शैली में प्रस्तुत करता है। इस प्रयत्न में वह प्रत्येक पक्ष को पूर्णतया विकसित या प्रकट होने का अवसर देता है। इनकी कला की पकड़ एक वैज्ञानिक की भाँति है जो प्रत्येक वस्तु को परखकर ही अपना निर्णय देने का यत्न करता है, इसलिए उपन्यासों के अन्त में अपना मत भी कहीं-कहीं दिया है। 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', 'आखिरी दाँव', प्रायः सभी में उनका अपना दृष्टिकोण है।

वर्माजी की विचारधारा का मूल आधार केवल अनुभव और तर्क हैं, कोई तात्विक सिद्धान्त नहीं। वे किसी भी मत को मानने वाले नहीं हैं। वे अज्ञेय की भाँति बौद्धिक हैं, जैनेन्द्र की भाँति भावुक और विचारक तथा प्रेमचन्दजी की भाँति विश्लेषण करने वाले हैं; किन्तु वे इन सब कलाकारों की रूढ़िवादिता से अलग हैं, उनसे विशिष्ट हैं। उन्होंने समाज की विभिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारधाराओं को देखा है, उन्हें तर्क पर कसा है और जो निष्कर्ष निकले हैं उन्हें ही उन्होंने तटस्थ दृष्टि से रखा है। वर्माजी ने स्वयं एक स्थल पर लिखा है—"जो कुछ मैं लिखता हूँ, तर्क करने को नहीं लिखता। मैं तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूँ जिन पर मैं अपने उन तर्कों द्वारा पहुँचा हूँ जो अनुभवों और अनुभूतियों पर अवलम्बित हैं। बहुत सम्भव है जो बातें आज मैं कह रहा हूँ वे आगे चलकर मेरे भावी अनुभवों की कसौटी पर गलत उतरें और मुझे स्वयं अपने इन निर्णयों को बदलना पड़े। पर इसके ये अर्थ नहीं कि मैं निर्णय करना ही छोड़ दूँ। मुझे अपने जीवन के लिए कुछ आदर्श तो चाहिए ही।"[1] उनके इन आदर्शों का स्पष्टीकरण उनके एक अन्य लेख से होता है—"जो भी साहित्यकार इस प्रकार के साहित्य का सृजन करता है, जिसमें अप्राकृतिक चीजों का समावेश हो, वह साहित्यिक सफल न हो सकेगा ऐसा मेरा विश्वास है। आज का विकसित मस्तिष्क कल्पना के पेंच-तात्र की सहायता नहीं चाहता—रुपयों से उसे विशेष रुचि नहीं है; वह चाहता है सीधी-सादी बातें, जीवन की वास्तविक घटनाएँ, जिन्हें वह रोज देखता है और कलाकार को जो कुछ लिखना हो, उसे वह वास्तविक जीवन से ही लेना पड़ेगा।......आज हमें जिस साहित्य का सृजन करना है वह वास्तविक मानवीय विकास के आदर्शों को ही सामने रखेगा और उन आदर्शों का प्रचार करने के लिए हमें अपनी कला की नीति भी बदलनी होगी।....मैं फिर कहता हूँ कि हमें, हम साहित्यिकों को, अपने चारों ओर देखना है, दूसरों के दुःख-दर्द को, दूसरों की कमज़ोरियों को अनुभव करना है। हमें मनुष्य को देखना है, उसके कर्मों से सरोकार है। मनुष्य की उपेक्षा करके उसके कर्मों पर अपना निर्णय देना मानवता के लिए हितकर नहीं है।"[2]

कला-पक्ष

वर्माजी के उपन्यासों की कथावस्तु की यह विशेषता है कि वह व्यक्तियों के चारों ओर लिपटी है, उसमें घटनाओं का महत्त्व, बल्कि चरित्र की विशेषताओं का उद्घाटन अधिक है। उन्होंने प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासकारों की घटना-परकता और प्रेमचन्द की वर्णन-शैली तथा आधुनिक वार्तालाप को लेकर विचार-प्रधान शैली के साथ मिलाकर सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। फलतः उपन्यास न तो शुष्क हुए हैं और न बौद्धिकता से बोझिल। उन्होंने सही रूप से प्रेमचन्दीय-कथावस्तु रखने की परम्परा में चमत्कारपूर्ण योग दिया है और उसमें आवश्यक परिवर्तन किया है। प्रेमचन्द की भाँति उनके उपन्यासों में न तो कई कथाएँ-उपकथाएँ चलती हैं और न उनकी भाँति वर्माजी में एकता का अभाव है। उनकी कथावस्तु तो एक श्रृंखला में जुड़ी हुई कड़ी-सी है और यह कथा की श्रृंखला बहुत सावधानतापूर्वक जोड़ी जाती है, कहीं भी अव्यवस्था का अंश नहीं होता।

प्रेमचन्दजी की ही भाँति वर्माजी के उपन्यासों की कथावस्तु में प्रत्येक वस्तु, पात्र,

१. भगवतीचरण वर्मा, 'हमारी उलझन' (लेख-संग्रह), 'विचार-विनिमय' नामक लेख से, पृ० ३०।
२. भगवतीचरण वर्मा 'हमारी उलझन' (लेख-संग्रह), 'एक साहित्यिक दृष्टिकोण' नामक लेख से, पृ० १६ से २४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना का वर्णन विस्तार और सूक्ष्मता से हुआ है। उनकी दृष्टि में कोई भी बात छूटने नहीं पाती है। घटनाएँ भी प्रत्यक्ष जीवन से ली जाती हैं।

पात्र

(१) वर्माजी के पात्रों की अपनी विशेषता है। वे वर्ग के प्रतीक होते हुए भी अपनी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं को समाहित किये हुए हैं, दूसरे रूप में कहा जाय तो उनका व्यक्तित्व ही प्रधानतया उपन्यास में उभर आता है। इस रूप से देखा जाय तो वर्माजी के पात्र व्यक्तिवादी उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। उनके उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के साथ व्यक्तियों का निर्माण हुआ है, व्यक्तित्व में टक्कर हुई है और व्यक्ति की समस्या ने समाज की समस्या का रूप धारण कर लिया है, इसलिए व्यक्तिवादी पात्र रखते हुए भी उनके उपन्यास व्यक्तिवादी नहीं हैं और न वर्माजी व्यक्तिवादी कलाकार ही। पाप-पुण्य, प्रेम और विवाह, विभिन्न राजनीतिक मतमतान्तर के संघर्ष, अर्थ और नैतिकता का सम्बन्ध, व्यक्ति की अपनी समस्या होते हुए भी समाज की समस्याएँ हैं और उनका हल भी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से न दिया जाकर सामाजिक दृष्टिकोण से ही दिया गया है। इसीलिए उनके पात्र किन्हीं अर्थों में अपने व्यक्तित्व से पूर्ण होते हुए भी वर्ग के प्रतीक भी हैं। रमेश, प्रभा, अजित, रामनाथ, दयानाथ, उमानाथ, प्रभानाथ, शीतलप्रसाद, चमेली और रामेश्वर—इस बात के उदाहरण-स्वरूप हैं।

(२) वर्माजी के सभी पात्र परिस्थितियों के शिकार हैं और परिस्थितियाँ ही उनके जीवन के उत्थान-पतन को निर्देशित करती हैं। किन्तु इस क्षेत्र में भी इन पात्रों की अपनी व्यक्तिगत विशेषता यह है कि वे परिस्थितियों के बाह्य रूप से पराजित होते हैं, लेकिन उनका अन्तरंग उनसे पूर्णतया पराजित नहीं होता। उनके पात्रों में अन्तरंग और बाह्य जीवन में संघर्ष चलता रहता है और अन्त में प्रायः अन्तरंग के द्वन्द्व की ही विजय होती है। चित्रलेखा, बीजगुप्त, रमेश, रामनाथ, चमेली और रामेश्वर के जीवन का अध्ययन इस तथ्य का उदाहरण है। वे बाह्य परिस्थिति के सम्मुख झुकते हैं, किन्तु अन्तरंग द्वन्द्व उनके चरित्र को ऊँचा उठा देता है। वर्माजी के चरित्रों की यह विशेषता उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की विशेषता को प्रकट करती है।

(३) वर्माजी के उपन्यासों में मानव की कमजोरी पर विजय पाने का प्रयास है। प्रायः हर पात्र अपनी दुर्बलता से लड़ रहा है, लेकिन केवल इच्छा-शक्ति मात्र से वह ऊपर उठ नहीं पाता, बाहरी सहायता की आवश्यकता होती है। बाहरी सहायता प्रत्यक्ष हो सकती है, जैसे प्रभानाथ व दयानाथ कमजोरी को रामनाथ से व रामनाथ वीणा की सहायता से जीतते हैं। रमेश सरोज की व अजित रमेश की प्रत्यक्ष सहायता पाते हैं। बीजगुप्त अपने सहकारी श्वेतांग द्वारा यशोधरा से विमुख कराया गया है। अप्रत्यक्ष रूप से घटनाएँ भी सहायक होती हैं। चमेली शीतलप्रसाद के शिकंजे से रामेश्वर की गिरफ्तारी की सम्भावना की बात सुनकर छूट जाती है। अन्तर्द्वन्द्व पहले से विद्यमान रहता है, केवल ज़रा-से सहारे की आवश्यकता है।

(४) वर्माजी के पुरुष पात्र प्रायः तर्क अधिक करते हैं। वे स्वयं अपने बारे में अधिक-से-अधिक बता देते हैं, जो कुछ रह जाता है वह परिस्थितियों के चक्र और उनके अन्तर्द्वन्द्व से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट हो जाता है।

(५) वर्माजी के नारी-पात्र विशेष हैं। उनके सभी उपन्यासों में नारी पुरुष पर आश्रित व त्यागमयी है। उसका यह त्याग ही उसको पुरुष से ऊपर उठा देता है और पुरुष को उसके आगे नत हो जाना पड़ता है। 'तीन वर्ष' की वेश्या सरोज रमेश को पतन से अपने व्यक्तित्व द्वारा बचाती है और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में महालक्ष्मी के त्यागपूर्ण व्यक्तित्व के आगे तर्कवादी उमानाथ नत हो जाता है। 'चित्रलेखा' की चित्रलेखा और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की राजेश्वरी देवी भी त्यागमयी नारियाँ हैं। 'आखिरी दाँव' की चमेली रामेश्वर के लिए स्वयं पतन के गर्त में गिरती है और अन्त तक उसे बचाने का यत्न करती है। पाश्चात्य शिक्षा पाई हुई प्रभा सदृश तितलियाँ अवश्य अपवाद हैं।

शैली

वर्माजी की शैली तार्किक है और भाषा साफ-सुथरी। वह केवल तर्क करने के लिए तर्क नहीं करते, वरन् तथ्य प्रस्तुत करने के लिए तर्क करते हैं। सही रूप से वे टेकनीक के क्षेत्र में एक प्रयोगवादी कलाकार की भाँति हैं जो इस दिशा में बहुत हद तक सफलता पा चुका है।

उपसंहार

वर्माजी के उपन्यासों में प्रेमचन्दजी की भाँति व्यापक जीवन-दृष्टि नहीं है, उनके उपन्यास एक सीमित क्षेत्र और वर्ग की कुण्ठाओं और समस्याओं से सम्बन्धित हैं। प्रेमचन्द के सम्मुख एक विशाल संसार था; उन्होंने उसे अपनी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखा था—किन्तु वर्मा-जी ने जीवन के किन्हीं अंशों को लिया है और प्रेमचन्द की भाँति ही सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से उठाया है। प्रेमचन्द की ही भाँति उनका दृष्टिकोण भी मानवीय रहा है, मानव को उन्होंने दुर्बल माना है और इस दुर्बलता से छूटने का उसका प्रयत्न ही उनके उपन्यासों के मूल में है। कथा की ऐकान्विता के क्षेत्र में वे प्रेमचन्द से आगे हैं और उन्होंने गाँव एवं नगर की कथावस्तु को साथ-साथ नहीं उठाया है। उन्होंने केवल नगर के जीवन की ओर ही अपनी दृष्टि रखी है और उसमें भी प्रायः उच्च-मध्यमवर्ग की ओर। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने एक लेख में वर्माजी के विषय में लिखते हुए कहा है—**"स्वर्गीय श्री प्रेमचन्दजी ने अपनी सरल, सुबोध भाषा में लोगों का ध्यान समाज की ग्रामीण तथा निम्न श्रेणी की अवस्था की ओर पहली बार दिलाया था, भगवतीचरण जी ने अपनी आकर्षक शैली में पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान जीवन के आदर्शों के सम्बन्ध में उनके उलझे हुए मस्तिष्क की ओर आकर्षित किया है।"**[1]

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, 'विचारधारा' (लेख-संग्रह), पृ० १७०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन : विदेशी लेखक

गंगाधर झा

मैक्सिम गोर्की

हिन्दी-जगत् में गोर्की निर्विवाद रूप से संसार के एक श्रेष्ठ कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्हें जब हम टाल्सटाय की समकक्षता में रखते हैं तब यह बहुत स्वाभाविक प्रतीत होता है। गोर्की की यह प्रतिष्ठा प्रधानतः उनके 'माँ' नामक उपन्यास पर आश्रित है। इस कृति को हम विश्व के उपन्यास-साहित्य में बहुत उच्चस्थ मानते हैं। इसके अतिरिक्त गोर्की की अनेक कहानियाँ भी हिन्दी में अनूदित हैं। किन्तु गोर्की के समस्त कृतित्व का यह एक इतना सूक्ष्म अंश है कि उसके आधार पर उनकी कलाकारिता का उपयुक्त मूल्यांकन सम्भव नहीं। सच तो यह है कि हमारे यहाँ उनकी मान्यता किसी भिन्न ही वस्तु पर आश्रित है। भारत में वे निःस्व और निपीड़ितों के मसीहा, क्रान्ति के अग्रदूत तथा मानव-मात्र की मुक्ति के अमर स्वर-संधानक के रूप में प्रसिद्ध हुए। जिस समय यह देश अपने सामाजिक बन्धनों तथा विदेशी शासन से स्वतन्त्र होने के लिए संघर्षरत था, उसी समय ज़ारशाही से निपीड़ित रूसी जनता भी क्रान्ति की सफल साधना करके एक अभिनव सुखमय समाज के निर्माण में अग्रसर हो रही थी। जो मार्ग दोनों देशों ने अपनाए वे नितान्त भिन्न थे, किन्तु उन्मुक्त और भव्यतर जीवन की आकांक्षा और साधना में वे हमराही थे। टाल्सटाय के आदर्शवादी विचार भारत में सहज प्रविष्ट हुए तथा रूस का किसान भारतीय किसान के बहुत आत्मीय बन्धु के रूप में प्रस्तुत हुआ। ऐसी भावुक पृष्ठभूमि ने भारत के हृदय को समस्त रूसी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण, कोमल और आत्मीय बना दिया था। अतएव गोर्की जब क्रान्ति और साम्यवाद के प्रमुख प्रचारक के रूप में उपस्थित हुए तब गांधीवाद के अनुगामी भारत ने उन्हें भी प्रभूत समादर के साथ स्वीकार किया।

गोर्की के अनुशीलन का उत्साही समीक्षक प्रकाश की आशा में स्वभावतः विदेशी विद्वानों की ओर मुड़ता है। प्रकाश उसे सम्भवतः कुछ मिलता है, किन्तु अनेक जटिल समस्याएँ भी उसके समक्ष उपस्थित होती हैं। मैक्सिम गोर्की मार्क्सवादी एवं बोल्शेविक पार्टी के एक सदस्य थे। इस तथ्य के अनुकूल एक ओर उन्हें एक महान् जनवादी कलाकार और समाजवादी यथार्थवाद का अग्रणी उन्नायक घोषित किया जाता है तो दूसरी ओर एक ऐसी प्रतिभा के रूप में, जिसने राजनीति की वेदी पर अपनी कला को बलि चढ़ा दिया। अनेक विद्वानों द्वारा कलाकार से अधिक प्रचारक घोषित किये जाते हैं। इसी प्रकार रूस के विषय में पश्चिमी धारणा भी अनेक जटिलताएँ उत्पन्न करती है। यह धारणा सदा एकसी नहीं रही और परिस्थितियों के अनुसार बदलती गई। यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि इस धारणा के विकासक्रम में पूर्वग्रह और स्वार्थ तथा अन्ततः साम्यवाद का विरोध मुख्य प्रेरक हैं। रूसी साहित्य और विशेषतः गोर्की के मूल्यांकन में इस तथ्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। ऐसी जटिलताओं के समक्ष गोर्की का निष्पक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वस्तुपरक अनुशीलन बहुत सरल नहीं प्रतीत होता। आरम्भिक आवश्यकता यह है कि हम गोर्की के समस्त कृतित्व का सामान्य परिचय प्राप्त करें तथा उन तथ्यों पर ध्यान दें जो उनके निष्पक्ष अनुशीलन को आच्छादित करते हैं। यही प्रस्तुत निबन्ध का प्रयोजन है।

गोर्की ने जिस समय साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, मिर्स्की के अनुसार उसके कुछ वर्ष पूर्व ही रूसी उपन्यास का स्वर्णयुग सम्पन्न हो चुका था। बीच में कुछ समय रूस के लेखक उपयोगितावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया में कलात्मकता की ओर अग्रसर हुए। इसी समय में मार्क्सवाद को रूस में प्रचलित अन्य सिद्धान्तों के ऊपर प्रमुखता प्राप्त हो चली। किन्तु सभी लेखकों और कलाकारों ने उसे नहीं अपनाया। मिर्स्की अपने रूसी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं— "सन् १६०० और १६१० के बीच रूसी साहित्य दो स्पष्ट और परस्पर-अभेद्य भागों में विभक्त था। एक ओर गोर्की-एण्ड्रीव सम्प्रदाय था और दूसरी ओर प्रतीकवादी और उनके अनुगामी थे। आरम्भ में गोर्की-एण्ड्रीव समूह ने प्रतीकवादियों को आच्छादित कर दिया···किन्तु आज वह अवधि हमें प्रतीकवाद-युग के रूप में दिखाई देती है।" दोनों दलों का मुख्य अन्तर प्रतिभा के अन्तर पर नहीं, किन्तु सांस्कृतिक धरातल पर आश्रित है—"गोर्की-एण्ड्रीव दल पुराने बुद्धिजीवियों का उत्तराधिकारी है, जो पुराने प्रगतिशीलों की नैतिक शिक्षा के अधिकांश से वंचित थे और जिसके बदले में निराशावाद और अनास्था के एक 'तृषित शून्य' के अतिरिक्त जिन्होंने कुछ प्राप्त नहीं किया। प्रतीकवादी एक नई संस्कृति के अग्रदूत थे, जो यद्यपि एकांगी और अपूर्ण थी तथापि जिसने रूसी मानस को अधिक व्याप्ति और समृद्धि दी तथा बुद्धिजीवियों को एक साथ अधिक यूरोपीय और अधिक राष्ट्रीय बना दिया।" संस्कृति से मिर्स्की का क्या अर्थ है तथा उनके उपयुक्त वक्तव्य के साथ कितने लोग सहमत हो सकते हैं यह निर्णय हम दूसरों पर छोड़ते हैं, किन्तु हमारे प्रयोजन के लिए जो अर्थ उसमें सन्निहित हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं—गोर्की की प्रतिभा विवाद्य नहीं है, रूसी साहित्य के इतिहास में उनका स्थान सीमित है तथा कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ देते हुए भी उन्होंने कोई ऐसा प्रवर्तन नहीं किया जो रूसी साहित्य के भविष्य विकास को प्रेरित करे। इस अन्तिम कार्य की भूमिका दूसरों द्वारा निर्मित हुई।

अभाव की अन्यतम गहराइयों से उठकर गोर्की ने यश और सफलता के चरम शिखर का चुम्बन किया। उनका जन्म सन् १८६८ में निज़नी नोवोगोरोड नामक स्थान में हुआ। उनका मूल नाम ए० एम० पेश्कोव है। गोर्की उपनाम है जिसका अर्थ पीड़ित अथवा विपन्न है। उनका आरम्भिक जीवन उत्पीड़न और अभाव की एक विलक्षण कहानी है। उनके बाल्यकाल में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई और उनकी माँ उन्हें लेकर अपने पिता के यहाँ रहने लगी। गोर्की को जीवन-यापन के लिए बचपन से कार्य करना पड़ा। मोची के काम से लेकर ऐसा कोई धन्धा नहीं जो उन्होंने न किया हो। एक समय जब वे वोल्गा नदी के एक जहाज पर काम करते थे तब जहाज के शराबी रसोइये ने उन्हें पढ़ना-लिखना सिखाया। उनके आरम्भिक अध्ययन में जनप्रिय मारकाट, साहसिकता और रोमांच की पुस्तकों की बहुलता थी। इसका प्रभाव गोर्की की आरम्भिक कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है। पन्द्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने काज़ान की एक पाठशाला में प्रविष्ट होने का प्रयत्न किया, किन्तु धनाभाव के कारण अपने उद्देश्य में वे विफल हुए। यही नहीं, उदरपोषण के लिए वे एक भूगर्भ में स्थित रोटी के कारखाने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम करने के लिए विवश हुए, जिसका 'छब्बीस मनुष्य और एक लड़की' नामक कहानी में उन्होंने मार्मिक वर्णन किया है। काज़ान में ही वे विद्यार्थियों के सम्पर्क में आए और क्रान्तिकारिता की आरम्भिक शिक्षा उनसे प्राप्त की। १८६१ में वे रूस के पर्यटन के लिए निकल पड़े। इस समय अपने निर्वाह के लिए जो काम मिल गया वही वे करते थे। अन्त में वे टिफ़लिस पहुँचे और वहाँ मजदूरों के एक क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गए। वहीं मार्क्सवादियों से उनका परिचय हुआ और उनकी विचारधारा की गतिविधि निर्धारित हो गई।

टिफलिस में ही ए० एम० कालूज़्नी नाम के एक प्रगतिशील विचारों वाले व्यक्ति ने गोर्की को अपने समस्त अनुभवों को लिखने के लिए प्रेरित किया। फलस्वरूप १८६२ में एक स्थानीय दैनिक में उनकी प्रथम कहानी 'माकर शुद्रा' प्रकाशित हुई। १८६५ में प्रथम बार एक प्रसिद्ध मासिक पत्रिका में उनकी 'शेलकश' नामक कहानी का प्रकाशन हुआ। यश के आगमन में देर नहीं लगी और गोर्की बहुत शीघ्र देश-विदेश में प्रसिद्ध हो गए। सन् १८६८ में उनकी कहानियों का संग्रह दो भागों में प्रकाशित हुआ।

गोर्की की आरम्भिक कहानियों में स्वच्छन्दतावाद की प्रधानता है। 'माकर शुद्रा', 'ओल्ड इज़रगिल', 'सौंग ऑफ द फाल्कन' आदि कहानियाँ इसी कोटि की हैं। 'माकर शुद्रा' बर्बरता की समस्त तीव्रता से युक्त एक दुःखान्त प्रेम की कहानी है। 'ओल्ड इज़रगिल' एक ऐसी कहानी है जिसमें एक जर्जर वृद्धा संस्मरण के रूप में अपने यौवनकाल के बहुसंख्यक प्रेम-प्रसंगों का वर्णन करती है। एक समय आता है जब वह ढल चलती है और पुरुषों को अपना खिलौना बनाकर खेलने की क्षमता से वंचित होकर स्वयं एक पुरुष के प्रेम में उन्मत्त हो जाती है। स्वयं को किसी भी संकट में डालकर उसके हृदय को जीतने का वह प्रयास करती है, किन्तु सफल नहीं होती। रूप-रचना की दृष्टि से इस कहानी में यह विलक्षणता है कि उसके आरम्भ और अन्त में क्रमशः 'लारा' और 'द हार्ट ऑफ डेन्को' की कपोल-कथाएँ संयुक्त हैं। 'सौंग ऑफ द फाल्कन' में फाल्कन सब-कुछ दाँव पर रखकर नये आदर्शों की ओर बढ़ने वाले क्रान्तिकारी का प्रतीक है।

गोर्की की अनेक कहानियों में ऐसे पात्रों को प्रमुखता मिली है जो आवारा तथा समाज से बहिष्कृत हैं। 'शेलकश', 'कोनोवालोव' और 'द ओर्लोव्स' इस कोटि में प्रमुख हैं। गोर्की के आवारे अपनी बाह्य विरूपता के नीचे मानवीयता छिपाये हुए हैं। एक ओर उनमें स्वयं को बहिष्कृत करने वाले समाज के प्रति घृणा भरी हुई है और दूसरी ओर स्वतन्त्रता और प्रकृति के लिए अपार प्रेम के साथ वे जीवन का अर्थ समझने के लिए उत्सुक हैं।

१८६७ से गोर्की की कृतियों में यथार्थवाद की प्रमुखता हो चलती है। उनकी 'एक्स-पीपुल' नामक कृति में यह स्पष्ट लक्षित होता है। 'ट्वेन्टीसिक्स मैन एण्ड ए गर्ल', 'मिस्चीफ-मेकर', 'द ओर्लोव्स' और 'फॉर वाण्ट ऑफ समथिंग बैटर टु डू' इत्यादि कहानियाँ इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं।

मिर्स्की ने जिन कहानियों का विशेषता के साथ उल्लेख किया है वे क्रमशः 'शेलकश', 'माइ फैलो-ट्रैवलर' और 'ट्वेन्टी-सिक्स मैन एण्ड ए गर्ल' हैं। 'शेलकश' में चरित्रांकन बहुत स्पष्टता से किया गया है। इस दृष्टि से मिर्स्की 'माइ फैलो-ट्रैवलर' को सर्वोत्तम मानते हैं। वे ट्वेन्टी-सिक्स मैन एण्ड ए गर्ल' को सर्वोपरि सम्मानित स्थान प्रदान करते हैं—"कहानी क्रूरता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

के साथ यथार्थवादी है। उसमें काव्य का एक ऐसा प्रबल प्रवाह है, सौन्दर्य, स्वतन्त्रता और मनुष्य के मूलभूत औदात्य के प्रति ऐसी विश्वसनीय आस्था है, और उसी समय इतनी सूक्ष्मता और अनिवार्यता के साथ उसे कहा गया है कि एक सर्वोत्कृष्ट कृति के नाम से उसे वंचित करना बहुत कठिन है। गोर्की को वह हमारे साहित्य के सच्चे महानों की मंडली में प्रतिष्ठित करती है। किन्तु अपने चरम सौन्दर्य में वह अकेली है—और गोर्की के आरम्भिक उत्तम कार्य में अन्तिम है।"

इस युग में पश्चिमी पूँजीवाद अपने स्वर्ण-युग की तन्द्रा में मग्न था। वहाँ उदारवाद की प्रधानता थी। अपने प्रजातांत्रिक आदर्शों में वे देश स्वयं मुग्ध थे और उन पर गर्वित थे। रूसी शासक उन्हें इन आदर्शों के चरम शत्रु प्रतीत होते थे और उनके प्रति उन्हें कोई सहानुभूति न थी। उनकी सहानुभूति उन विचारकों, कलाकारों और क्रांतिकारियों के साथ थी जो इस शासन को मिटाकर नई व्यवस्था के आवाहक थे। रूसी साहित्य उनमें बहुत विचित्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करता था और दस्तोएवस्की के उपन्यासों की 'आध्यात्मिक गहराइयों' में डूबकर वे उल्लसित और पूत होते थे। मानवीय मनोवृत्ति के इस विचित्र अभिनय-काल में उस स्वयं-प्रशंसित, गर्वोन्नत भूमि-खंड ने गोर्की को भी बहुत सहज वृत्ति के साथ स्वीकार किया।

१८९९ से १९१२ तक गोर्की अपने रचनाक्रम के द्वितीय सोपान पर आरूढ़ रहते हैं। इस काल में उन्होंने अनेक उपन्यासों और नाटकों तथा कतिपय सामान्य कृतियों की सृष्टि की। उनके उपन्यास क्रमशः 'फोमा गोर्दयेव' (१८९९), 'थ्री ऑफ देम' (१९००-१), 'द मदर' (१९०७), 'ए कॉन्फेशन' (१९०८), 'ओकरोव सिटी' (१९०९) और 'मात्वी कोजेम्याकिन' (१९१०) हैं। 'द पैटी बूर्जुआ' (१९०१), 'द लोअर डैप्थ्स' (१९०२), 'सबर्बन्स' (१९०४) 'द चिल्ड्रन ऑफ द सन' (१९०५), 'द बर्बेरियन्स' (१९०६), 'एनीमीज़' (१९०६) और 'वारसा जैलेज़्नोवा' (१९१०) इस काल में विरचित उनके नाटक हैं। सृजन का यह परिमाण अत्यन्त विपुल है, किन्तु इन समस्त रचनाओं को मिर्स्की गोर्की के कृतित्व का सबसे कम महत्त्व-पूर्ण अंश मानते हैं।

गोर्की के उपन्यास प्रचार-मूलक और स्पष्ट रूप से सामाजिक संदेश को लेकर चलने वाले माने जाते हैं। मिर्स्की की धारणा है कि गोर्की के सामान्यतः सभी उपन्यास बहुत उत्तम ढंग से आरम्भ होते हैं, किन्तु आगे चलकर वे अशक्त और प्रभावहीन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ "·····'द थ्री ऑफ देम' और 'ए कॉन्फेशन' के आरम्भिक कुछ पृष्ठ कथा के अबाध और प्रत्यक्ष विकास द्वारा पाठक को मन्त्र-मुग्ध रखते हैं, किन्तु तब वह अंतहीन और थका देने वाली 'जिज्ञासा' आरम्भ हो जाती है, पर जब वह अपने लक्ष्य के समीप पहुँचने लगती है और नायक सोचता है कि समाज के लिए उसने रामबाण पा लिया है तब वह और अधिक उबाने वाली हो जाती है।" यही समीक्षक 'फोमा गोर्दयेव' को गोर्की का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास मानते हैं। "आरम्भिक अध्याय····गोर्की की कलासृष्टि के सर्वोत्तम अंश का भाग है। उसकी रचनात्मक और पौरुषपूर्ण वृत्ति उसे एक ऐसी विशेषता प्रदान करती है जो रूसी साहित्य में दुर्लभ है।"

गोर्की के उपन्यासों पर जो आरोप लगाए जाते हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं। सर्वप्रथम उनकी प्रचारवादिता उन्हें दुर्बल बनाती है। द्वितीयतः गोर्की ने अपनी कृतियों में दार्शनिक विवादों का विपुल योग किया है। स्थान-स्थान पर जीवन के अर्थ को लेकर बहस छिड़ जाती है।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणामतः कृतियों का संगठन नष्ट हो जाता है और वे शिथिल हो जाती हैं। कृतियों की शैली प्रभावहीन वार्तालाप की शैली में बदल जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोर्की केवल कलाकार बनकर संतुष्ट नहीं थे, वरन् एक नेता और शिक्षक बनने की आकांक्षा भी उनमें थी। किन्तु उनके दार्शनिक विचार कभी स्पष्ट नहीं रहे और उनके धुँधलेपन के कारण कृतियों में एक ऐसी विशेषता आ जाती है जो निराशावाद के समान प्रतीत होती है तथा उनके मूलभूत आशावाद को आच्छादित कर देती है। १९०८ के आसपास 'ईश्वर-निर्माण' नाम से अभिहित एक विचित्र धार्मिक धारणा उन्होंने निर्मित की। इसका सारांश यह है कि जनता की आस्था से ईश्वर का निर्माण होना चाहिए। इस मत का विरोध स्वयं लेनिन ने अत्यन्त विनम्रता किन्तु स्पष्टता के साथ किया। इन निर्णयों के विषय में हम कह सकते हैं कि गोर्की की उपर्युक्त दुर्बलताएँ चाहे क्षम्य न हों, किन्तु रूसी साहित्य की एक विशेष परम्परा से उनका सम्बन्ध अवश्य जोड़ा जा सकता है। बेलिन्स्की के समय से वहाँ यह धारणा रही है कि लेखक का कार्य सामाजिक प्रश्नों के गम्भीर चिन्तन के साथ जनता का नेतृत्व करना भी है। इसी आधार पर किसी कृति के मूल्यांकन में सबसे अधिक महत्त्व उसमें प्राप्त होने वाले संदेश को दिया जाता था। जीवन का निरीक्षण, उसका चिन्तन और चिंतन के परिपाक से संदेश का निर्माण—इस क्रम ने क्रमशः रूसी साहित्य को उसकी यथार्थवादिता, दार्शनिकता और प्रचारात्मकता प्रदान की। इन विशेषताओं से टॉलस्टाय वंचित नहीं थे और पश्चिम के विद्वान दस्तोएवस्की के कृतित्व का मूल्यांकन प्रधानतः उनके आध्यात्मिक संदेश के आधार पर करते थे। कला के विषय में इस प्रकार का दृष्टिकोण कहाँ तक न्याय-संगत और उत्कर्षकारी है, इस विषय में हम यहां कुछ नहीं कहेंगे। हमारा प्रयोजन केवल यह प्रदर्शित करना है कि उस समय रूस में उसका प्रचलन था।

हिन्दी-जगत् को यह मनोरंजक प्रतीत होगा कि अपने इतिहास में मिर्स्की ने 'मदर' के विषय में एक शब्द कहना आवश्यक नहीं समझा और पश्चिमी समीक्षा में जहाँ उसका उल्लेख हुआ, वहाँ उसे एक द्वितीय कोटि की कृति से ऊँचा नहीं माना गया। हम अभी इस स्थिति में नहीं कि इन निर्णयों का प्रामाणिक खण्डन कर सकें, किन्तु इस विषय में अपने कतिपय विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहेंगे। यह सच प्रतीत होता है कि 'मदर' में गतिहीन और 'दार्शनिक' वार्तालाप की बहुलता है और उससे उसके संगठन, गति और प्रभाव-शक्ति में शिथिलता आती है। किन्तु कम-से-कम इस कृति में 'दार्शनिक' वार्तालाप की दिशा पर्याप्त स्पष्ट है। उसका नायक पेवेल व्लासोव मज़दूरों की बस्ती के पतित और संकीर्ण संस्कारों में उत्पन्न और विकसित होकर अपने जीवन की वास्तविक हीनता का अनुभव करता है। उसके कारण की खोज में वह अध्ययन में रत होता है और क्रमशः मार्क्सवादी सिद्धान्त में अपना पथ प्राप्त करता है। उस वर्ग के मनुष्य आरम्भ में अपने अमानवीय जीवन को दुःखद, किन्तु स्वाभाविक समझते हैं, जिससे मुक्ति का कोई मार्ग नहीं। किन्तु यह जानते ही कि वह जीवन स्वाभाविक नहीं है, एक विशेष सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है, वे उसे मिटाकर एक नये न्यायपूर्ण समाज के निर्माण के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। आरम्भिक प्रतिक्रिया क्रोध और अनियन्त्रित विद्रोह के रूप में होती है, किन्तु सत्य का ज्ञान इस मनोदशा को एक बलिदानी संकल्प और उज्ज्वल भविष्य के विश्वास में परिणत कर देता है। यह तथ्य किसी आध्यात्मिक विकास से कम महत्वपूर्ण नहीं और मानवीयता की प्रतिष्ठा में उसके मूल्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। "क्या निःस्व और निपीड़ितों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बद्ध किसी कृति को हम तभी महत्त्वपूर्ण मानें जिसके पात्र आत्मपीड़क बनकर उपस्थित होते हैं और अपनी मुक्ति का आदर्श किसी आध्यात्मिक कल्पना में पाते हैं। गोर्की की यह कृति एक ओर यदि ऐसी विशेषताओं से मुक्त है तो दूसरी ओर उस विनाशकता से भी, जिसे साम्यवादी प्रचार और घृणा-प्रसार के नाम से अभिहित किया जाता है। सिद्धान्त-निरूपण से भी अधिक आसक्ति गोर्की ने मानवीय मूल्यों के प्रति प्रदर्शित की है। यदि यह सच है कि दार्शनिक वार्तालाप की बहुलता इस कृति को शिथिल बनाती है तो यह भी कम सच नहीं कि ध्वज-यात्रा, रीबिन की बलिदानी दृढ़ता, येगोरोव की मृत्यु और अदालत के दृश्यों के चित्रण में गोर्की की कला एक गम्भीर उत्कर्ष और प्रभाव-शक्ति ला देती है। स्वयं 'माँ' का चरित्र एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। यदि अपने जीवन के प्रथम पक्ष में वह अचेतन रूप में बर्बरता के चरणों पर बलि थी, तो अन्तिम पक्ष में स्वनिर्धारित लक्ष्य के पथ पर चलती हुई स्वेच्छा से बलि होती है। समस्त उपन्यास वास्तव में उसके इस विकास की एकता के अन्तर्गत गठित है। पुस्तक के अन्त में माँ का बलिदान मातृत्व की अबाध कोमलता और त्यागशीलता तथा उस भव्य आदर्श की प्राप्ति के संकल्प को एक साथ व्यक्त करता है जो आज के निःस्व और निपीड़ितों को कल वास्तविक मानवीयता के धरातल पर प्रतिष्ठित करेगा।

गोर्की के नाटकों में सबसे प्रसिद्ध 'द लोअर डैप्थ्स' है। उसे तात्कालिक सफलता मिली और बर्लिन में वह लगातार दो वर्ष तक प्रदर्शित होता रहा। किन्तु मिर्स्की उसकी इस सफलता का कारण उसके मूलभूत गुण को न मानकर अन्यत्र खोजते हैं—"'द लोअर डैप्थ्स' एक **विजय थी। देश में स्टानिस्लास्की-दल का विस्मयजनक अभिनय निर्णायक सिद्ध हुआ। विदेश में उसकी सफलता इस प्रकार की वस्तु की आतिशयिक नवीनता पर आश्रित थी, अर्थात् उसकी भूमिका की भावोत्तेजक यथार्थवादिता और दार्शनिक चोरों, आवारों और वेश्याओं के गम्भीर वार्तालाप को सुनने का अभिनव आनन्द।**" किन्तु इसी नाटक के विषय में दूसरे समीक्षकों ने भिन्न प्रकार के मत भी प्रस्तुत किये हैं। १९०५ में प्रकाशित अपनी 'इकोनोक्लास्ट्स—ए बुक ऑफ ड्रैमेटिस्ट्स' नामक पुस्तक में जेम्स हूनेकर ने लिखा है—"**...पेरिस में उत्पादित और वार्षिक रूप में अमेरिका में निर्यात होने वाले व्यभिचार के नाटक की तुलना में समाजच्युत नर-नारियों के एक समूह का यह अध्ययन एक शक्तिशाली नैतिक शिक्षा है।**" १९३५ के अपने 'रेड थियेटर्स एण्ड द ग्रीन बे ट्री' नामक लेख में रूसी थियेटर की प्रशंसा करते हुए हाल्सटेड वैल्स ने 'द लोअर डैप्थ्स' का उल्लेख उसे 'एक चरमोत्कृष्ट कृति' कहकर किया है। गोर्की के शेष नाटक समीक्षकों के कृपापात्र नहीं बन सके। उनकी रूप-रचना में चेखव की नाट्य-शैली का अनुकरण माना जाता है, किन्तु इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के साथ—कि चेखव के नाटकों के प्रच्छन्न गतिमान संगठन से वे वंचित हैं।

इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिसका गोर्की और उनकी ख्याति पर गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १९०६ में गोर्की ने अमेरिका की यात्रा की। वहाँ बहुत धूमधाम से उनके स्वागत की तैयारियाँ की गई थीं, किन्तु बहुत शीघ्र यह समस्त उनकी निन्दा और विरोध में बदल गया। अपनी 'मैक्सिम गोर्की एण्ड हिज रशिया' (१९३१) पुस्तक में अलेक्जेण्डर काउन ने इस विचित्र वृत्तान्त का विस्तृत विवरण दिया है—"**यह निश्चित प्रतीत होता था कि गोर्की का इस देश में प्रवास अनेक साहित्यिक और राजनीतिक मान्य व्यक्तियों से युक्त प्रीति-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोजों और जनसभाओं की श्रृंखला के रूप में होगा। यह जनश्रुति थी कि राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की ओर से भी एक निमन्त्रण उन्हें मिलने वाला है।···गोर्की १० अप्रैल, १९०६ को अमेरिका पहुँचे। कुछ ही दिनों के अन्दर उनका उत्थान और पतन सम्पन्न हो गया। अंशतः वे अमरीकी मित्रों की सलाह के शिकार हुए, जिन्होंने उनसे इडाहो की खान में काम करने वाले ऐसे मजदूरों के प्रति सहानुभूति-सूचक तार में हस्ताक्षर कराया जिन पर अपराध के लिए उस समय कानूनी कार्यवाही चल रही थी; अंशतः न्यूयार्क के समाचार-पत्रों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता इसका कारण हुई; अंशतः रूसी दूतावास के प्रभावपूर्ण किन्तु प्रच्छन्न प्रयत्नों से यह सम्भव हुआ; और अंशतः अमरीकी जनता के नैतिक सन्निपात के कारण, जो इन शीर्ष-सूचनाओं से उद्दीप्त हो गया कि गोर्की एक ऐसी स्त्री के साथ यात्रा कर रहे थे जो वैध रूप में उनसे विवाहित नहीं थी। किन्तु यह नहीं बतलाया गया कि तलाक-विषयक रूसी कानून के अन्तर्गत वे ऐसा कर ही नहीं सकते थे।"

मार्क ट्वेन ने एक सभा के समक्ष पढ़ने के लिए एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने रूसी शासन के विरुद्ध और क्रान्तिकारियों के पक्ष में विचार प्रकट करते हुए यह आशा प्रस्तुत की थी कि "वह दिन देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो जब रूस में ज़ार और ग्रेण्ड ड्यूक उतने ही विरल हो जायँगे, जितने विरल, मुझे विश्वास है, वे स्वर्ग में हैं।" किन्तु इसी बीच निन्दा-अभियान चल पड़ा। उससे मार्क ट्वेन अत्यन्त खिन्न और उद्विग्न हो गए। एक दूसरे प्रसिद्ध साहित्यिक विलियम डीन हॉवेल्स ने अपने भाई को एक पत्र (१९ अप्रैल, १९०६) में लिखा—"हम लोग उन्हें एक बहुत बड़ा साहित्यिक भोज देने जा रहे थे, किन्तु वे उस स्त्री के साथ, जो उनकी पत्नी नहीं है, तीन होटलों से निकाले जा चुके हैं····। गोर्की ने भूल की है, किन्तु मुझे उनके लिए दुःख होता है; अपने ही देश में वे बहुत कष्ट झेल चुके हैं···। वे एक सरल-हृदय व्यक्ति हैं और महान् लेखक; किन्तु वे असम्भव कार्य नहीं कर सकते।" इन परिस्थितियों के उत्तर में गोर्की ने 'द सिटी ऑफ द यलो डेविल' नाम से लेखों की एक पूरी श्रृंखला प्रस्तुत की।

कलाकार के रूप में गोर्की की मान्यता पर भी उपर्युक्त विचित्र वृत्तान्त का गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी निन्दा ही सन्तोष के लिए पर्याप्त नहीं थी, यह भी आवश्यक था कि लेखक के रूप में उन्हें उच्छिन्न कर दिया जाय। 'बुकमैन' (जून, १९०६) में 'द एक्लिप्स ऑफ गोर्की' शीर्षक के अन्तर्गत ऐसे विचार अंकित हुए—"गोर्की स्वयं में कोई विशेष व्यक्ति नहीं; वे गंदी बस्तियों की उपज हैं, वर्षों तक वे आवारा रहे और उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखी हैं जो एक हताश अनास्था से ओत-प्रोत हैं···और जिनमें कम-से-कम पाठक को दुःखी और खिन्न बनाने की शक्ति है····।" अमेरिका के क्रान्ति-उत्साहियों पर व्यंग्य करते हुए लिखा गया—"उनकी विकृत बुद्धि उस आतंकपूर्ण भयंकरता का अनुभव करने में असमर्थ है जो एक ऐसी जनता के सामूहिक विद्रोह के साथ अनिवार्यतः उत्पन्न होगी जो स्वराज्य की असमर्थता में लगभग पशुवत् है।" डोरोथी ब्रियुस्टर का वक्तव्य है कि "इस प्रकार गोर्की के साथ रूसी जनता और रूसी लेखकों, सबका पतन हो गया"; तथा "इसके पश्चात् कलाकार के रूप में गोर्की की निष्पक्ष समीक्षा की बड़े परिमाण में आशा नहीं की जा सकती।"

१९०६ और उसके पश्चात् रूसी शासकों के प्रति इंग्लैण्ड के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। इसके साथ विद्रोहियों के प्रति उसकी सहानुभूति में भी कुछ परिवर्तन स्वाभाविक हो गया। इन परिस्थितियों का गोर्की के साथ प्रत्यक्ष रूप में कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु यह असम्भव था कि अप्रत्यक्ष रूप से इस व्यापक दृष्टिकोण का प्रभाव गोर्की पर भी न पड़े। रूस के साथ इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में बर्नार्ड शॉ १९१४ के अपने 'कॉमन सेन्स अबाउट वार' नामक निबन्ध में मनोरंजक प्रकाश डालते हैं—"१९०६ तक सामान्यतः यह माना जाता था कि ज़ारशाही प्रत्येक ऐसी स्वतन्त्रता की शत्रु थी जिसका इंग्लैण्ड को गर्व था, किन्तु समाचार-पत्रों ने रूस द्वारा उन राजनीतिक सिद्धान्तों की अवहेलना के उदाहरण प्रकाशित करना बन्द कर दिया है जो इंग्लैण्ड के आदर्श हैं। क्यों? उत्तर सरल है। १९०६ वह वर्ष है जब हमने रूस को ऋण देना आरम्भ किया और रूस 'द टाइम्स' में विज्ञापन छपाने लगा।...तब से रूस इसके लिए स्वतन्त्र है कि हमारे धनीवर्ग के प्रेस से विरोध का एक शब्द सुने बिना अपने एच० जी० वैल्सों और लॉयड जॉर्जों पर दर्जनों की संख्या में कशाघात करे और उन्हें फाँसी पर लटका दे।"

स्पष्ट है कि पश्चिम की दृष्टि में इस प्रकार के परिवर्तन के साथ गोर्की का निष्पक्ष मूल्यांकन अधिक दुष्कर होता गया। कहा जाता है कि अचानक महानता के शिखर को पाकर गोर्की की मान्यता इस काल में रूस में भी क्षीण हो गई। सर्वमान्य राष्ट्रीय लेखक के स्थान पर वे केवल मार्क्सवादियों के प्रियपात्र बनकर रह गए। इस काल में गोर्की और लेनिन में कुछ वैचारिक मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। कुछ लोग चाहते थे कि गोर्की पार्टी के नियमित कार्य में भाग लें और गोर्की 'प्रोलितेरियन' के लिए कुछ छोटी-छोटी चीजें लिखें। लेनिन ने विनम्रता के साथ इन प्रस्तावों का विरोध किया। लूनेशार्सकी को १३ फरवरी, १९०८ के एक पत्र में उन्होंने लिखा—"ठीक स्थान पर होने के कारण आप अधिक अच्छा निर्णय कर सकते हैं। यदि आप सोचते हैं कि पार्टी के नियमित काम में लगाकर गोर्की का (स्वतन्त्र) कार्य क्षतिग्रस्त नहीं होगा (और उसके द्वारा पार्टी का बहुत बड़ा लाभ होगा), तो आप उसके लिए प्रयत्न कीजिए।" उसी तारीख के एक दूसरे पत्र में लेनिन ने गोर्की को लिखा—"प्रोलितेरियन' के लिए कुछ छोटी-छोटी चीजें लिखने की आपकी योजना मुझे आनन्दित करती है। किन्तु यह निश्चित रहना चाहिए कि यदि आप महत्त्वपूर्ण कार्य में लगे हुए हैं तो स्वयं को उससे विच्छिन्न मत कीजिए।" इन वक्तव्यों का अर्थ स्पष्ट है, किन्तु आगे चलकर बात कुछ अधिक गम्भीर प्रतीत होती है। कुछ लेखकों का एक दल 'माखिज़म' और 'रिकॉलिज़म' नाम से अभिहित आन्दोलनों को अग्रसर करने में रुचि रखता था। गोर्की का सम्भवतः इन आन्दोलनों की ओर कुछ झुकाव था। उक्त दल के साहित्यिक गोर्की को अपना नेता बनाना चाहते थे। लेनिन की प्रतिक्रिया क्षिप्र और स्पष्ट थी—"'माख़िज़्म' और 'रिकॉलिज़्म' को दृढ़ बनाने के लिए इस अधिकारी (गोर्की) का उपयोग करना इसका दृष्टान्त प्रस्तुत करना है कि अधिकारियों के साथ कैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए।...प्रोलितेरियन कला के विषय में गोर्की एक बहुत बड़े सहायक हैं, किन्तु यह 'माखिज़्म' और 'रिकॉलिज़्म' के प्रति उनकी सहानुभूति के बावजूद है।" इसी समय पश्चिम में यह हल्ला उड़ा कि गोर्की को सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी से निकाल दिया गया है। इसे मिथ्या घोषित करते हुए लेनिन ने लिखा—"किसी निम्नकोटि के संवाददाता ने रिकॉलिज़्म और 'ईश्वर-निर्माण' से सम्बद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतभेद के विषय में अफवाह के एक छोर को सुन लिया (और यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर सामान्य रूप से पार्टी में और विशेष रूप से 'प्रोलितेरियन' में एक वर्ष से अधिक समय तक खुले-आम बहस होती रही है) और सूचना के टुकड़ों को अतिरंजित करके उसने एक (महत्त्वपूर्ण और सनसनीखेज) समाचार गढ़ लिया।" लेनिन के इन वक्तव्यों से कुछ बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं—एक महान् प्रतिभाशाली कलाकार के रूप में गोर्की सर्वमान्य थे, एक लेखक के रूप में उनकी स्वतन्त्रता स्वीकृत थी, किन्तु पार्टी के सिद्धान्तों और कार्य की दिशा में उनकी कुछ प्रवृत्तियों का हस्तक्षेप लेनिन को मान्य न था। गोर्की जब केप्री द्वीप में थे तो उनकी राजनीतिक भूलों पर आक्षेप किये जाने पर उन्होंने उत्तर दिया—"मैं जानता हूँ कि मैं एक दुर्बल मार्क्सवादी हूँ और फिर हम सब कलाकार कुछ-न-कुछ उत्तरदायी होते हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि मिर्स्की जैसे अधिकारी व्यक्ति गोर्की के इस काल के कृतित्व को किसी विशेष महत्त्व से हीन मानते हैं, तथापि सम्बद्ध कृतियों के अनुशीलन में बहुत सतर्कता की आवश्यकता है। १६१३ से गोर्की के कृतित्व का नया युग आरम्भ होता है। इस समय उनकी तीन कृतियाँ प्रकाश में आईं—आत्मजीवनी की श्रृङ्खला में 'चाइल्डहुड' (१६१३), 'माई एप्रेण्टिसशिप' और 'माई यूनिवर्सिटीज'; 'रिकलक्शन्स' (टाल्सटाय, १६२०; कोरोलेन्को, चेखव, एण्ड्रीव इत्यादि); और 'नोट्स फ्रॉम ए डायरी' (१६२४)। इन कृतियों में गोर्की सच्चे यथार्थवादी के रूप में प्रस्तुत हुए हैं और उन्होंने तटस्थता के साथ पूर्ण वस्तुमूलकता प्राप्त कर ली है। उनकी आत्मजीवनी के विषय में मिर्स्की लिखते हैं—"यथार्थवादी तटस्थता उनकी आत्मजीवनी श्रृङ्खला को किसी भी समय लिखी गई सबसे विचित्र आत्मजीवनी बना देती है। वह केवल गोर्की को छोड़कर और सबके विषय में है। उनका व्यक्तित्व केवल वह आश्रय है जिसके चारों ओर विस्मयकारी चित्रराजि संकलित की गई है। इन पुस्तकों में गोर्की की सबसे बड़ी विशेषता उनकी चाक्षुष सजीवता में है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मनुष्य बस आँखें-ही-आँखें है, और पाठक चरित्रों की विस्मयकारी रूप से सजीव और स्पष्ट आकृतियों को इस प्रकार देखता है मानो वे सुरङ्ग-चित्रित हों।··· गोर्की की आत्मजीवनी-श्रृङ्खला जगत् को कुरूप प्रस्तुत करती है, किन्तु प्रकाश से विहीन नहीं; जो बातें उसके भार को हल्का बनाती हैं और जो मानवता की रक्षा कर सकती हैं तथा जिन्हें ऐसा करना ही चाहिए वे ज्ञानोदय, सौन्दर्य और सहानुभूति हैं।" मिर्स्की की दृष्टि में गोर्की अपनी अन्य दो कृतियों में और अधिक उच्चकोटि के लेखक के रूप में प्रस्तुत होते हैं—"····'टाल्स्टाय के संस्मरण' उस महान् मनुष्य के विषय में किसी भी काल में लिखे गए पृष्ठों के बीच सबसे अधिक सारपूर्ण हैं और यह सब इसके बावजूद है कि गोर्की सुनिश्चित रूप में टाल्स्टाय के बौद्धिक समकक्ष के समान कुछ भी नहीं हैं। वह उनकी आँखें हैं जो आर-पार देख लेती हैं, न कि उनकी बुद्धि जो समझती है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि उन्होंने वे चीज़ें देखीं और अंकित कीं जिन्हें देखने में दूसरे असमर्थ थे, अथवा यदि वे देखते थे तो उन्हें अंकित करने की शक्ति उनमें न थी। गोर्की-निर्मित टॉलस्टाय की प्रतिमा रचनात्मक की अपेक्षा ध्वंसात्मक अधिक है—वह अनुभूति की एकता को जीवन की जटिलता की वेदी पर बलि चढ़ा देती है।" 'द नोटस फ्रॉम ए डायरी' में चरित्रों की एक माला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मौलिकता उसमें मूल वस्तु है और मिर्स्की उसे टालसटाय के संस्मरण को छोड़कर गोर्की की सर्वोत्कृष्ट कृति मानते हैं।

किन्तु इस बीच में पश्चिम की दृष्टि भी रूस के प्रति और भी बदली। इस दृष्टि के पीछे व्यापक महत्त्व की अनेक घटनाएँ हैं। १९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ा। रूस इसमें मित्र-राष्ट्रों का सहयोगी बनकर सम्मिलित हुआ। १९१७ में रूसी क्रान्ति हुई और वहाँ साम्यवादी शासन स्थापित हुआ। साम्यवादी सरकार ने जर्मनी से सन्धि कर ली और रूस को युद्ध से हटा लिया। युद्ध-समाप्ति के पश्चात् समस्त पश्चिम ने रूस का विरोध किया और साम्यवादी शासन को मिटाने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न किए जो विफल हुए। एक नई और कट्टर शत्रुता का जन्म हुआ जिसका दानवीय विस्तार वर्तमान युग को भी आच्छादित किये हुए है। साम्यवाद के विरोध ने बहुत शीघ्र उन्माद का रूप धारण कर लिया और यहाँ तक कि सोवियत रूस से सम्बद्ध कोई भी वस्तु बहुतों के लिए घृणित और असह्य, अस्पृश्य और त्याज्य हो गई। यह असम्भव है कि रूसी लेखकों के मूल्यांकन में इस प्रबल मनोदशा का कोई प्रभाव न पड़े। इस प्रकार के प्रभाव से गोर्की का मूल्यांकन भी वंचित नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पश्चिम के अनेक विद्वान् रूसी आत्मा और रूसी लेखकों से आध्यात्मिक शक्ति और सहायता प्राप्त करने के भावुक अभ्यासी थे। ऐसे ही एक सज्जन स्टेफेन ग्राहम ने रूस की इस आध्यात्मिकता को केन्द्र बनाकर बहुत सी पुस्तकें लिखी थीं। महायुद्ध शुरू होने के समय और उसके पश्चात् वे रूस में तीर्थयात्री थे। गोर्की इस समय दस्तोएव्स्की के विरुद्ध लेख लिखने में व्यस्त थे। दस्तोएव्स्की के विरुद्ध उनके मुख्य आरोप यह थे कि उन्होंने पीड़न और मृत्यु में ही अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित कर दी थी। गोर्की का मत यह था कि रूस को रहस्यवादी, पीड़ित और मलिन बनना छोड़ देना चाहिए और इसके बदले उसे स्पष्ट-बुद्धि, आशावादी और अपनी आत्मा का स्वामी बनना चाहिए। यह सब देखकर ग्राहम के मर्म पर आघात लगा। दस्तोएव्स्की ही तो 'आध्यात्मिक मूल्य' के अक्षय कोष थे। उन्होंने लिखा—"**जिस रूस पर गोर्की आक्रमण कर रहे हैं वह ठीक वही है जिसके प्रति हमें इंग्लैंड में आध्यात्मिक रुचि है—रहस्यवादी और अव्यावहारिक रूस, वह रूस जो तीर्थयात्री है, वह रूस जो कलात्मक है और रूस को जो वे बनते देखना चाहते हैं वह ठीक ऐसा है जो आध्यात्मिक रूप से हमारे लिए अल्पतम रुचिकर होगा—रूस जो आशावादी, आत्मविश्वासी, व्यावहारिक, सुपरिधानित, स्फूर्तिमय और चतुर तथा पश्चिमी है।**" यहाँ यह स्मरणीय है कि भारत पर पश्चिम के शासनकाल में हमारे देश के 'आध्यात्मिक मूल्य' का उपयोग करने में भी पश्चिम के लोग कभी कृपण और शिथिल नहीं रहे। ग्राहम की 'द वे ऑफ मार्था एण्ड द वे ऑफ मेरी' नामक पुस्तक को लेकर गोर्की ने लिखा—"....**अंग्रेज उसे स्वीकार करते हैं...क्योंकि हमें पावन दीर्घसूत्रियों और अव्यावहारिक व्यक्तियों के रूप में चित्रित करने में अंग्रेज पूँजीवादी के लिए अफ्रीका और भारत के समान रूस में एक भविष्य ब्रिटिश उपनिवेश देखकर उल्लास में हाथ मलने के लिए स्थान रह जाता है।**" किन्तु इंग्लैंड के कल्याण को ध्यान में रखकर ग्राहम आध्यात्मिक मूल्य वाले रूस से चिपके रहे।

किन्तु उपर्युक्त उल्लेख उस सन्निपात की केवल आरम्भिक बानगी है जिसके आगमन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ पश्चिम की समस्त शक्तियाँ रूस और रूसी साहित्य के शिकार में लग गईं। मान्य समीक्षकों से प्रभूत प्रशंसित गोर्की की 'टॉल्सटाय के संस्मरण' कृति के विषय में एडमण्ड गॉस ने अभिमत दिया कि वह विवेकहीन है और बोल्शेविस्ट साहित्य द्वारा अपने मसीहा की समाधि के ध्वंस का उदाहरण है। यह उन्माद किस सीमा तक पहुँचा हुआ था इसका उदाहरण १९१८ में प्रोफेसर पॉल शोरे द्वारा 'अमेरिकन मेडिको-साइकॉलॉजिकल एसोसिएशन' के समक्ष दिये गए इस वक्तव्य में स्पष्ट लक्षित होता है—"टॉल्सटाय यदि स्वयं पागल नहीं, तो दूसरों में विक्षेप उत्पन्न करने के विपुल स्रोत (अवश्य) रहे हैं।" उन्होंने और बतलाया कि रूसी साहित्य का अध्ययन अमरीकी साहित्य समीक्षा के मानसिक स्वास्थ्य और अमरीकी जनमत के सन्तुलन को क्षति पहुँचा रहा है। ऐसे उन्मत्त किन्तु संगठित प्रचार का परिणाम यह हुआ कि अमेरिका में रूसी साहित्य की खपत घट गई और 'डायल' ने यह आशंका प्रकट की कि उसके कारण गोर्की की आत्मजीवनी के प्रकाशन में कहीं बाधा न हो।

१९१७ में गोर्की ने रूस की बोल्शेविक क्रान्ति का साथ दिया। बहुत दूर तक लेनिन और उनकी नीति का समर्थक होने पर भी गोर्की ने एक स्वतन्त्र स्थिति अपनाई। बड़े-बड़े लोगों से उनकी मैत्री थी तथा उनका यश बहुत समृद्ध था। परिणामतः स्वतन्त्र स्थिति रखकर भी वे बहुत काम कर सके। उन्होंने स्वयं को कला और संस्कृति के संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस विषय में उनके कार्य का महत्त्व मिर्स्की ने इस प्रकार अंकित किया है—"स्वनिर्धारित संस्कृति और सभ्यता के संरक्षक का कार्य उन्होंने, जितना उनसे सम्भव था, उतनी अच्छी तरह किया। रूसी संस्कृति पर उनका बहुत बड़ा ऋण है। १९१८ और १९२१ के बीच रूसी लेखकों और अन्य उच्च बुद्धिजीवियों को भूखों मरने से बचाने के लिए जो कुछ भी किया गया वह सब गोर्की के कारण था। यह मुख्यतः.........कवियों और उपन्यासकारों को अनुवाद का काम देकर किया गया। सम्भवतः यह युक्ति निर्दोष नहीं थी, किन्तु उन परिस्थितियों में कदाचित् केवल वही सम्भव थी।" १९२१ में गोर्की जर्मनी चले गए और वहाँ से १९२४ में इटली। १९२८ में अपनी साठवीं वर्षगाँठ के समारोह में सम्मिलित होने के लिए वे रूस लौटे। इसके शीघ्र पश्चात् वे पुनः रूस में ही बस गए। स्टालिन के शासन का उन्होंने समर्थन किया। १९३६ में उनकी मृत्यु हो गई। अपने अन्तिम काल में साहित्यिक मानदण्डों को उठाने और नये लेखकों को शिक्षित करने में उन्होंने अथक परिश्रम किया।

अपने जीवन के अन्तिम पक्ष में भी गोर्की ने बहुत सी पुस्तकें लिखीं। उनका 'द आर्तमानोव्स' उपन्यास १९२५ में प्रकाशित हुआ। १९२७ से १९३६ तक 'द लाइफ ऑफ क्लिम सामगिन' लिखा गया, जिसके विभिन्न भाग 'बाइस्टेण्डर', 'द मैगनेट', 'अदर फायर्स' और 'द स्पैक्टर' नाम से अंगरेजी में अनूदित हैं। उक्त दोनों कृतियाँ सहज सम्मानित हुईं। गोर्की अपने द्वितीय उपन्यास को पूरा नहीं कर पाए। इसी प्रकार उनकी एक नाटक-त्रयी की योजना भी अधूरी रह गई। उसके केवल दो भाग 'बूलीशेव एण्ड अदर्स' (१९३२) और 'दस्तीगयेव एण्ड अदर्स' (१९३३) पूर्ण हो सके। ये समस्त गोर्की के जीवन के संध्याकाल की कृतियाँ हैं और गोर्की की प्रतिभा की दीप्ति उनमें बनी हुई है। उनकी पूर्ववर्ती कृतियों की तुलना में अन्तिम कृतियों की निर्माण-योजना अधिक महत्वाकांक्षापूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अत्यन्त घटनापूर्ण जीवन में जो कुछ उन्होंने देखा था उसके समस्त सारभूत अंश को वे कतिपय विशाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रपटों की एकता में उसकी मूल गतियों के साथ अंकित कर देना चाहते थे।

एक शिल्पकार और शैलीकार के रूप में भी गोर्की पर अनेक आक्षेप हैं। संगठन की दृष्टि से उनकी बहुत सी कृतियाँ दुर्बल कही जाती हैं। इस दुर्बलता का मुख्य कारण तथाकथित दार्शनिक विवादों की विपुलता और उसके साथ अशक्त वार्तालाप की शैली का प्रयोग है। किन्तु यह एक ऐसा प्रश्न है जो विशुद्धतः कला-पक्ष से सम्बद्ध है और उस पर कुछ कहने के लिए अधिक और एक विशेष प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता होगी। समीक्षक कहते हैं कि हास्य की क्षमता से गोर्की वंचित थे और इसलिए उनकी कृतियों का वातावरण अधिक मलिन और धूमिल हो गया है। जिस शैली को लेकर गोर्की ने आरम्भ किया वह स्वच्छन्दतावाद की शैली है, और जिसे सोवियत समीक्षा में 'क्रान्तिकारी-स्वच्छन्दतावादी शैली' नाम दिया है। इसके पश्चात् गोर्की क्रमशः यथार्थवाद की ओर बढ़े। उनके आरम्भिक यथार्थवाद का रूप देखकर पश्चिमी समीक्षक कड़ी आलोचना के लिए प्रेरित हुए। उनकी तुलना फ्रांस के जोला से की गई और जेम्स हूनेकर ने उन्हें 'एक ऐसा प्रकृतवादी' कहा, 'जिसके समीप जोला अपनी कला का 'क ख ग' सीखने के लिए जा सकते थे।' अपनी 'लेटर नाइनटीन्थ सेंचुरी' (१६०७) पुस्तक में प्रकाण्ड विद्वान सेण्ट्सबरी ने रूसी लेखकों पर चर्चा करते हुए लिखा—"........**परवर्ती और सचमुच (हमारे) समकालीन गोर्की के उल्लेख के लिए केवल यही पर्याप्त माना जा सकता है कि उन्होंने 'गन्दगी' में और प्रगति की।**" यह हम देख ही चुके हैं कि गोर्की के कृतित्व के तृतीय काल की कृतियों में मिस्र्की सच्ची वस्तुमूलकता और तटस्थता से युक्त वास्तविक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित मानते हैं। गोर्की के यथार्थवाद की चर्चा हम जल्दी से केवल यही कहकर बन्द करते हैं कि यह 'समाजवादी यथार्थवाद' का युग है।

गोर्की के इस सर्वेक्षण में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं। जिस प्रकार 'आलोचना' में प्रकाशित दस्तोएवस्की पर अपने लेख में हमने देखा था कि विशिष्ट सिद्धान्तों पर आश्रित समीक्षा कलाकार पर सहायक प्रकाश डालने के स्थान पर उसके अनुशीलन को अधिक जटिल और कंटकित बनाती है, उसी प्रकार प्रस्तुत लेख यह प्रदर्शित करता है कि सैद्धान्तिक मतभेद के अतिरिक्त गोर्की की समीक्षाओं में विशिष्ट राष्ट्रीय दृष्टिकोणों की बहुलता है। विभिन्न देशों के लिए किसी भी समय अपने-अपने विशेष दृष्टिकोण का कारण और मूल्य हो सकता है और कदाचित् कला के मूल्यांकन को भी उससे पूर्णतया मुक्त करना कभी सम्भव नहीं, किन्तु इस कार्य में उसका इतने स्थूल और व्यापक रूप में प्रभाव किसी प्रकार वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह नहीं है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण क्यों है और विशेष प्रकार के समीक्षात्मक वक्तव्य क्यों दिये गए हैं। इनका होना तो अत्यन्त स्वाभाविक है। किन्तु यह स्वाभाविक है इसीलिए यह आवश्यक है कि निष्पक्ष मूल्यांकन के पूर्व तटस्थता के साथ ऐसे तथ्यों पर ध्यान दिया जाय जिससे हमारे निर्णयों में यथासम्भव इस प्रकार के देशी या विदेशी पूर्वग्रहों का समावेश न हो सके। हिन्दी-जगत् के हृदय में गोर्की की प्रतिभा तेजोदीप्त है, किन्तु वह रूपहीन है। उसे सरूप बनाने के लिए जैसे स्वयं गोर्की के समस्त साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार गोर्की की समीक्षा के उस पक्ष का अध्ययन और विश्लेषण भी, जिसके संकेत का प्रयत्न प्रस्तुत निबन्ध में किया गया है और हमारा सुझाव है कि ब्रिटेन अपना हाइड्रोजन बम फोड़े उसके पूर्व ही हमें यह कार्य सम्पन्न कर लेना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

'नई कविता'—दो समीक्षाएँ

: १ :

ब्रजलाल वर्मा

['नई कविता' शब्द से हमारे दोनों समीक्षकों ने 'नये प्रकार की कविता' का अर्थ अनायास ले लिया है । हमारी दृष्टि में नई कविता शब्द का प्रयोग इतने सीमित अर्थ में करना ठीक नहीं है, फिर भी हमने प्रस्तुत शीर्षक को बदलना उचित नहीं समझा । केवल उसे '' चिह्नों से समन्वित कर दिया है ।]

—संपादक

मानव-हृदय की राग-चेतना और कविता दोनों सहजात एवं अन्तरावलम्बित हैं, दोनों के इतिहास का एक साथ उदय होता है तथा दोनों एक-दूसरी की मुखापेक्षी हैं । कविता के क्षेत्र में इस राग-चेतना तथा बुद्धि का भेद भी युग-पुष्ट है, फिर भी राग-चेतना में बुद्धि का एकान्त अभाव अथवा एकान्त अतिरेक दोनों ही समर्थ रचना के बाधक हैं । सुष्ठु एवं मार्मिक काव्य-रचना के लिए मस्तिष्क-स्थित बुद्धि को सदैव अपना आसन छोड़कर हृदय की ओर कुछ नीचे उतरना पड़ता है तथा हमारी हृदयस्थ भावना को बुद्धि के स्वागत के लिए सदैव तत्पर रहना पड़ता है—सफल रचना का प्रादुर्भाव इसी समन्वय में सम्भव है । कविता के लम्बे अतीत पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि कविता के सामने ऐसा चतुष्पथ पहले कभी नहीं आया जबकि उसे दिग्भ्रमित-सी होकर अपने गन्तव्य पथ पर बढ़ने के लिए किसी के निर्देश, संकेत की आवश्यकता पड़ी हो, जैसी कि आज कविता के सामने 'किधर जायँ' की समस्या आ खड़ी हुई है । संस्कृत कवियों, आचार्यों की सम्प्रदाय-परक परिभाषाओं के बड़े-बड़े व्यूहों में कविता को प्रवेश करना पड़ा, तथापि वह सबको पार करती हम तक आ गई है । परन्तु आज कविता समस्या-विह्वल-सी खड़ी न आगे बढ़ रही है और न पीछे । वह स्तम्भित-सी एक स्थान पर खड़ी है । विभिन्न मार्गनिर्देशक अपनी-अपनी झण्डियों द्वारा उसे परस्पर प्रतिकूल दिशाओं में बढ़ने का संकेत दे रहे हैं—कविता किस निर्देशक पर विश्वास करे, किसके संकेत पर आगे बढे, एकान्तनिष्ठ प्रतिकूल प्रताड़नाओं में वह किसका आदेश माने यह एक समस्या है । उसे भय और आशंका है कि यदि किसी भ्रामक निर्देश के सहारे किसी अनजाने पथ पर वह बढ़ गई तो ऐसा न हो कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे वहाँ से फिर वापस लौटना पड़े।

इतनी भूमिका से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'नई कविता' शीर्षक में हम हिन्दी की किस काव्यधारा को बाँधना चाहते हैं। हमने 'नई' शब्द के लिए 'आधुनिक' शब्द का जान-बूझकर प्रयोग नहीं किया, क्योंकि नई कविता के उन्नायक नई कविता को आधुनिक कविता कहने के पक्ष में नहीं हैं। **"हम 'नई कविता' के नाम से इधर एक विशिष्ट शैली और 'स्कूल' की काव्य-कृति को पुकारने-पहचानने लगे हैं और अब शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं रही कि सभी सामयिक अथवा आधुनिक कविता नई होते हुए भी नई कविता नहीं है।"**[1] नई कविता से यहाँ प्रयोजन है वह कविता जो 'प्रसाद', 'निराला', पन्त और महादेवी की छायावादी तथा रहस्यवादी धारा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई। नई कविता का अभिप्राय विशेष रूप से उस कविता से है जो श्री अज्ञेय के पहले और दूसरे 'तार सप्तक' से फूटी। हम नहीं कहते कि नई कविता 'तार सप्तक' से स्वरित होने के पश्चात् ही आविर्भूत हुई, हो सकता है 'तार-सप्तक' की तन्त्री में 'नई कविता' पहले से ही निर्वाक् तारों में निवसित रही हो। हमारा आशय इतना ही है कि नई के प्रथम आलोक के दर्शन तभी हुए जब नई कविता के सप्तर्षि कवि श्री 'अज्ञेय' के 'तार सप्तक' की बल्लकी को छेड़कर अपने स्वतन्त्र राग अलापने लगे। यद्यपि आधुनिक कविता के इतिहास का कोई भी पर्यवेक्षक इसी यथार्थ को स्वीकार करेगा कि नई कविता ने पिछले पच्चीस वर्षों में अपने तीन नाम बदले हैं। सबसे पहला नाम था प्रगतिवाद, दूसरा नाम था प्रयोगवाद, और तीसरा नाम है 'नई कविता'। ध्यान रहे कि नई कविता के आज के पोषक नामों की इस परम्परा को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। नाम क्या, वे नई कविता तथा प्रगतिवाद में कोई संसर्ग भी स्वीकार करने को तैयार नहीं और हम तो नई कविता को प्रयोगवाद भी कहते घबराते हैं, क्योंकि इस दिशा में श्री 'अज्ञेय' के विधि-निषेध पहले से ही निर्धारित हैं। वे कहते हैं—**"प्रयोग का कोई वाद नहीं, हम वादी नहीं रहे, न ही हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है···अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कविता-वादी कहना।"**[2] उक्त कथन में 'नहीं रहे' अंश इतना तो संकेत करता है कि पहले कभी थे अब नहीं रहे, तब फिर हमारा तीन नामों की परम्परा का उल्लेख असंगत नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि नामों के परिवर्तन की आवश्यकता क्यों पड़ी? उत्तर सरल और निष्पक्ष है। जैसे किसी देश में अराजकता उत्पन्न करने वाला विद्रोही शासनाधिकारियों की गिरफ्त से बचने के लिए तथा उनकी नजर बचा जाने के लिए नित्य अपने रूप और नाम बदलता रहता है, वैसे ही यह नई कविता भी शायद समालोचकों के कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण से बचते रहने के लिए अपना नाम और रूप बदलती रही। पूछा जा सकता है कि फिर नई कविता की यह परिवर्तन-परम्परा पकड़ में कैसे आई? इसका उत्तर भी सरल ही है। नाम-रूप का परिवर्तन संस्कारों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, नाम-रूप के बदलने पर भी स्वभाव, संस्कार, आदतें और आचरण में कोई अन्तर नहीं आता। उधर साहित्य के अनुशासक भी नई कविता के पीछे पड़ गए। आज तो नई कविता के विद्रोही ने आज की बदली हुई भौतिक परिस्थितियों और परिवेश में पर्याप्त रूप

१. 'कल्पना' मासिक पत्रिका जनवरी १९५६ का 'नई कविता' निबन्ध, ले० श्री बालकृष्ण राव।
२. 'दूसरे सप्तक की भूमिका', ले० श्री अज्ञेय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से शक्ति-संकलन कर लिया है और अब तो वह अनुयायियों के सामने मोर्चाबन्दी करके खुले रूप से आ गया है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष बारम्बार हमारे सामने आएगा कि हिन्दी-काव्य की छायावादी धारा में भारतीय संस्कृति और भारतीय सौन्दर्य के मान जब अपना मूल्य और महत्त्व स्थापित करते देखे गए, जब छायावादी धारा कलात्मक प्रणाली में स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्रीयता के उद्घोष का माध्यम बनने लगी तो भारत के राजनीतिक अंचल में एक वर्ग ऐसा भी था जो मार्क्स और लेनिन के आप्त निर्देशों का परिपोषक था और जिसने यह अनुभव किया था कि यदि कविता 'मास्को मुक्त' राष्ट्रीय चिन्तन की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई तो भारतीय जनता के हृदय में साम्यवाद तथा मार्क्स के सिद्धान्त अपनी जड़ें नहीं जमा सकेंगे। अतः उस वर्ग ने कविता को प्रगतिवाद की गली में चलना सिखाना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु भारतीय साहित्यिकों के वर्जन और तर्जन ने इस धारा को आगे नहीं बढ़ने दिया। तब परिणाम यह हुआ कि उसी वर्ग ने कविता को 'प्रयोग' जैसा नाम दे दिया। हां, नाम के परिवर्तन के साथ-साथ रूप-परिवर्तन की महिमा भी सामने आई। इस बार नया शिल्प, नये शब्द, नई अभिव्यक्ति, नये उपमान आदि के नारे बुलन्द किये गए। कथन और कथ्य दोनों की नवीनता का प्रतिपादन किया गया। "कथ्य का आधुनिक होना तो आवश्यक है ही। बिना सर्वथा आधुनिक कथ्य के शैली की नवीनता मात्र विलक्षणता अथवा प्रयोग होकर रह जायँगे।"[1] नई कविता का आन्दोलन वैसे ही शक्ति ग्रहण करता गया, जैसे मि० जिन्ना का हिन्दू-मुसलिम दो पृथक् राष्ट्रों वाला सिद्धान्त। किन्तु इसका कारण सिद्धान्त की अपनी शक्ति-सम्पन्नता उतना नहीं था जितना भारतीय नेताओं द्वारा सिद्धान्त का विरोध। नई कविता की ऐसी कटु, गम्भीर एवं अनावश्यक भर्त्सना की गई कि इसके प्रति समाज का और भी आकर्षण बढ़ता गया। आकर्षण के लिए वस्तु का सुन्दर होना आवश्यक नहीं, वस्तु की असामान्यता ही उसके आकर्षण का साधन बन जाती है। असामान्यता का पक्षी या विपक्षी, अनुकूल या प्रतिकूल आन्दोलन तथा प्रचार उसके आकर्षण में चार चाँद लगा देता है। नई कविता के साथ यही हुआ। हमारा विश्वास है कि यदि हमारे समालोचक इसकी उपेक्षा कर जाते तो शायद नई कविता का यह अतिवादी रूप सामने न आता जो आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में आया है तथा विरोध में सन्तुलन नहीं रहता। यही कारण है कि जिस प्रकार छायावादी काव्य के प्रति यह उपालम्भ निरन्तर चलता रहा कि छायावादी काव्य में और कुछ भी हो, छाया शब्द से तो उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही 'नई कविता' के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसमें 'नया' कुछ भी हो 'कविता' तो नहीं है। छायावादी कविता तथा नई कविता में हमें एक विशिष्ट साम्य देखने को मिलता है। जैसे छायावादी कविता एक ओर तो ब्रिटिश प्रभाव के भारत में अंग्रेजी साहित्य की नवजात चेतनाओं से प्रभावित हुई, दूसरी ओर रीतिकालीन काव्य की स्थूल ऐन्द्रिकता तथा शैली की रूढ़ियों से ऊबकर सूक्ष्मता और स्वच्छन्दता की ओर वेग से मुड़ गई, उसी प्रकार नई कविता भी एक ओर अंग्रेजी की यथार्थवादी धारा से प्रभावित हुई, दूसरी ओर उस पर विज्ञान का बढ़ता हुआ बुद्धिवादी घटाटोप छा गया।

नई कविता के कर्णधारों ने अंग्रेजी समालोचकों की भाँति ही स्वच्छन्दवादी तथा छायावादी धाराओं को मृत एवं व्यतीत मानने में ही नई कविता का गौरव समझा। "यह दूसरी बात है कि पुरानी कविता शनैः-शनैः सामान बाँधकर जाने की तैयारी में लगी हुई है और

१. 'नई कविता' निबन्ध, 'कल्पना', जनवरी ५६, लेखक श्री बालकृष्ण राव।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नई अपना घर जमा रही है।''[1] अथवा "इस समय भी जहाँ एक ओर नई कविता की प्रभात-किरणें क्षितिज को आलोकित करने लगी हैं, वहाँ आकाश और पृथ्वी पर गत निशा की नक्षत्रावलियाँ अब भी टिमटिमाती-मुस्कराती दीख पड़ती हैं। संक्रान्ति के समय किसी का एकाधिपत्य नहीं होता और यह समय संक्रान्ति का ही है।''[2] श्री राव के इस वक्तव्य में हमें कभी-कभी संक्रान्ति शब्द में भ्रम होने लगता है, क्योंकि संक्रान्ति तो संध्या में भी होती है, उस समय भी नक्षत्रों का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है; उस समय तो गत निशा नहीं आगत निशा की सूचना मिलती है, क्योंकि नई कविता जिस दृश्य की अवतारणा कर रही है उससे तो प्रभात के आगमन का संदेश न मिलकर किसी कविता की दीर्घयामिनी का ही आभास मिलता है। रोमांटिक काव्य के सम्बन्ध में भी अंग्रेजी के कवितावादियों की-सी बात यहाँ के लोगों ने भी कही है।[3]

नई कविता के शिल्प-विधान, भावाभिव्यक्ति तथा सूक्ष्म संगीतमयता को देखकर तो श्री प्रभाकर माचवे के स्वरों में "सहसा यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी के कवि क्या पढ़ते हैं? उनका अध्ययन कितना गहरा है, कितनी भाषाओं का है? कितने विषयों का है, वाग्वैदग्ध्य का उनके निकट क्या मूल्य है? क्या संगीत को शब्दार्थ से वे असम्पृक्त मानते हैं? उनमें अनुभूति की सचाई कितनी है? आलोचकों को कवियों को महानता का बिल्ला चिपकाने की इतनी जल्दी क्यों है? उन पर प्रभाव कितने हैं, किनके हैं, कैसे हैं? आधुनिक कविता में गूँज कितनी है, अनुगूँज कितनी है?''[4] यद्यपि श्री माचवे ने यह प्रश्न हमारे आशय से भिन्न दूसरी संगति में प्रस्तुत किया है, किन्तु नई कविता की वर्तमान दशा देखकर ऐसा लगता है कि श्री माचवे ने हमारे मुँह से मजमून छीन लिया है। ये प्रश्न नई कविता के समर्थन में जुटाये गए हैं, किन्तु यदि हम उनके विरोध में इन प्रश्नों को संयोजित करें तो एक-एक प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है[5]—हिन्दी के नये कवि टी० एस० ईलियट का वेस्ट लैंड, फ्रायड का काम सिद्धान्त, श्री अज्ञेय के निबन्ध ही पढ़ते हैं। उनका अध्ययन श्री हर्ष, माघ, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, देव, बिहारी, प्रसाद, पंत का पूर्ण बहिष्कार करके ह्वाइटमैन एजरा पाउण्ड, टी० एस० ईलियट, डोन, पो आदि की रचनाओं के अनुशीलन तक सीमित है, कितना गहरा है यह साफ है। भाषाओं में तो ठीक-ठीक हिन्दी-भाषा का भी ज्ञान नहीं है, विषयों में 'विषय' वासना का है। वाग्वैदग्ध्य का मूल्य नये कवियों के निकट कुछ भी नहीं है। संगीत तो उनके छन्दों और शब्दों में क्या, एक-एक वर्ण और मात्रा में है। तब सम्पृक्त-असम्पृक्त का प्रश्न ही नहीं उठता। महानता का बिल्ला चिपकाने की जल्दी क्या है इसका जवाब तो श्री अज्ञेय ही दे सकते हैं। इन नये कवियों पर प्रभाव ईलियट, फ्रायड, एडलर जुंग के हैं; प्रभाव बहुत हैं, बुरे हैं। आधुनिक

१. 'कल्पना' पृष्ठ ३, जनवरी १९५६, 'नई कविता', ले० श्री बालकृष्ण राव।
२. 'कल्पना', जनवरी ५६, पृष्ठ ३।
३. Literature and Psychology, P. 130, by F. L. Lucas, "Romanticism like many Romantics died comparatively young. That was natural. Neo-Classicism in decline became a bore but bores can live long."
४. जनवरी १९५६ का टी० एस० ईलियट और काव्यालोचन शीर्षक निबन्ध से, श्री प्रभाकर माचवे। कृपया यह उत्तर दिये गए प्रश्नों के क्रम से पढ़िए।
५. कृपया इन उत्तरों को प्रश्नों के क्रम से पढ़िए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता में गूंज कुछ भी नहीं है, अनगूंज ही है ।

अब आइये, नई कविता के शिल्प-विधान पर एक दृष्टि डालें । नई कविता में छन्द और तुक के सम्बन्ध में कोई ऐसा कठोर नियम अथवा सिद्धान्त तो नहीं है, किन्तु नये कवियों के कुछ आपसी सर्वसम्मत रिवाज अब अवश्य दीख पड़ते हैं, जिनका पालन परस्पर प्रायः सभी नई कविता की होनहार पौध करती है । उदाहरणार्थ नई कविता की यह एक प्रच्छन्न शर्त है कि वह बेतुकी हो, छन्दहीन हो, संगीतमयता से मुक्त हो, भाषा सरल हो, किन्तु शब्दों के नये प्रयोग हों, चाहे पाठक के लिए वह फिर एक बार 'केशव की कविताई' क्यों न बन जाय । परन्तु नई कविता के परवर्दिगार हमारे इस कथन से सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि वे नई कविता के प्रत्येक चरण में एक नया तुक, नया छन्द, नई भाषा, नवीन लय मानते हैं । हमारे विचार से इस प्रकार के विचार को अंग्रेजी की नई कविता के काव्यशास्त्र से प्रेरणा मिली होगी, क्योंकि वहाँ का कवि यति (Stress) को ही तुक (Rhythm) मानने लगा ।[1] वहाँ यति ही कविता का लय और तुक बन गया । अंग्रेजी के ध्वनि-सिद्धान्त (Phonetix) तथा हिन्दी अथवा संस्कृत के ध्वनि-सिद्धान्त में मौलिक अन्तर है, यह तो सभी भाषाभाषी जानते हैं । अंग्रेजी कविता के लिए यति को ही तुक, लय और संगीत मान लेना भले ही सङ्गत हो, किन्तु हिन्दी के लिए तो यह बड़ी बेतुकी बात होगी, क्योंकि हमारे काव्य, सङ्गीत, भाषा, शब्द, वर्ण प्रत्येक के पीछे एक गम्भीर वैज्ञानिकता है, जबकि अंग्रेजी में हमारे दृष्टिकोण से पहले तो कोई सङ्गीत अथवा लय या तुक है नहीं, यदि है भी तो वह हमारी भाषा के अनुरूप नहीं । फिर अंग्रेजी यति प्रणाली अथवा छन्द-विधान हमारी कविता में किस प्रकार बिठाया जा सकता है ? यदि ऐसा करने का दुराग्रह किया भी जाय जैसा कि नई कविता के प्राणदाताओं द्वारा किया जा रहा है, तो यह वैसा ही होगा जैसे मोतियों के ढेर में घोंघे मिलाकर दोनों को एक ही दाम में बेचने का प्रयास करना । मोती और घोंघा एक में नहीं मिल सकते । मिश्रण तो सजातीय द्रव्यों का ही हो सकता है । अंग्रेजी कविता की रचना-प्रणालियों के विजातीय द्रव्यों की मिलावट तो दोनों के वस्तु-रूपों को नष्ट कर देगी । इन तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए चाहिए था हिन्दी की नई कविता के उदाहरण प्रस्तुत करना, किन्तु स्थानाभाववश यहाँ यह सम्भव न हो सका । नई शब्द-योजना, असामान्य उपमान-विधान के लिए नया कवि विकल रहता है । नये-नये बिम्ब (images), नई-नई उपमाएँ नई कविताओं का जीवन-स्रोत हैं और नये कवि की आस्था भ्रमर, कमल, मकरन्द, निर्झर, चन्द्र, सुरभि से हटकर गधा, कुत्ता, सड़क, कीड़ा, पसीना, मूत्र आदि में हो गई है । नये कवि के यही पूज्य उपमान और उपमेय बन गए हैं । नये कवियों के यही उपमान साधारणीकरण की क्रिया में सफल हो पाए हैं, जैसा कि श्री अज्ञेय का कहना भी है—**"जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है । उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं हो पाता । कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है, जिससे पुनः**

1. Key to Modern English Poetry, 1948 Edition, P. 33. By Martin Gilkes Gerard Manley Hopkins, "meant rhythm in which one does not count by syllables but by stresses (a stress being either one word or group of words upon which the emphasis of the noice falls). So many stresses go to make one live and it does not matter in the least, provided the requisite stresses are all present and correct how long or short the line may be."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का यही अर्थ है।''[1] शायद नये कवियों को इसीलिए मकरन्द के स्थान पर पसीना और मूत्र तथा मृग और उसकी चंचलता के स्थान पर गधा और उसका बुद्धूपन साधारणीकरण का श्रेष्ठतर माध्यम प्रतीत होने लगा है। परन्तु हमारे विचार से साधारणीकरण का मर्म यह नहीं है। यह तो धारणा की चरम विकृति है, इसीलिए तो डॉ० नगेन्द्र को खीझकर कहना पड़ा—"प्रयोगवादी कवि बुद्धि-व्यवसायी है, अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहानुभूति में असमर्थ रहता है, अर्थात् अपने संवेद्य को विश्वास रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है और न प्रस्तुत ही कर सकता है और इसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है।''[2] परन्तु कविता के प्रवर्तकों के लिए यह सब क्षम्य है, क्योंकि वे न रस की पद्धति पर वैसी आस्था रखते हैं और न प्राचीन काव्यशास्त्र की वैज्ञानिकता उनको प्रिय है। उनके लिए तो संसार का सभी कुछ रूढ़ हो गया है। उनके तो शब्द के, भाषा के अपने नवीन 'वैज्ञानिक प्रयोग' हैं। किसी भी संख्या में पंक्तियां लिखकर ये कवि कविता लिख देने तथा एक से लेकर किसी भी संख्या के शब्दों द्वारा एक पंक्ति अथवा चरण बना देने का अच्छा अभ्यास कर चुके हैं। नई कविता के आचार्यों ने भी नई कविता की रचना के लिए उसी प्रकार के नियम प्रचलित कर दिए, जिस प्रकार सन् १९५३ में एफ० एस० फ्लिंट और एजरा पाउण्ड ने 'अमेरिकन पोइट्री' नामक पत्रिका में कुछ सिद्धान्त नई कविता के लिए निर्धारित कर दिए थे।[3] यदि श्री जे० आइज़क ने स्वच्छन्दवादी धारा की यह कहकर भर्त्सना की है—"रोमाण्टिक कवि जब एक बार अपना बटन दबा देता या स्टापकाक खोल देता अथवा रूपकों को अनुस्यूत कर देता है तो वह यह नहीं समझता कि वह कितनी काव्य-शक्ति निर्गलित कर रहा है। प्राचीन धारा का कवि कम-से-कम जितना निर्गलित करता है उस पर नियंत्रण रखने की आशा तो रखता है।''[4] तो नई कविता के इस असंतुलित रचना-विधान पर कहा जा सकता है कि नया कवि जब एक बार अपने नवप्रयोगों का नल खोल देता है तो उसे यह ध्यान नहीं रहता कि जो भाव-जल वह काव्य-पिपासु को दे रहा है वह जल तनिक भी संतृप्तिकारी है और उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि इस प्रकार के जल की प्रभूत मात्रा पिपासु के कण्ठोच्छ्लन का कारण तो नहीं बन जायगी। नई कविता के पोषक काव्य-कक्ष के वातायनों को उन्मुक्त कर देने का आग्रह करते हैं, वह इसलिए कि बाहर की स्वच्छ हवा प्रवेश पा सके; किन्तु वे यह नहीं विचार करते कि कभी-कभी वातायनों के बिलकुल खोल देने पर बाहर की दुर्गन्धि, धूप, शीत, आदि के प्रविष्ट हो जाने का भय रहता है, अतः चारों ओर देखकर ही वातायनों को खोलना चाहिए। स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता में अन्तर है। स्वतन्त्रता में अनुशासन और संयम का सौंदर्य मिश्रित रहता है। हमारे विचार से कवि को स्वतन्त्र तो होना

१. 'दूसरा सप्तक' की भूमिका, लेखक श्री अज्ञेय।
२. 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृष्ठ १२३, ले० डॉ० नगेन्द्र।
३. The Background of Modern English Poetry, p. 34, by T. Isaacs.
(1) Direct treatment of thing whether subjective or objective.
(2) To use Absolutely no word that did not contribute to the presentation.
(3) As regarding rhythm to compose in sequence of musical phrase, not in sequence of metronome.
४. The Background of Moden English Poetry के पृष्ठ २९ से मेरे द्वारा अनूदित एक खण्ड।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए, किन्तु स्वच्छन्द नहीं। स्वच्छन्दता तो विक्षिप्त का ही लक्षण है। श्री एफ० एल० ल्यूकस का यह विचार इस प्रसंग में अत्यन्त संगत प्रतीत होता है—"साहित्य स्वतन्त्र की सम्पत्ति है, किन्तु अनुत्तरदायी की नहीं।"[१] इतना ही नहीं, नये कवियों की एक और दुर्बलता लक्षित होती है, वह यह कि वे जनप्रिय बनने के लिए अभिव्यक्ति के अत्यन्त असंस्कृत एवं क्षुद्र धरातलों पर उतर आते हैं। 'पापुलरटी' पाने की आकांक्षा नये कवियों को सब-कुछ करने के लिए विवश कर देती है। श्री ल्यूकस ने इस सम्बन्ध में भी अपने मूल्यवान विचार प्रकट किये हैं, उनके अनुसार कवि को 'पापुलरटी' प्राप्ति मात्र के लिए नहीं लिखना चाहिए।[२]

नई कविता के एक कक्ष में सर्चलाइट फेंकना अभी शेष है। वह है उसकी फ्रायड के काम-सिद्धान्त की उपासना। नई कवितावादियों के अनुसार छायावादी कवियों का यह भी एक अपराध था कि वे दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति में संकोच करते थे, वे लोकादर्श की लाजवश अपनी दुर्बलताओं को प्रतीकों और दुरूह रूपकों के व्याज से व्यक्त करते थे। परिणाम होता था कि कविता का दुरूह हो जाना, लोकमानस को तृप्त करने में उसका असमर्थ हो जाना। इसीलिए नये कवियों ने भद्रता, आदर्श, शिष्टाचार, शील, सौन्दर्य सबको एक साथ तिलांजलि देकर उन दमित वासनाओं को अपनी कविता के माध्यम से डटकर उभारा। उनको मनुष्य के अवचेतन की ग्रन्थियों को खोलने में अधिक आनन्द मिला। नई कविता के बहुत से कवियों को फ्रायड के न तो प्लेजर प्रिन्सिपल का ज्ञान है और न सेक्स इंस्टिंक्ट का। केवल वे इतना जानते हैं कि मानव के प्रत्येक कार्य के पीछे काम-वासना छिपी है, यदि काम-वासना को काम-प्रेरणा भी कह लें तो अपनी जानकारी के साथ वे किसी सीमा तक न्याय कर सकते हैं। हीगेल, प्लैटो और अरिस्टाटिल के नैतिकतावाद एवं आदर्शवाद को चुनौती देने में नई कविता के प्रहरी फ्रायड से भी आगे बढ़ गए। 'मन की मुक्ति' नये कवि का आधेय बन गई।[३] नैसर्गिक सत्य के व्याज से आचरण की उच्छृङ्खलता का पोषण किया गया। मन के निग्रह एवं अन्तःकरण के संयम की युग-युग की पुनीत साधना-पद्धति को लात मारकर मन की उद्दाम वासना तथा दुर्वृत्तियों के निरंकुश स्खलनों को प्रश्रय दिया गया। इसीलिए नई कविता एकांगी हो गई। हमने जहाँ नई कविता की कुछ दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है, वहीं यह भी स्पष्ट कर दें कि सब 'नये' से हमारा विराग नहीं तथा सब 'पुराने' से राग नहीं। अच्छा हो कि पुराना कुछ नया बनकर आये और नया कुछ पुराना बनकर आये। हमें अतीतवादी होकर वर्तमान के सम्पूर्ण का त्याग प्रिय नहीं और न नवीनतावादी बनकर अतीत के सम्पूर्ण के ग्रहण को ही हम अपेक्षित मानते हैं। हमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए, यदि किसी भीषण नाद के लिए बम का विस्फोट,

१. 'Literature belongs to the free, but not to the irresponsible.'

२. देखिए वही, पृष्ठ ३५३।

३. श्री गिरिजाकुमार की 'खत' वाली कविता से उद्धृत

हैं यहाँ आजाद सभी विचार
मन भी मुक्त
मन की व्यंजना भी मुक्त
यही है सत्य नैसर्गिक
यही आसक्ति मन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेल के इंजन की वाष्प फूत्कार उपमान के रूप में आएँ, किन्तु हमें मेघों के गर्जन और शंख के भैरवनाद को सर्वथा विस्मृत नहीं कर देना चाहिए।

नये कवियों की 'मूड' की अवतारणा देखकर तो कभी-कभी बड़ी निराशा होती है। कहीं-कहीं क्या, प्रायः इन निर्बन्ध छन्दों का कुछ अर्थ भी नहीं बैठता है। मुझे तो श्री अज्ञेय के दूसरे 'तार सप्तक' में एक बड़ा भ्रम हो गया। मैं भ्रम के दोनों खण्डों को उद्धृत कर देना चाहता हूँ।

हासवन	विषय
मौनतम उसास ले	दो पहरी
ढलता वह अश्रु कठिन	ये हरे वृक्ष
जब उदास,	सुनसान गाड़ी
अन्तर प्रकाश पा	इतनी रात गये
तब घुलता	केशर रंग रंगे आगन
पाहन मलिन	पूर्णमासी रात भर
	जान-बूझकर नहीं जानती
	डर लगता है
	ज़िन्दगी का बोझ
	लीडर का निर्माता
	ताज़ा पानी

यहाँ आप देखें तो आकार और रूप में दोनों खण्ड प्रयोगवादी अतुकान्त कविताएँ-सी दीखते हैं। किंतु आप आश्चर्य करेंगे यह जानकर कि पहला खण्ड श्री शमशेर बहादुरसिंह की 'हासवन' शीर्षक कविता है और दूसरा श्रीमती शकुन्तला माथुर की रचनाओं का सूचीपत्र है। यह प्रयोगवादी रचना-पद्धति की विशेषता ही मानिए कि उसकी शैली और सज्जा में एक सूचीपत्र छाप दिया जाय तो वह कविता ही बन जायगा।

बिम्ब-ग्रहण तथा उसकी अभिव्यक्ति का नये कवि बड़ा दम्भ भरते हैं। हम एक ही विषय पर दो रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। दोनों के उपमा-विधान पर विचार कीजिए और देखिए कि सौन्दर्य किसमें है। वैयाकरण महर्षि पाणिनि एक नायिका के सौन्दर्यातिरेक का वर्णन करते हुए कहते हैं—

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारा निपातैः सह किन्नुवान्तश्चन्द्रोयमित्यार्ततरं ररास ॥[1]

बादल अपनी बिजली की आँखों से रात्रि में अभिसारिका के मुख को देखकर इस भ्रम में पड़ गए कि उनका अन्तश्चन्द्र तो वर्षा की धारा के साथ नीचे नहीं चला गया। ऐसा सोचकर वे आर्ततर होकर विलाप करने लगे।[2] अभिसारिका के सौन्दर्य की कैसी पुष्ट अभिव्यक्ति है! हम

१. महर्षि पाणिनि विरचित 'जाम्बवती विजय नाटक' नामक अप्राप्य कृति से।

२. हिन्दी अनुवाद—मेघ ने तड़ित नयन से देख
निशा में अभिसारिण मुखचन्द्र
गिरा शशि जल वर्षा को जान
सिसकता संकरुण स्वर में मंद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूछेंगे, इस उक्ति के कौनसे शब्द घिस गए हैं ? इसमें प्रयोग की किस विशेषता का अभाव है ? श्रीमती शकुन्तला के 'सुहाग वेला' गीत के इस खण्ड में कौनसा नया प्रयोग है ?

चली आई बेला सुहागिन पायल पहने···
बाणविद्ध हरिणी-सी
बाँहों में सिमट जाने की
उलझने की, लिपट जाने की
मोती की लड़ी समान

इन पंक्तियों में सुहागवेला के आगमन का चित्र खींचा गया है, किन्तु बाणविद्ध हरिणी का उपमान प्रस्तुत करके रंग में भंग कर दिया गया है। शृंगार में करुण की योजना की गई है।

छायावाद के मरघट पर नई कविता की मेंहदी रचाने वाले महाशयों की धारणा है कि नई कविता का भविष्य उज्ज्वल है, क्योंकि वह नई है, कविता न भी हो तो क्या ? किन्तु नई कविता के पोषकों एवं विरोधियों दोनों को गम्भीरतापूर्वक सोचना होगा तथा रूढ़ि और नवीनता दोनों के बीच एक सन्धि-बिन्दु खोजना होगा। रूढ़ि का पूरा बहिष्कार तो श्री अज्ञेय भी नहीं स्वीकार करते, प्रत्युत वे रूढ़ि की साधना को अनिवार्य मानते हैं।[1] नये कवियों की एक और विशेषता यह है कि वे नई कविता पर आये-दिन प्रचार-गीत लिखते हैं। नई कविता उनकी रचना का आलम्बन बन गई है यह भी कविता के हित में नहीं है। काव्य-प्रतिभा न होने पर भी कुछ तरुण, जब कहीं कविता नहीं छपती या प्रकाशित होती तो वे उसी असफल रचना को, कहना चाहिए जो रचना ही नहीं है, किसी प्रयोगवादी संकलन में प्रकाशित करा देते हैं क्योंकि अभी प्रयोगवादी किले में मैन-पावर का बड़ा महत्त्व है, जितने ही रंगरूट बढ़ जायँ अच्छा है। मैंने तो कुछ किशोर कवियों की प्रयोगवादी रचनाएँ लिखने का कारण यही जाना है कि उनकी वहाँ प्रतिष्ठा है, सम्मान है, कवि के रूप में आदर होता है। अप्रयोगवादी क्षेत्र में उनको कोई कवि ही नहीं मानता। अपने एक निबन्ध में डॉ० जगदीश गुप्त, जो प्रयोगवाद के हिमायती हैं, का विश्वास है कि जिस प्रकार छायावाद के प्रारम्भ में उसका बड़ा विरोध हुआ किन्तु अन्ततोगत्वा उसने अपनी जड़ें जमा ही लीं,[2] उसी प्रकार नई कविता के प्रारम्भ में उठने वाले विवाद एक दिन क्षीण हो जायँगे और नई कविता व्यापक प्रतिष्ठा की अधिकारिणी हो सकेगी। यह तर्क तो नई कविता के जन्म के पूर्व ही उसकी मृत्यु की सूचना देता है। प्रयोगवादी ही यह भी मानते हैं कि छायावाद को अपनी कुछ विकृतियों के कारण अविकसित ही मर जाना पड़ा, तो फिर

---

१. 'त्रिशंकु', पृष्ठ ३१, लेखक श्री अज्ञेय —
"हमें किंचित् यह विस्मयकारी तथ्य स्वीकार करना होगा कि परम्परा स्वयं लेखक पर हावी नहीं होती, बल्कि लेखक चाहे तो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है। लेखक की साधना से ही रूढ़ि बनती और मिलती है और हम सिद्ध करेंगे कि रूढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए वांछनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है।"

२. 'नयी कविता नया सन्तुलन' निबन्ध, लेखक डॉ० जगदीश गुप्त—"कटु आरोपों और अनर्गल आलोचनाओं के विरुद्ध उस समय का विद्रोह नतशीश नहीं हुआ, आज भी नहीं होगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगदीश का यह तर्क क्या नई कविता के सम्बन्ध में पूरा-का-पूरा स्वीकार कर लिया जाय ? यदि हाँ तो छायावाद की अकाल मृत्यु नई कविता के सामने भी है। नई कविता चाहे अपने नाम में नई कविता बनी रहे, किन्तु अपने प्रभाव और गुणों में यदि केवल कविता ही बनी रही तो वह साहित्य की विस्तृत परम्परा को अपने पुष्ट योग द्वारा आगामी युग तक बढ़ा देगी, अन्यथा नई कविता की वर्तमान गतिविधि तो परम्परा की उस धारा को विच्छिन्न कर देगी ऐसा प्रतीत होता है। यदि नई कविता के शिल्प की पाकशाला में स्वास्थ्यवर्द्धक सुस्वादु व्यञ्जनों का अभाव है तो विदेशी मन्दिरों के उच्छिष्ट प्रसाद के बल पर उसका जीवन कितने दिन चलेगा।

: २ :

श्री० प्रतापसिंह चौहान

हिन्दी की नई कविता को लेकर विद्वानों तथा आलोचकों में विवाद हुए हैं। इस नये काव्य के समर्थन में प्रायः वे ही व्यक्ति हैं जो इसके स्रष्टा हैं। आलोचकों के दोनों वर्गों—पिछली पीढ़ी के आलोचकों तथा नये प्रगतिशील आलोचकों—ने इसका स्वागत नहीं किया, वरन् भर्त्सना ही की है। नई कविता के समर्थकों ने पुष्ट तर्कों द्वारा अपने मत की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। ये विवाद प्रायः रूपाकार (फार्म) तथा वस्तु को लेकर हुए हैं। हिन्दी की काव्य-परम्परा को देखते हुए निस्सन्देह नई काव्य-शैली विवादग्रस्त तथा विचारणीय है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अति प्राचीन काल से 'पद्य' तथा गद्य की भाषा में अपेक्षाकृत अन्तर रहा है। भाव-व्यंजना की इन दोनों शैलियों में जहाँ गद्य व्यास-पद्धति को अपनाता है, वहाँ पद्य समास-पद्धति को। गद्य में जहाँ विवेचना तथा तर्क की अधिक क्षमता होती है वहाँ पद्य में लय के साथ भाव-प्रसूत चित्र अधिक स्पष्ट तथा हृदयग्राही होते हैं। अतएव काव्य में से जब लय को निकाल दिया जाता है तो भावाभिव्यक्ति बुद्धिपरक हो जाती है और हम उसे गद्य ही कह सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि नया काव्य अपनी अभिव्यंजना में अपने पूर्ववर्ती छन्दों का परिधान ही स्वीकार करे, किन्तु मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि चिन्तना तथा भावाभिव्यंजना की भाषा में अन्तर हो। लयहीन काव्य-भाषा में निश्चय ही काव्य-तत्वों का पूर्ण पोषण नहीं हो सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि भावानुभूति की दशा में हृदय के सामान्य स्पन्दनों में तीव्रता आ जाती है। अतएव मन की उस असाधारण भावुकतापूर्ण स्थिति में भाषा तथा भावों में अतिशय रमणीयता आ बैठती है। अस्तु, उन क्षणों में अद्भुत क्षमता होगी। उसे पढ़ते ही मन भावाविष्ट हो उठेगा। भाषा में अत्यन्त प्रभविष्णुता होगी। वह भाषा हृदय की होगी, आत्मा की होगी। किन्तु भावानुभूति के क्षणों के अतिरिक्त समय में भाषा विचार-प्रधान होगी। और इसीलिए मैं हृदय की भाषा तथा मस्तिष्क की भाषा के अन्तर को आवश्यक ही नहीं, अभीष्ट भी समझता हूँ।

आज का कवि अपने काव्य में संगीत की नियोजना भी नहीं पसन्द करता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य में संगीत उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है, जहाँ तक काव्य की महिमा अक्षुण्ण रहे। यदि श्रोता का मन काव्य में वर्णित वस्तु की अपेक्षा संगीत की तानों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलापों में अधिक रमता है तो कवि निःसन्देह ही अपनी सीमा के बाहर चला जाता है। किन्तु शब्दों के समुचित प्रयोग तथा छन्द-योजना में भी एक प्रकार का संगीत रहता है। उसकी पहचान यदि कवि को नहीं है, तो उसका काव्य उस अभिव्यक्ति को नहीं दे सकता जो उस भाव-व्यंजना के लिए आवश्यक है। इस प्रकार के शब्द-संगीत की आवश्यकता तो प्रायः सभी प्रकार के काव्य में रहती है, किन्तु 'लीरिक' या गीति-काव्य में तो संगीत पर ही विशेष प्रकर्ष होता है। यदि 'गीत' से गेय तत्त्व निकाल दिया जाय तो वह केवल मात्र तुकबन्दी रह जायगा। आधुनिक काल में संगीत और काव्य कला के दो भिन्न विभाजन माने जाने लगे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन आचार्यों ने भी कला के वर्गीकरण में संगीत और काव्य की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। तानों, आलापों, स्वरों, ग्रामों और गमकों में बँधा हुआ संगीत निस्सन्देह ही अपने-आप में पूर्ण है, किन्तु उसे हम केवल संगीत ही कह सकते हैं। कबीर, तुलसी, सूर तथा मीरा के पद जितना कवियों को भावाविष्ट करते हैं, उससे कम वे संगीत और गायक के मन को रससिक्त नहीं करते। वे कवि से अधिक उन पर अपना अधिकार समझते हैं। अतएव यदि नया कवि (प्रयोगवादी कवि) अपने काव्य में संगीत की इसी प्रकार अवहेलना करता जायगा, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि संगीत के माध्यम से समाज और राष्ट्र में जिस चेतना को जन्म दिया जा सकता है, वह सम्भव न हो सकेगी। अपने गेयतत्त्व के अभाव में काव्य भी लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकेगा और कदाचित् इसी कारण अपने अन्तर्गत सामाजिक तत्त्वों को लिये हुए भी वह समाज का न हो सकेगा तथा इसी कारण उसे अधिक टिकाऊ होने का भी अधिक अवसर नहीं प्राप्त होगा।

रूपाकार (फार्म) को लेकर मुझे केवल एक बात और कहनी है। वह बात है शब्द-प्रयोग की। आज का प्रयोगवादी कवि शब्दों के अन्धाधुन्ध प्रयोग करता जा रहा है। शब्दों को तोड़-मरोड़कर उनको अपने काव्य में बिठाना जहाँ एक ओर मन को जुगुप्सा से भर देता है, वहीं शब्द-सामर्थ्य को भी कमजोर कर देता है। एक कवि ने चिहुँकी शब्द के स्थान पर चिउँकी के प्रयोग द्वारा व्यंजना में मिठास लाने के लिए शब्द की शक्ति पर जो आघात किया है, उसे चिहुँकी तथा चिउँकी की अर्थव्याप्ति की जानकारी रखने वाले सभी विद्वान जानते हैं। पर इससे अधिक चिन्त्य बात है, व्याकरण को लेकर भाषा के प्रयोग। १६५४ की कविताओं का एक प्रतिनिधि संकलन 'कविताएँ : १६५४' के नाम से श्री अजितकुमार तथा देवीशंकर अवस्थी के संयुक्त सम्पादन में निकला है। इस संग्रह को मैं सन् १६५४ का प्रतिनिधि संग्रह इसलिए कहता हूँ, क्योंकि इसमें सन् १६५४ के प्रायः सभी प्राचीन-नवीन कवियों की कविता तथा काव्य की प्रत्येक धारा को स्थान प्राप्त हुआ है। सम्पादक-द्वय का यह कार्य वास्तव में स्तुत्य है। इसी संग्रह के एक कवि हैं श्री कुँवर नारायण। उनकी कविता का शीर्षक है 'पंख मेरे'। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ निम्न हैं—

> पंख मेरे
> तू कृती हर बार
> नभ केवल प्रतीक्षा।
> तू उमड़-बढ़ वक्र में अपने गगन को घेर।

इस कविता में जरा 'वक्र' शब्द के प्रयोग को देखिये, आदि-आदि। 'वक्र' शब्द हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता आया है, किन्तु यहाँ पर कवि ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग के चक्कर में संज्ञा के रूप में इसे रखा है। कवि के मन में अंग्रेजी का 'कर्व' शब्द रहा है और सम्भवतः यह गलती इसी कारण हुई है। चाहे जो कुछ हो, ऐसे प्रयोग भाषा तथा व्याकरण की दृष्टि से अत्यन्त चिन्तनीय हैं। अतएव जिन्हें व्याकरण का ज्ञान है उन्हें शब्दों और व्याकरण के साथ यह खिलवाड़ सह्य न होगा, क्योंकि शब्द का अपना सामर्थ्य होता है, अपनी अर्थ-व्याप्ति होती है। अतएव जब तक प्रयोगवादियों का अपना एक सर्वसम्मत व्याकरण नहीं बन जाता तब तक उन्हें रूढ़िवादियों के व्याकरण का ही आश्रय लेना चाहिए और व्याकरण तथा शब्दों के साथ मनमाना अत्याचार न करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक शब्द के साथ एक इतिहास जुड़ा है, उसकी सामर्थ्य की व्याप्ति है। 'नभ' के 'मन' तक पहुँचने तक की प्रक्रिया में समय लगा है। एक क्षण में ही बिना सोचे-समझे यह सब सम्भव नहीं हुआ है। फिर भी दोनों के अर्थों में महान् अन्तर है। एक संकल्प-विकल्प की क्रिया का द्योतक रूढ़ शब्द है तो दूसरा प्रणति के भाव को व्यक्त करता है। शब्दों के प्रयोग के विषय में दूसरी बात है अन्य भाषाओं के शब्दों के ग्रहण के विषय में। अन्य भाषाओं के शब्दों को अपने काव्य के अन्तर्गत अपनाने में प्रयोगवादी कवि ने आवश्यकता से अधिक उदारता दिखाई है। छायावादी कवियों के काव्य में—विशेषकर पन्त और निराला के काव्य में—यत्किंचित् उर्दू शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उन्होंने अपनी काव्य-भाषा के लिए प्रमुख रूप से संस्कृत से ही प्रेरणा ली है। निरालाजी के काव्य में प्रान्तीय भाषा बंगला का प्रभाव प्रचुर मात्रा में अवश्य मिल सकता है। किन्तु बंगला अपने शब्दों के निर्माण में संस्कृत से ही आश्रय लेती आई है, इसलिए वे शब्द बंगला से गृहीत होने पर भी संस्कृत के ही हैं। किन्तु प्रयोगवादी कवि ने उर्दू और अंग्रेज़ी शब्दों के मोह में संस्कृत से प्रेरणा लेना लगभग बन्द ही कर दिया है। 'नई कविता' प्रयाग का दूसरा अंक मेरे हाथ में है। इसमें प्रकाशित अधिकांश कविताओं की भाषा या तो उर्दू है या फिर अंग्रेजी। संस्कृत-तत्सम-बहुला एक-दो कविताओं को छोड़कर और नहीं दिखाई देतीं। कुछ कविताओं के शीर्षक भी अंग्रेजी में दिये गए हैं। उदाहरणार्थ श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविताओं के 'पोस्टर और आदमी' तथा 'पीस और पैगोडा' शीर्षक रखे जा सकते हैं। उर्दू भाषा के शब्दों की छटा तो प्रायः प्रत्येक कविता में अतिशय मात्रा में मिल सकती है। कुछ पंक्तियाँ 'पीस और पैगोडा' शीर्षक कविता से उद्धृत कर रहा हूँ, पढ़िए और भाषा के प्रश्न पर विचार कीजिए—

> "एक *लाश* खड़ी करके दूसरी *लाश* उसके सर पर लिटा दी गई है,
> ताकि उसकी छाँह तले
> ठण्डक से ऐंठे हुए
> दो *बेहोश जहरीले* साँपों के फन
> एक ही कमल की पंखुरी पर
> सुलाये जा सकें।
> *क्या कमाल है मेरे दोस्त!*"

उपर्युक्त उद्धरण की भाषा प्रायः सभी उर्दू है, किन्तु यदि और अधिक उदारता की जाय तो इटैलिक शब्द तो विशुद्ध उर्दू के हैं ही। इसी अंक की एक दूसरी कविता का भी नमूना देखिए। इसके रचयिता हैं श्री राजेन्द्र माथुर। उनकी हिन्दी-कविता का उर्दू शीर्षक है, 'खुद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परस्ता'। यह तो लिफ़ाफ़ा है, अब 'मज़मून' की भी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"किया गया *तलब*
कहा गया चलो *कलब*
सवाल-जवाब से तुम्हें *मतलब* ?
जुम्बिसाने-से लब
गये कुछ दब :
टपकने लगे नैनों के टब
....
ज़माना न हुआ सस्ता
हालत *अलबत्ता* हो गई *खस्ता*।
अब नहीं ढूँढ़ती रस्ता।
खुद परस्ता।"

इस कविता के भी प्रायः सभी शब्द उर्दू के हैं। पर कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिन्हें संस्कृत संस्कृत के माध्यम से हिन्दी जानने वाले व्यक्तियों के लिए तो उर्दू या फ़ारसी कोष का आश्र लेना पड़ेगा। 'कलब' और 'टब' अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग का ढब भी दर्शनीय है। 'नयनों' उर्दू संस्करण 'नैनों' देखने योग्य है। अब प्रश्न यह है कि क्या अपने काव्य को उर्दू या अंग्रे के शब्दों द्वारा इस प्रकार भर लेना हमारी भाषा के लिए श्रेयस्कर होगा ? इस प्रकार के खिच प्रयोगों द्वारा हिन्दी-भाषा का रूप कभी भी स्थिर न हो सकेगा। हिन्दी-भाषा ने सदैव ही संस्कृत से अपने निर्माण में सहायता ली है। इस देश की संस्कृति और सभ्यता निर्माण में संस्कृत भाषा का जो अनुदान रहा है उससे सभी परिचित हैं, इसलिए यह स्वाभ विक ही था कि हिन्दी-भाषा भी देश और राष्ट्र के लिए संस्कृति और सभ्यता की रक्षा, संस्कृ भाषा से प्रेरणा लेकर करे। यदि शब्दों के निर्माण के विस्तार में जाया जाय तो इस बात पता चलेगा कि प्रत्येक शब्द अपनी शक्ति के वलय में अपने देश की कितनी आध्यात्मि शक्ति, धार्मिक भावना तथा सांस्कृतिक चेतना घेरे हुए है। 'सिजदा' और 'दण्डवत्' अथव 'नमस्ते' और आदाबर्ज' या 'सलावालेकुम' समानार्थी प्रतीत होते हुए भी न तो समानार्थ ही हैं और न इनके उच्चारण से मन पर एक-सी प्रतिक्रिया ही होती है। एक के उच्चार से जहाँ मन में गम्भीरता और पूजा के भाव जागते हैं, तो दूसरे के उच्चारण द्वारा मन में ए विशेष प्रकार की चुहल की प्रतिक्रिया होती है जो इसकी तलहटी में छिपे हुए श्रद्धा-भाव उभरने ही नहीं देती। इस प्रकार की प्रतिक्रिया इसलिए सम्भव हुई है क्योंकि इन दो भाषाओं के शब्दों के निर्माण में अपने-अपने देश की भौगोलिक स्थिति, परम्परा, संस्कृति सभ्यता, अध्यात्म और धार्मिक भावनाओं का वृहत् रूप में प्रभाव पड़ा है। अतः आज के क को यह निर्णय करना होगा कि क्या वह अपनी संस्कृति, अध्यात्म तथा सभ्यता के आधार प अपने समाज और राष्ट्र का निर्माण करना चाहता है या फिर अन्य देशों को आदर्श मानकर र का निर्माण करना चाहता है या फिर अन्य देशों को आदर्श मानकर उनकी सांस्कृतिक आस्था अनुकरण करना चाहता है ? यदि हाँ तो उसे अपने देश की भाषा का ही आश्रय लेना पड़ेगा यदि नहीं तो क्या उसने भली भाँति सोच लिया है कि वह देश को पथभ्रष्ट नहीं कर रहा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नयी कविता के रूपाकार (फार्म) के विषय में उपर्युक्त विचारणा के पश्चात् अब मैं उसकी वस्तु का परीक्षण करूँगा। वस्तु-परीक्षण में मैं नये काव्य की सामाजिकता, दर्शन तथा उस रस का क्रम से विवेचन करने का प्रयत्न करूँगा। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि किसी अच्छे काव्य का अभ्यन्तर इन्हीं तीन तत्त्वों से निर्मित होना चाहिए। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर वह चिरस्थायी होता है तथा उसके लोक-मंगल की सर्वाधिक क्षमता होती है।

जिस काव्य में सामाजिक तत्त्व नहीं हैं, वह अन्य काव्य-तत्त्वों से युक्त होते हुए भी निरर्थक है। वह उस गान के समान है जो गायक के मन-प्राणों में पुलक भरने के लिए चाहे सक्षम हो, किन्तु सर्वसाधारण को उल्लास या भाव के एक भी कण का दान करने में सर्वथा असमर्थ है। यह तभी सम्भव है जब वह समाज को अधिक-से-अधिक प्रभावित करती हो, उसमें अधिक-से-अधिक उदात्त चेतना के भाव भरती हो। जब तक कलाकार या कवि अपने 'अहं' की व्याप्ति सम्पूर्ण राष्ट्र या समाज तक नहीं कर लेता तब तक उसकी कला व्यर्थ है, काव्य स्वार्थपूर्ण और अपने अहं की ही तुष्टि करने वाला है।

आज का प्रयोगवादी कवि अपनी भाषा, अलंकार तथा छन्दों के प्रयोगों में इतना व्यस्त है कि उसे अपने बाहर की दुनिया की कुछ भी परवाह नहीं है, वह प्रायः शरीर को ही आत्मा मान बैठा है। अतएव उसकी इस प्रकार की घोर वैयक्तिक तथा समाज-निरपेक्ष रचनाओं का भविष्य कितना उज्ज्वल है। अधिक सोचने-समझने की बात नहीं है। एक व्यक्ति-परक रचना की कुछ पंक्तियाँ देखिये। रचयिता हैं श्री अनन्तकुमार 'पाषाण'। कविता का शीर्षक है 'बम्बई का क्लर्क'।

"मेरे मन की अँधियारी कोठरी में
अतृप्त आकांक्षा की वेश्या बुरी तरह खाँस रही है
मैं गद्य की एकरस भन-भन से घबराता हूँ
ज़रा गीत गाकर देखूँ—
पास घर आये
तो दिन-भर का थका जिया मचल-मचल जाये।"

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि की मुमूर्षु वैयक्तिक अभिव्यक्ति न तो कवि को ही कोई लाभ पहुँचा सकती है और समाज-निरपेक्ष होने के कारण समाज के लिए उसकी उपयोगिता की बात सोचना ही व्यर्थ है।

तर्क किया जा सकता है कि छायावाद का सम्पूर्ण गीति-काव्य अधिकांश रूप में घोर व्यक्तिवादी होते हुए भी अधिक लोकप्रिय रहा है। उत्तर में कहा जा सकता है कि निस्सन्देह छायावादी कवियों ने अपने गीतों में मानस के अन्तर्द्वन्द्वों के चित्र दिये हैं, किन्तु उनके काव्य में एक बड़ा प्रबल सामाजिक तत्त्व संगीत का रहा है और इसी संगीत के आवेष्टन में कवि के अपने ही मानस-संवेदन समाज-संवेद्य हो गए हैं। उस काल का कवि अपनी बात कहता-कहता अपना नहीं रह गया है, वरन् सम्पूर्ण विश्व का हो गया है।

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे।
या फिर
साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या किसी की याद आई ऐ विरह-व्याकुल प्रवासी ॥
क्या किसी की याद आई ऐ विरह-व्याकुल प्रवासी ॥

ऐसी पंक्तियों में कवि की अपनी प्रिया से 'बिछुड़न' सम्पूर्ण प्रेमियों की अपनी प्रिया से 'बिछु[ड़न] बन गई है तथा उसकी उदासी संपूर्ण प्रवासियों की उदासी हो गई है। किन्तु छायाव[ादी] कवियों ने प्रायः अपने काव्य में उन्हीं भावों की अभिव्यक्ति की है जो सर्वकालीन हैं, नित्य [हैं] हैं और इसी कारण वे सामाजिक हैं तथा प्रयोगवादी काव्य की वैयक्तिता से पृथक् हैं।

काव्य का दूसरा प्रभावशाली तत्त्व है उसकी दार्शनिक पीठिका। 'दर्शन' से मेरा तात[्पर्य] उस लोक-मंगलकारी चिन्तना से है जिसकी आधारशिला पर समग्र समाज की नींव रखी ज[ाती] है। आदिकाल से ही कवि ने सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक सुव्य[व]स्थित दार्शनिक विचारधारा का आश्रय लिया है। जितने भी महाकाव्यों की रचना हुई है, उ[नमें] युगानुकूल दार्शनिक चिन्तनाओं को यथोचित स्थान मिला है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीद[ास] का 'रामचरितमानस' रखा जा सकता है। गोस्वामीजी यद्यपि सिद्धान्त रूप से विशिष्टाद्वैत[के] अनुयायी थे, किन्तु उनके मानस में द्वैत, अद्वैत आदि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों का भी यथोचि[त] निरूपण हुआ है। कवि की दृष्टि सामाजिक हित के लिए राजीनीति, धर्म और दर्शन सभी की [ओर] रही है। तत्कालीन कवियों ने भी अपने काव्य में किसी-न-किसी दार्शनिक सिद्धान्त की नियोज[ना] की है। उनके इस प्रकार के कर्तृत्व में निश्चय ही समाज के सर्वाङ्गीण हित की उदात्त विचार[धारा] रही है। छायावादी युग के प्रमुख महाकाव्य 'कामायनी' में भी शैवाद्वैत दर्शन उपनिषदों[के] अद्वैत दर्शन के साथ-साथ 'प्रसाद' द्वारा निरूपित 'आनन्दवाद' सिद्धान्त का तो निरू[पण] मिलता ही है, साथ ही आज के बुद्धिवादी दर्शन के आधार पर चलने वाली समाज की दुर्द[शा] का भी पूर्ण रूप इड़ा सर्ग में प्राप्त होता है। छायावादी इतर कवि भी जीवन के प्रति आस्[था]वान हैं और इसी कारण उनके काव्य में समाज के संघर्ष में हारे-थके व्यक्तियों के लिए सा[हस] की महती प्रेरणा मिलती है, परास्त जीवन के लिए आनन्द और उल्लास की सुदृढ़ व्यव[स्था] मिलती है, ऐसा इसलिए सम्भव हुआ है क्योंकि कवि समाज की इकाई के रूप में अपने उत्[तर]दायित्व को सँभालता आया है। उसे अपने और अपने काव्य के ऊपर पूर्ण आस्था है त[था] उसे काव्य की क्षमता की भी पूर्ण पहचान है।

किन्तु आज के प्रयोगवादी कवि के समक्ष कोई भी दार्शनिक चिन्तना नहीं है। वह क[ोई] भी ऐसी बात नहीं कहता जिसमें सामाजिक जीवन के लिए आनन्द, उल्लास तथा उत्साह [का] उत्स मिल सके। वैयक्तिक होने के कारण प्रथम तो उसका काव्य अपने ही रुदन, क्रन्दन त[था] कुण्ठाओं तक सीमित है, किन्तु जो इतर काव्य भी है उसमें भी जीवन को खोखला चित्रित क[रने] के प्रयत्न के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यह सही है कि जीवन में कुण्[ठा] है, दुःख है, भय है, भ्रम और आशंका भी है; किन्तु यही तो समग्र जीवन की परिभाषा नहीं [है] और इन भावों के काव्य-चित्रों द्वारा तो समाज में भयंकर निराशा तथा अनास्था भर जाय[गी] जिससे सामाजिक जीवन दुर्वह हो जायगा। अतः आज के प्रयोगशील कवि को आस्थाव[ान] होना चाहिए, ताकि वह अपने काव्य द्वारा अपने 'स्व' और उससे ऊपर समाज तथा राष्ट्र[का] हित कर सके और इस आस्था के लिए उसे किसी-न-किसी सुव्यवस्थित दार्शनिक विच[ार]धारा का आश्रय लेना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम तथा सबसे प्रमुख बात है प्रयोगवादी काव्य में रस-समस्या की। काव्यशास्त्र के अनुसार कोई भी रचना रसरहित होने पर काव्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं की जा सकती। काव्य-शास्त्रों में कविता का उद्भव हृदय तथा उसके ऊपर आत्मा द्वारा स्वीकार किया गया है। 'न्यू बियरिंग इन इंगलिश पोइट्री' नामक पुस्तक के नवें पृष्ठ पर एफ० आर० लिविस वास्तविक (Genuine) कविता और पद्यबद्ध रचना के विषय में लिखता है—

"The difference between genuine poetry and the poetry of Dryden, Pope and all their schools, is briefly this : their poetry is conceived and composed in their wits, genuinive poetry is conceived and composed in the soul."

ड्रायडेन, पोप तथा उसके वर्ग के अन्य कवियों की कविताएँ तथा वास्तविक काव्य में संक्षेप में यह अन्तर है कि इनकी कविता मस्तिष्क (wit) में ही सोची तथा रची जाती है, जबकि वास्तविक काव्य आत्मप्रसूत। लीविस ने संक्षेप में काव्य की सुन्दर परिभाषा कर दी है। यह परिभाषा हमारे काव्य-शास्त्रियों की कविता सम्बन्धी विचारणाओं से पूर्णतया मिलती-जुलती है। प्रायः सभी देशों के काव्य-शास्त्रियों ने काव्य में किसी-न-किसी प्रकार रस की सत्ता स्वीकार की है। अपने काव्य में हृदय-अनुभूति को ही काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया है।

किन्तु आज के प्रयोगवादी काव्य को, जोकि शत-प्रतिशत मस्तिष्क की ही उपज है, किस रस के अन्तर्गत स्वीकार किया जाय? काव्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित नवरसों की परीक्षा के अन्तर्गत यह काव्य तो समा नहीं पाता, क्योंकि सारे रसों की निष्पत्ति हृदय की अनुभूति तथा स्पन्दनों के आधार पर स्वीकार की गई है। बुद्धिपरक चिन्तना को उन्होंने काव्य नहीं माना। प्रयोगवादी कवि भी शास्त्र के अनुसार अपने काव्य को रस के ऊपर ही आधृत मानता है। किन्तु उसको यह भली भाँति ज्ञात है कि उसका काव्य नवरसान्तर्गत नहीं आता, इसलिए इधर कुछ दिनों से उसने एक नये रस की खोज कर डाली है। उसने इसे 'बुद्धिरस' की संज्ञा दी है। उसका यह कहना है कि काव्य में नवरसों की सृष्टि इसलिए हुई क्योंकि एक ही रस सम्पूर्ण भाव-व्यंजनाओं के प्रकाशन में असमर्थ था और इन नवरसों के पश्चात् वात्सल्य-भाव को प्रकट करने के लिए वात्सल्य-रस की कल्पना की गई। आज फिर आवश्यकता है कि इस नूतन प्रयोग-वादी काव्य के लिए, जो हृदयपरक न होकर मस्तिष्कपरक है, 'बुद्धिरस' की सर्जना की जाय। किन्तु बुद्धि को रस मानने में सबसे बड़ा रोड़ा हमारा प्राचीन से लेकर आज तक का मनोविज्ञान है। बुद्धितत्त्व को सदा से ही विवेचना के क्षेत्र के अन्तर्गत माना गया है, अर्थात् जिस बात को पढ़कर या सुनकर मन आविष्ट होने के बावजूद सोचने के लिए विवश हो, बुद्धितत्त्व का विषय है, तथा जिसके पढ़ने या सुनने से हृदय विभोर होकर उसी में रम जाय, मस्तिष्क में 'तनाव' न उत्पन्न हो वह हृदय-तत्त्व से सम्बन्धित है और आज तक हृदय की इसी विभोरता तथा रमणी-यता को लेकर रस की सत्ता स्वीकार की गई है। अतः समझ में नहीं आता कि 'बुद्धिरस' का स्वप्न देखने वाले कवि किस प्रकार रसों की पंक्ति में इस नूतन रस की प्रतिष्ठा कर सकेंगे; क्योंकि वैज्ञानिक प्रयोगों, राजनीति तथा गणित को लेकर मन के रमने में और एक 'काव्य-कृति' के अध्ययन द्वारा मन के रमने तथा आनन्द के आस्वाद में मौलिक अन्तर है। एक चिन्तनापरक है और उसका पश्चात प्रभावचिंतन के लिए ही विवश करता है दूसरा हृदयपरक है और वह मन को चिरकाल के लिए आविष्ट किये रहता है, आनन्द के कण बिखेरता रहता है। एक आनन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की खोज में है, दूसरा आनन्द का स्रोत है।

अन्त में मैं केवल इतना ही कहूँगा कि आज के प्रयोगशील कवि को अपने काव्य को लोकप्रिय तथा सामाजिक बनाने के लिए भाषा को सँवारना होगा, छन्द का आश्रय लेना होगा, हृदय की अनुभूति को प्राथमिकता देनी होगी, और अपने काव्य को स्थायित्व देने के लिए एक सुव्यवस्थित आस्थापूर्ण दार्शनिक पीठिका को भी स्थान देना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

मूल्यांकन

रामविलास शर्मा

बूँद और समुद्र : आस्था की समस्या

'बूँद और समुद्र' अमृतलाल नागर का नया और महान् उपन्यास है—महान्, आकार की दृष्टि से और विषयवस्तु की दृष्टि से भी। अमृतलाल नागर ने लगभग बीस वर्ष पहले तस्लीम लखनवी के नाम से लखनऊ के बिगड़े नवाबों, उनके अर्ध-सर्वहारा मुसाहबों के चित्र खींचकर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। स्वर्गीय बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' के कविता-संग्रह 'चकल्लस' के नाम पर उन्होंने हास्यरस का अभूतपूर्व साप्ताहिक 'चकल्लस' निकाला था। उसमें 'नवाबी मसनद' नाम के स्तम्भ में धारावाहिक रूप से नवाब साहब और उनके आसपास के लोगों के सजीव रेखाचित्र निकलते रहते थे। इन रेखाचित्रों में नागर ने लखनऊ के चौक मुहल्ले अर्थात् पुराने लखनऊ के साधारण जनों की बोली-बानी का ऐसा सजीव और रोचक उपयोग किया था जैसा 'फ़सान-ए-आज़ाद' के अतिरिक्त हिन्दी-उर्दू में अन्यत्र दुर्लभ था। आगे चलकर उन्होंने आगरा के व्यापारियों की बोली को आधार बनाकर सेठ बाँकेमल का चित्रण किया और एक नष्ट होती हुई पीढ़ी और उसकी संस्कृति को अपने साहित्य से अमर कर दिया। उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें 'मरघट के कुत्ते' और 'गोरखधन्धा' विशेष उल्लेखनीय हैं। जीवन के सबसे निचले स्तर तक पैठने और अप्रत्याशित बीभत्सता का उद्‌घाटन करने में वह अद्वितीय हैं। साथ ही वह हास्यरस के जाने-माने लेखक हैं। हास्य के लिए वे आसपास के सामाजिक जीवन से आलम्बन ही नहीं चुनते, पौराणिक गाथाओं और भटियारिनों के किस्से-कहानियों का भी सहारा लेते हैं। आदमी हिम्मत के हैं; निर्भीकता से सामाजिक समस्याओं पर लिखते हैं। 'आदमी, नहीं! नहीं!!', 'पाँचवा दस्ता' और 'गोलवलकर, ढोलवलकर, पोलवलकर' उनकी ऐसी ही सोद्देश्य रचनाएँ हैं। इस सबके साथ ही उन्हें पुरातत्व और प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास से भी बहुत दिलचस्पी है। लखनऊ के लक्ष्मण टीले की खुदाई कराने के लिए उन्होंने ज़मीन-आसमान एक कर दिया है। कला—विशेषकर चित्रकला—से उन्हें प्रेम है और उनके अनुज मदनलाल नागर हमारे प्रदेश के सुविख्यात चित्रकार हैं। 'निराला', 'प्रसाद', 'पन्त', शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, 'पढ़ीस' आदि ख्यातनामा साहित्यकारों के साथ रहकर उन्होंने सात्विक और नाना प्रकार के संस्कार अर्जित किये हैं। कुछ वर्ष तक रेडियो में काम किया है। रेडियो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए नाटक लिखे हैं। 'महाकाल' नाम से बंगाल के अकाल पर उपन्यास लिखा है। जन-नाट्य संघ के साथ लखनऊ में नाटकों का निर्देशन कर चुके हैं। बहुत से लेखों के साथ चेखोव, मोपासां, फ्लाबेयर आदि की रचनाओं के अनुवाद भी किये हैं। इन सबके अतिरिक्त उन्हीं के शब्दों में "१८ फिल्मों की मेहनत रेत पर खींची गई लकीरों की तरह मिट गई।" विचारधारा में वह गांधीवादी हैं अथवा यों कहें कि वह गांधीजी के भक्त हैं, लेकिन आदमी वह खास चौक लखनऊ के हैं। नागर की कला और व्यक्तित्व के ये सभी उपकरण 'बूँद और 'समुद्र' में एक साथ लहलहा उठे हैं।

लेखक ने कथा-क्षेत्र के लिए लखनऊ चुना है और उसमें भी विशेष रूप से चौक के गली-कूँचों को। कुछ समय के लिए वह मथुरा-वृन्दावन की सैर भी करता है। चौक के बाहर के स्थान गौण हैं; मुख्यतः चित्रण चौक का है। यह मुहल्ला एक बूँद की तरह है जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय जीवन के दर्शन होते हैं। शहर के विभिन्न स्तरों का जीवन कैसा है, इसका पता तो उपन्यास से लगता ही है; गांवों में भी जनता के संस्कार कैसे हैं, इसका परिचय बहुत-कुछ इस कथा से मिल जाता है। उपन्यास के नाम की यही सार्थकता है; एक मुहल्ले के चित्र में लेखक ने भारतीय समाज के बहुत से रूपों के दर्शन करा दिए हैं। वैसे तो भारतीय समाज हिन्दमहासागर है और उसका चित्रण करने के लिए यह समुद्र भी छोटा है।

'बूँद और समुद्र' पुरानी समाज-व्यवस्था के बनते-बिगड़ते और बदलते हुए भारतीय परिवार का महाकाव्य है। इस परिवार की धुरी है नारी। कितनी तरह की देवियाँ हैं इस उपन्यास में? ताई, जिसे पति ने छोड़ दिया है, जादू-टोनों में विश्वास करने वाली, मुहल्ले-भर के लड़कों और बड़े-बूढ़ों के भी कौतुक का केन्द्र, कृष्ण की अनन्य भक्त, हिंसा और मानव-प्रेम (अथवा जीवमात्र से प्रेम) का अद्भुत सम्मिश्रण; नन्दो, जो घर में ही कुटनी का काम करती है; अतृप्त प्रेम से पीड़ित 'बड़ी'; नये फैशन और नई शिक्षा में दीक्षित पत्नियाँ; दमन की शिकार हिस्टीरिया से पीड़ित युवतियाँ; पुराने चाल की निष्ठावान किन्तु रूढ़िवादी कल्याणी; मुहल्ले की गन्दगी में सबेरे की हवा के झोंके जैसी स्वावलम्बिनी वनकन्या। कहीं लाले की घरवाली "एटम बम की तरह बीच चौक में फूटकर भभूती के घर को हिरोशिमा बना" देती है, कहीं नन्दो 'रणक्षेत्र में आकर गाण्डीव' टंकारती है। सिनेमा जाती हुई देवियाँ, किस का कोट किस फैशन का है, इस पर टीका-टिप्पणी करती हैं और "बेशुमार हतभागिनें किस सन् के चलन का कोट नहीं पहने थीं।" वनकन्या की मां और ताई में सौत का रिश्ता चलता है। उसकी भाभी 'पई' है, "प्रकृति का एक मज़ाक! ऐसी औरत ज़ाहिर में औरत लगकर भी असल में बेमानी होती है।" कहीं गर्भवती विधवा शरीर में आग लगाकर जल मरती है। एक जगह युवती की लाश को कुत्ते घसीटते हुए दिखाई देते हैं। मन्दिर के अन्दर अच्छे-खासे मर्द देवियों का अभिनय करते हैं। इन सबकी बोली-बानी अलग, सबकी चरित्रगत शैली अलग। इनके साथ पुरुषों का वर्ग अपनी विशिष्ट मर्दानी संस्कृति के साथ चित्रित किया गया है। पीपल के नीचे का चबूतरा, हुक्के, नीम की दातुनें, अखबार, गजक और मूँगफली बेचने वाले, मक्खन की तारीफ, कोन पर पाँच-पाँच रुपये रख दो और भाग न दबे, कुल्फी की तारीफ़, गोल दरवाजे में खरीदो और रानी कटरे में जाकर खाओ और तारीफ ये कि ज़रा भी न गले; तीतरों को चुगाता हुआ परसोतम, सेक्रेटेरियट के बाबू गुलाबचन्द, लखनऊ की खास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाली को उपनाम की तरह अपने वाक्यों में जड़ने वाले लाला मुकुन्दीमल, मुहल्ले से लेकर विश्व तक की समस्याओं पर वाद-विवाद, कथा बांचते हुए पण्डितजी, राजा, डॉक्टर, लेखक, चित्रकार, साधू, मुण्डे—उपन्यास में रेखाचित्रों की ऐसी समृद्धि है जैसी प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के दस उपन्यासों में न मिलेगी।

रेखाचित्रों की सजीवता अपने-आप एक बहुत बड़ा आकर्षण है। पुराने यूनानी विचारक कहते थे कि कला का धर्म जीवन का अनुकरण अथवा उसकी प्रतिच्छवि आंकना है। चित्रकला में पशु, मानव, वनस्पति या निर्जीव पदार्थों की सजीव छवि देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं। सजीव अनुकरण सरस होता ही है; फिर वस्तुओं के चयन में लेखक अपने उद्देश्य और रुचि का परिचय भी देता है। पात्रों की संख्या, उनकी विविधता, अनुकरण अथवा प्रतिच्छवि की सजीवता के विचार से अमृतलाल नागर हमें ऐसे जीते-जागते और कोलाहलमय संसार में ला खड़ा करते हैं जिसकी समृद्धि की तुलना बाल्ज़ाक की रचनाओं से ही हो सकती है। लेखक के पास ऐयारी की ऐसी झोली है जिसमें पात्रों की सैकड़ों मूर्तियाँ भरी हुई हैं और वह सन्तुलन का भी विचार न करके उन्हें सानन्द एक के बाद एक निकालता चला जाता है, फिर भी झोली खाली नहीं होती। पात्र अकेले नहीं आते; वे अपने साथ अपना पूरा वातावरण लाते हैं—पुरानी हवेली, पीपल के नीचे का चबूतरा, नदी का किनारा, इत्यादि। अनेक स्थानों के वर्णन में कवि-सुलभ सरसता है। "कटी-फटी पतंगों, मकड़ी के जालों, घोंसलों, चिड़ियों, गिलहरियों और पीपली के दानों से लदा, अनगनित इंसानों के चंचल मन-समूह-सा हरहराता हुआ घना पीपल कई सदियों से मुहल्ले का साथी है। आज के बड़े-बूढ़ों के बचपन तक यह पेड़ गंगे भूरिये के झाड़ का पीपल कहलाता था। मगर वह दीवाल, जो किसी समय किसी गंगे भूरिये का वैभव थी, अब बाबू छेदालाल इंश्योरेंस-एजेण्ट की मिल्कियत है। म्युनिसिपैलिटी के रजिस्टर के अनुसार उस मकान का नम्बर इस समय ४२० है जो सही तौर पर बाबू छेदालाल की ख्याति में चार चांद लगाता है।" वातावरण के छोटे-बड़े तथ्य, जो मनुष्य की दुःखपूर्ण या मनोरंजक स्थिति की ओर संकेत करते हैं, लेखक की निगाह से बच नहीं पाते। वह वास्तव में शहर के गली-कूचों का कवि है।

वह इन गली-कूचों में बरसों रहा और घूमा है। उसने चारों ओर के जीवन को देखा ही नहीं, उसका रंग-बिरंगा कोलाहल सुना भी है। यहाँ एक शैली और एक व्याकरण का प्रयोग करने वाले पात्र नहीं हैं; प्रायः जितने पात्र हैं, उतनी तरह की शैलियाँ और उनके अपने-अपने व्याकरण हैं। लखनऊ में विभिन्न जनपदों से सिमटकर जनता एकत्र होती रही है। उसने अपनी बोली-बानी एक हद तक सुरक्षित रखी है, एक हद तक दूसरों की भाषा से, यहाँ तक कि अंग्रेज़ी से भी, प्रभावित भी हुई है। अमृतलाल नागर द्वारा किया हुआ एक मुहल्ले का यह 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाषा-विज्ञान की सामग्री का अद्भुत पिटारा है। अभी तक किसी भी देशी-विदेशी भाषा में एक नगर की इतनी बोली-ठोलियों का निदर्शन करने वाला उपन्यास मेरे देखने में नहीं आया। इन शैलियों में भाषाओं और समाज का इतिहास बोलता है। इसके अतिरिक्त कला की दृष्टि से व्यक्ति का चरित्र कम-से-कम पचास फीसदी उसकी शैली से प्रकट होता है। जहाँ तक हास्यरस का सम्बन्ध है—केवल शुद्ध हास्य नहीं, विनोद, मनोरंजन, वक्रोक्ति, व्यंग्य, सभी-कुछ—उसकी निष्पत्ति सौ फीसदी इस बोली-ठोली और शैली पर निर्भर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी चाल की माताजी की आउत-जाउत मिश्रित खड़ी बोली—"जो जिसकी-जिसकी समझ में आउत है वही करत हैंगे। कल को हमरे शंकर एमे पास करके अफसर होयेंगे, उनकी बहुरिया पुरानी चाल से चलै तो किरकिरी न होय ?" हाथरस की ताई की ब्रज का पुट लिये हुए खड़ी बोली—"निगोड़ी सबकी-सब मेरी छाती पे ही मूँग दलने आमें हैंगी। सात जनम की दुस्मन मरी, गली-गली घूमकर मेरे घर बच्चे पटकने आई रंडो ! अरे तन-तन में कीड़े पड़ेंगे, सरदी की रात में दौंड़ा मारा।" लखनऊ के पुलिसमैन की अंग्रेज़ी-अवधी मिश्रित हिन्दुस्तानी—"कोतवाली को वैरलेस कर दिया हुजूर ! मिरजाजी अटेंड कर रहे थे हुजूर, तौन उन्होंने मिसेज दिया कि अस्पताल की गाड़ी भिजवाते हैं हुजूर।" जगह-जगह घूमे हुए अवध के साधु की हिन्दी —"पूर्व आश्रम मैं हम मोटर मिकैनिक रहे ! अन्त में मालिक की चाकरी से छूटकर विंध्याचल में रम गए। त्रिकुटी में ध्यान साधा, निर्जल, निराहार रहे--जाने क्या-क्या अगट-सगट किया। वहाँ एक महात्मा के दर्शन हुए। तौन उन्होंने कहा कि ड्यूटी बजाना छोड़कर यहाँ का ढोंग करता है—जा सेवा कर। फिर हम क्या करते रामजी ? जिसको गुरु माना उसकी आज्ञा भी तो माननी पड़ेगी। तो कहने का सारांश यह है कि अपनो ड्यूटी का पायबन्द हुए बिना कोई अपना स्वामी बन ही नहीं सकता।" कथा बाँचने वाले पण्डितजी की भाषा—"सूतजी बोलेम् कि हे जिजमान सुनौ, एक समय जो है सो नारदजी बैकुण्ठ लोक के बीच में लछमीपति बिस्नू भगवान् के पास जाय के कहत भएम् कि···।" इस तरह की दो-चार नहीं बीसों भाषा-शैलियाँ हैं जिनके अत्यन्त रोचक उदाहरण 'बूँद और समुद्र' में मिलेंगे। सरसता की कितनी सामग्री हमारे चारों ओर बिखरी पड़ी है और भाषा-शैली की इस विविधता से जनसाधारण भी अपना मनोरंजन करते हैं। अमृतलाल नागर के हास्यरस का दृढ़ आधार यही यथार्थ जीवन है। उनके मनोरंजक संवाद हास्य की सृष्टि करने के अतिरिक्त चित्रण की सजीवता की छाप मन पर छोड़ते हैं।

यह समझना कठिन नहीं है कि इस उपन्यास में लेखक के वर्षों के सामाजिक अनुभव का संग्रह है। इस तरह के संग्रह-मात्र के लिए ही सुदीर्घ साधना और परिश्रम अपेक्षित हैं। कला-प्रेमियों के अलावा भाषा-विज्ञान और समाज-शास्त्र के पण्डितों के लिए भी यहाँ दुर्लभ सामग्री एकत्र की गई है। उपन्यास में स्त्रियों के जो गीत दिये गए हैं, वे अपने में अलग सांस्कृतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण निधि हैं। "कलजुग तो आया बड़ी धूम से, बहुएँ हो गईं ददिया सास", "राजा तुम गए कॉलेज पढ़ने मेरी उमर गुजर गई पीहर में", "जब से चला है किलिप लगाना, कदर बेंदी की गई मेरी जान" आदि खड़ी बोली के गीत नारी-समाज की वह झाँकी देते हैं जो अधिकांश उपन्यासकारों के कल्पना-रंजित चित्रों से बिलकुल भिन्न है।

उपन्यास की धुरी हैं ताई। लखनऊ की एक रईस की छोड़ी हुई पहली पत्नी हैं। जीवन की परिस्थितियों ने उनके मन में विचित्र ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर दी हैं। अब वह जादू-टोने से मानव-मात्र का संहार करने पर तुली हुई-सी दीखती हैं। भारतीय समाज का सारा अन्धविश्वास और मनुष्य से घृणा करने वालों की सारी हिंसा मानो सिमटकर ताई में केन्द्रित हो गई है। बच्चे, बूढ़े, जवान, सब उन्हें चिढ़ाते हैं और अब ताई के पास आशीर्वाद का एक शब्द भी नहीं रह गया, वह केवल कोसना जानती हैं। भारतीय समाज में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि की चर्चा के साथ पलंग की पाटी में सेंदुर मलने, तकिये में काला डोरा पिरोकर सुई खोंसने, आटे के पुतले बनाकर मारणमन्त्र चलाने आदि की जो क्रियाएँ होती रही हैं, उनकी सूत्रधार ताई हैं। उनकी हिंसा इतनी तीव्र है कि पति के अपराध के लिए वह जादू द्वारा उसके नाती के प्राण लेने का प्रयत्न करती हैं।

ताई के घर में एक दिन बिल्लियों का युद्ध होता है। लालटेन जलाकर देखती हैं कि बिल्ली का एक बच्चा पड़ा हुआ है, जिसका सिर ग़ायब है। वह सिरकटी लाश पड़ोस में गर्भवती तारा के दरवाजे पर रख आती हैं, इन शब्दों के साथ—"राँड बहुत पेट लिये घूमती है। ऐसे ही कटकर गिर पड़ेगा।" हिंसा की मूर्ति ताई बिल्ली के शेष तीन बच्चों को आँचल में डालकर बाहर फेंकने जाती हैं। "ठण्ड से सिकुड़े बन्द आँखों वाले तीन बच्चे आँचल में गठरी-सी बनकर उनके पेट से लग गए।" ताई को सहसा अपनी बिटिया की याद आई और वह वापस लौट आईं। उस दिन से ताई के परिवार में वे बच्चे भी शामिल हो गए, अथवा यों कहें, उस दिन से ताई ने नये सिरे से पारिवारिक जीवन बिताना शुरू किया।

हिंसा और अन्धविश्वास की पुतली ताई में भी जैसे प्रेम का बीज मिटने से रह गया था। मानवेतर जीव के संस्पर्श से वह बीज सहसा अंकुरित हो उठा। इस बीज को मिटाने में रईस पति और ताई के मुहल्ले वालों ने कुछ उठा न रखा था। मनुष्य ने उसे मिटाया; पशु-जीवन ने उसे फिर अंकुरित कर दिया। इसका श्रेय पशु-जीवन से अधिक ताई को है जो अपने अन्तस्तल में कहीं अब तक वह प्रेम का बीज छिपाये हुए थीं।

एक भारतीय लेखक के लिए ताई में यह परिवर्तन देखना बहुत स्वाभाविक है। जिस देश के आदि कवि ने एक पक्षी के क्रन्दन से द्रवित होकर एक नया छन्द ही रच डाला था, उसके आधुनिक लेखक के मन पर अब भी वैसे संस्कार बने हों तो आश्चर्य क्या? तब क्या वर्तमान युग में भारतीय लेखक के लिए आस्था का प्रश्न ऐसा कुछ उलझा हुआ है कि उसे हल करना बहुत ही कठिन हो गया है?

ताई को बिल्ली के बच्चे बहुत परेशान करते हैं, लेकिन ताई उनका मोह छोड़ नहीं सकतीं। एक बच्चे की आँखों में देखते हुए उन्हें लगता है कि भीतर से बालमुकुन्द झाँक रहे हैं। जब ताई में यह परिवर्तन होता है, तभी कुछ लोग आकर उनके मुँह में कपड़ा ठूँस देते हैं, बिल्ली के बच्चों को उठाकर फेंक देते हैं, ताई के मुँह पर काजल और सिन्दूर पोत देते हैं और रुपये लेकर चल देते हैं। कलाकार सज्जन जब उन्हें देखता है तो उसे वह उचित ही "आदिम समाज की पुरोहितानी" जैसी लगती हैं। ताई के बन्धन खुलते ही वह सबसे पहले बिल्ली के बच्चों के लिए दूध मँगवाती हैं। कलाकार "सज्जन सोचने लगा, पत्थर भी पिघलना जानता है।" बिल्ली के बच्चों के बाद ताई को सज्जन से स्नेह है। 'कन्नोमल के पोते' कहकर वह बड़े प्यार से उसे बुलाती हैं। लेकिन कलाकार सज्जन ऐसा उच्चकोटि का बुद्धिजीवी है कि पत्थर को पिघलता देखकर भी वह आस्था के प्रश्न से उलझा रहता है।

कलाकार की कोठरी पर मुहल्ले के लोग हमला करते हैं। मुहल्ले में कवि विरहेश और 'बड़ी' के प्रेमकाण्ड के पकड़े जाने पर रूढ़िवादियों ने क्रोध उतारा सज्जन की कला पर। "उत्तेजित भीड़ ने कमरे का ताला तोड़ डाला। सज्जन की बनाई तस्वीरें चिन्दी-चिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर डालीं। रंगों के ट्यूब्स फेंके, जूते के नीचे दबाकर फ़र्श पर मसल दिए।...स्टोव का तेल गद्दे और तकियों पर छिड़का। उनमें दियासलाई लगाई गई। सारा कमरा टूटे काँच, टूटे प्याले, फटी तस्वीरों और चादर की चिन्दियों से भर गया।" अहिंसावादी समाज का रूढ़िवाद कितना बर्बर हो सकता है, उसका यह निदर्शन है। इन रूढ़िवादियों ने बड़ी को निर्ममता से पिटते देखा था; पीटने वालों के प्रति उनकी सक्रिय सहानुभूति थी। वही लोग चरित्र और संस्कृति की रक्षा के लिए सज्जन के चित्रों का नाश कर देते हैं। अवश्य ही वे बड़ी के वेश्यागामी पति से कुछ नहीं कहते। इस तरह के फासिस्ट आक्रमणों के वर्णन हमने विदेशी उपन्यासों में पढ़े हैं। भारतीय रूढ़िवाद के आधार पर यहाँ भी कला और कलाकारों पर फासिस्ट आक्रमण हो सकते हैं, इस उपन्यास से यह चेतावनी मिलती है। एक तरह की हिंसा यह है, दूसरी तरह की हिंसा उपन्यासकार महिपाल की है। असहाय स्त्री को पिटते देखकर उसे क्रोध आ जाता है। वह बचाने जाता है तो वेश्यागामी पति उसे भी अपनी पत्नी का यार कहकर व्यंग्य करता है। इस पर "महिपाल का वो कड़ाकेदार हाथ पड़ा कि गाल और कनपटी सुन्न हो गई।" इन दोनों तरह की हिंसा में कौनसी उचित है और कौनसी अनुचित, या दोनों ही उचित अथवा अनुचित हैं? साधारण पाठक की सहानुभूति महिपाल के प्रति होगी और निर्दय पति को दण्ड मिलता देखकर उसकी न्याय की आकांक्षा तृप्त होगी। हिंसा और अहिंसा के सैद्धान्तिक संघर्ष की वास्तविकता क्या है, इसका उत्तर उपर्युक्त घटना से मिलता है।

सज्जन की कोठरी पर आक्रमण होने के बाद कला की रक्षा करने के लिए सबसे पहले ताई आगे आती हैं। वह मन्त्र पढ़कर सब पर सिन्दूर फेंकना शुरू करती हैं। "थोड़ी देर में ताई कायर भीड़ पर विजयिनी हुईं।" चरित्र और संस्कृति की रक्षा के नाम पर चित्रों में आग लगाने वाली भीड़ कायर ही होगी। इन कायरों से कला की रक्षा कौन करेगा? "उस दिन ताई बड़ी रात तक लालटेन के उजाले में सज्जन—कन्नोमल के पोते—की तस्वीरों के टुकड़े बटोर-बटोरकर सहेजती रहीं।" कलाकार किसमें आस्था रखे, इस प्रश्न का उत्तर फिर यहाँ मिलता है।

सज्जन के आक्रमण से गर्भवती तारा अस्वस्थ हो जाती है। रात में मुहल्ले वालों की सहानुभूति खोया हुआ उसका पति ताई को अँधेरे में प्रेत समझकर बेहोश हो जाता है। ताई अपनी हिंसा भूलकर तारा को प्रजनन कराने में लग जाती हैं। यह उपन्यास का सबसे मार्मिक चित्र है। टॉल्स्टाय ने 'अन्ना करेनिना' में उस उद्विग्न पति का चित्र खींचा है जो शीघ्र ही पिता बनने वाला है। यहाँ सारी उद्विग्नता ताई में केन्द्रित है, जिसके माँ बनने का अब कोई भी अवसर नहीं है। "ज़रा-सी हींग देखकर ताई और झुँझलाईं; आप सौरी में थी, इसलिए वर्मा को ही अपने घर के मसालेदान का पता बतलाया; अपने ठाकुरजी की कोठरी में टाँड पर रखे हुए कुल्हड़-सकोरों का पता बतलाया; मुट्ठी-भर हींग और एक सकोरा लाने की आज्ञा दी। ताई ने बच्चे की नाल गाड़ी और पलंग के निकट आकर बच्चे को झुककर भर नज़र देखती रहीं।" यह चित्र आँककर अमृतलाल नागर ने हिन्दी-उपन्यास को उच्चतम स्तर तक उठाया है। जिसे ताई की इस निगाह में आस्था न दिखे, उसे जन्मान्ध ही कहना चाहिए।

पुरुष पात्रों में सज्जन और महिपाल दोनों कलाकार हैं। एक चित्रकार है और दूसरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यासकार है। दोनों रईस घरानों के हैं। अन्तर केवल इतना है कि सज्जन की सम्पत्ति बची हुई है और महिपाल अपने वर्ग से अलग होकर एक हद तक मध्यवर्ग का सदस्य बन गया है। सज्जन की अपनी कोठी है; मुहल्ला-जीवन का अध्ययन करने के लिए वह ताई के पड़ोस में कोठरी लेकर रहता है। लेखक ने दोनों का ही चित्रण बड़ी बारीकी से किया है। बुद्धिजीवियों और मध्यवर्ग के शिक्षित जनों की अधिकांश समस्याएँ दोनों को परेशान करती हैं। दोनों में बहुत ही समानताएँ भी हैं। दोनों कलाकार होने के अलावा सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की समस्याओं से बहुत दिलचस्पी रखते हैं। दोनों का ही घरेलू जीवन अनियमित-सा है। शराब का चस्का दोनों को है। महिपाल विवाहित है; ठेठ अवधी बोलने वाली उसकी पत्नी कल्याणी निष्ठा की मूर्ति, पतिव्रता देवी है, किन्तु अपने कलाकार पति का मूल्य बिलकुल नहीं पहचानती। उसके संस्कार बहुत ही रूढ़िवादी हैं और ब्राह्मणों में ऊँच-नीच का भेद-भाव, कुलीनता-अकुलीनता के विचार उसके संस्कारों की आधारशिला हैं, जिनसे टकराकर उपन्यासकार के सारे प्रगतिशील विचार वापस चले आते हैं। महिपाल का स्वभाव बहुत ही उग्र है। धीरता, दृढ़ इच्छाशक्ति, सहनशीलता आदि गुणों का उसमें अभाव है। यद्यपि वह बातें समाजवाद की करता है, फिर भी उसके संस्कार अराजकवादी के हैं। वह अपनी पत्नी के रूढ़िवाद से परेशान है, लेकिन 'इज्जत का सवाल' जितना उसे परेशान करता है, उतना कल्याणी को नहीं। कल्याणी ने अपने भाई से कुछ रुपये मँगाये थे। महिपाल के अन्दर का बर्बर रूढ़िवादी तुरत जाग उठता है। **"हरामज़ादी, तूने मेरी इज्ज़त ख़ाक में मिला दी।"** यह कलाकार की भाषा थी जो वह अपने उपन्यासों में न लिखता था, लेकिन खानदानी इज़्ज़त की रक्षा के लिए उसका उपयोग करने में न हिचकता था। इतना ही नहीं, 'बड़ी' के वेश्यागामी पति की तरह वह भी लात-घूँसों और थप्पड़ों के प्रयोग से बाज़ नहीं आता। कमरे के अन्दर यह काण्ड होता है; बाहर उसकी लड़की खड़ी-खड़ी सब सुनती है, **"दबी चीख़ें, साँसें घसीट-घसीटकर रोना, पिता की अस्पष्ट गालियाँ, घुड़कियाँ, धक्का-मुक्की, पटकनों, घूँसों के धमाके।"** लड़की के दरवाज़ा पीटने पर वह बाहर आता है और पत्नी के पैर छूकर और सबसे क्षमा माँगकर बाहर चला जाता है। आस्था की समस्या महिपाल के लिए उठ खड़ी होती है। **"अपनी पत्नी को मारकर महिपाल आस्थाविहीन हो गया है।"** बिगड़े रईस महिपाल ने समाजवाद का चोगा ओढ़ रखा था; इज्जत का सवाल आने पर वह एक ही झटके में नीचे गिर पड़ता है। सज्जन से उसे ईर्ष्या भी होती है। अपने मित्र के विरुद्ध वह प्रचार करता है कि सज्जन छिपे-छिपे कम्युनिज़्म फैला रहा है। महिपाल की डींग सुनकर उसका एक पूँजीपति मित्र यह रहस्य प्रकट कर देता है कि ननिहाल में डाका पड़ने पर महिपाल ने बहुत से गहने चुरा लिये थे और कह दिया था कि उन्हें डाकू ले गए। चोरी पकड़े जाने पर आत्म-हत्या के सिवा उसे कोई मार्ग नहीं सूझता। एक पत्र में अपना कच्चा चिट्ठा लिखकर संसार से विदा हो जाता है। महिपाल की आत्म-हत्या यह दिखलाती है कि उसके आगे कोई रास्ता नहीं रह गया था। समाजवाद से उसे बौद्धिक सहानुभूति है; अपने जीवन में वह असन्तुलित अराजकवादी है। वह अच्छा पिता और पति नहीं बन पाता। डॉ० शीला से उसे प्रेम है और शीला को छोड़ने के बाद वह भीतर से टूट जाता है। किन्तु उसकी ट्रैजेडी घरेलू जीवन तक सीमित नहीं है। शिवभक्त महिपाल समाज को बदलने का कोई रास्ता नहीं देखता। उसकी कहानी उस बुद्धिजीवी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कहानी है जो समाज-व्यवस्था से असन्तुष्ट तो है, लेकिन उसके बदलने के लिए जन-शक्ति के संगठित करने का धैर्य और दृढ़ मनोबल जिसमें नहीं है।

दूसरी ओर चित्रकार सज्जन है। रूढ़ियों के विरुद्ध है, लेकिन वृन्दावन में जाकर रहस्यवादी बन जाता है। टेलीपैथी आदि चमत्कारों में उसे विश्वास है। वृन्दावन में वनकन्या के प्रति प्रेम विज्ञापित करने के बाद लखनऊ आते ही अपनी प्रेमिका चित्रा राजदान के साथ सरस समय बिताता है। रईसी ठाठ में नौकरों पर हाथ भी चला देता है, उन्हें बर्खास्त कर देता है। वनकन्या से विवाह होने पर जहाँ कोठी में उसके साले साहब आते हैं, उस पर इज्जत का भूत सवार होता है और उसे सबसे पहले यह भय होता है कि नौकरों ने देख लिया तो क्या कहेंगे। ईर्ष्या का शिकार वह भी है, लेकिन साधु की कृपा से उसकी मति बदल जाती है और वह सम्पत्ति-दान करने के लिए तैयार हो जाता है। महिपाल और सजन में महिपाल अधिक सजीव है। उसका मानसिक द्वन्द्व ज़्यादा तीखा और नाटकीय है। अपनी कमजोरियों के बावजूद वह पाठक की करुणा अपनी ओर खींचता है। सज्जन की कठिनाइयाँ उसकी अपनी गढ़ी हुई हैं; वह परिस्थितियों से महिपाल की तरह नहीं जूझता। उसका चित्रकार भी बहुत कमज़ोर है। चित्रकार से अधिक वह मुहल्ले के जीवन का अध्ययन करने वाला समाज-शास्त्री है और यहाँ उसका व्यक्तित्व उपन्यासकार महिपाल की ही प्रतिच्छवि है। उसके सम्पत्ति-दान में ऐसी गरिमा नहीं है जो पाठक को आन्दोलित करे। 'प्रेमाश्रम' और 'जहाज का पंछी' के काल्पनिक समाधान की छाप उपन्यास को कमजोर बनाती है।

पुरुष पात्रों में ताई से मिलते-जुलते पात्र हैं कर्नल और रामजी साधू। कर्नल उच्च मध्यवर्ग के दूकानदार हैं। अपने मित्रों में नगीनचन्द जैन कर्नल नाम से विख्यात हैं। बुद्धिजीवियों की समस्याएँ उनकी समझ में नहीं आतीं लेकिन जहाँ भी मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है, नगीनचन्द उसकी सहायता को तुरन्त पहुँच जाते हैं। वनकन्या को अपने अत्याचारी कुटुम्बियों के यहाँ जब आश्रय नहीं मिलता, तब नगीनचन्द उन्हें अपने यहाँ बहन की तरह रखते हैं। इस मानव-प्रेम के कारण उन्हें रूढ़िवादियों का कोपभाजन बनना पड़ता है लेकिन वह चतुराई और दृढ़ता से उनका सामना करते हैं। कलाकार सज्जन को जब उसके वर्ग के रईस अपनी उँगलियों पर नचाते हैं तब नगीनचन्द कलाकार की ईमानदारी के लिए लड़ते हैं। कलाकार सज्जन के लिए एक बार वह अपने सच्चे उद्गार प्रकटकरते हुए कहते हैं—"क्या बताऊँ ये सज्जन ससरा इस वक्त ऐसी लेंडी निकला कि।" सज्जन वास्तव में कायर है; वीर कर्मठ पुरुष है नगीनचन्द। रूढ़िवादियों और राजनीतिक दलों से असन्तुष्ट होकर वह कहते हैं—"**इनकी हर चाल पलटकर इस बार अपनी अलग पार्टी—इंसानी दल कायम न किया तो कुछ काम न किया। अब हम एक नहीं सब पॉलिटिकल पार्टियों को चुनौती देकर कसौटी पर कसेंगे। हम जनता में रहेंगे। जनता के अधिकारों के साथ रहेंगे। अब चाहे सरकार हो, ये बड़े-बड़े कैपिटलिस्ट हों या पॉलिटिकल पार्टियाँ हों—हम सबसे अपने अधिकारों के लिए सावधान रहेंगे।**" यह उस नागरिक की आवाज है जिसे जनता से प्रेम है, जिसके हृदय का निःस्वार्थ प्रेम उसके आये दिन के कार्यों से प्रकट होता रहता है, जो बाधाओं और कुण्ठाओं से त्रस्त होकर मानसिक उधेड़-बुन का स्वाँग रचकर 'हाय आस्था, हाय आस्था' कहकर नहीं चिल्लाता। नगीनचन्द का चरित्र यह दिखलाती है कि पुरानी व्यवस्था को बदलने और रूढ़िवाद को निर्मूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिए जिस निष्ठा और धैर्य की आवश्यकता है, वह समाज में विद्यमान है।

नगीनचन्द से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व रामजी बाबा का है। पुराने सन्तों की परम्परा के वह साकार जीवित रूप हैं। उपन्यास के अनेक पात्रों की तरह लेखक ने इन्हें यथार्थ जगत् से ही लिया है। सज्जन और महिपाल की तरह जमीन-आसमान के कुलाबे न मिलाकर वह सेवा को कर्त्तव्य मानकर समाज के बहिष्कृत पागलों की सेवा करते हैं। उनकी सेवा-भावना के आगे बुद्धिजीवियों की कुण्ठाग्रस्त शंकाएँ सूखे पत्तों की तरह उड़ जाती हैं। उनकी तुलना में सज्जन को अपनी कमजोरी का पता चलता है—"**वह सेवा के आदर्श को इत्र की तरह सूँघ कर आनन्दित भले ही हो ले**......।" वास्तविक सेवा से वह बहुत दूर है। जब महिपाल कहता है कि आज का मनुष्य जंगली हो गया है, तब रामजी साधु कहते हैं—"**मनुष्य इस समय अपने मन के महल की** सफाई कर रहा है। जब **पूरी हुइ** जायगी तब देखियेगा।" महिपाल केवल उपन्यासकार हैं; अस्सी साल के नौजवान रामजी बाबा सेवा-कार्य में युवकों को मात करते हैं। मनुष्य के भविष्य में उनकी यह सहज अडिग आस्था उनके कर्मठ जीवन से उत्पन्न होती है। उसका आधार हवाई उधेड़-बुन नहीं है। वास्तव में साधु शब्द के प्रचलित अर्थ में वह संसार-त्यागी महात्मा हैं ही नहीं। वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उन भक्तों में से हैं जो इस गोचर जगत् में ब्रह्म के दर्शन करके मनुष्य की सेवा करते हैं। विज्ञान ने इतनी प्रगति की है; क्या उससे मानवता का नाश न हो जायगा? बाबा रामजी की आस्था डिगने के बदले वैज्ञानिक प्रगति से और दृढ़ होती है। कहते हैं—"**विज्ञान के जो अनुपम रत्न निकल रहे हैं, मानवतावाद का व्यापक प्रचार हुइ के चेतना का जो अमृत निकलेगा वह समस्त लोक को मिलेगा और जौन ये स्वार्थपरता, अनाचार का कालकूट निकल रहा है तौन नीलकंठ परम सेवक हैं वो अपनी ड्यूटी बजाने से कभी नहीं चूकते।**" इस दृढ़ आस्था के सामने कुण्ठा की पीड़ा से कराहने वालों को शर्म आनी चाहिए।

वनकन्या अपने चारों ओर के वातावरण से तिलमिला उठती है, लेकिन महिपाल की तरह वह घुटने नहीं टेकती। सभी परिस्थितियों में धैर्य से काम लेते हुए वह रूढ़िवाद से टक्कर लेती है और साथ ही अपने प्रेमी कलाकार सज्जन के ढुलमुल मन को भी संभालती है। नारी और विवाह के सम्बन्ध में सज्जन के विचार 'चक्का क्लब' और 'मनुष्य के रूप' के लेखक से मिलते-जुलते हैं। वनकन्या सिद्ध कर देती है कि स्वच्छन्द प्रेम के ये विचार क्रान्तिकारी न होकर वास्तव में अभिजात-वर्ग के संस्कार हैं। अनैतिकता के वातावरण में दृढ़ इच्छा-शक्ति वाली सच्चरित्र वनकन्या पाठक की आस्था को दृढ़ करती है।

आस्था के इतने प्रतीकों के होते हुए भी उपन्यास के अन्त में सज्जन को लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। महिपाल की आत्महत्या के बाद उसे विशेष रूप से आस्था का प्रश्न क्षुब्ध करता है। वह अपने लिए ठीक सोचता है कि महिपाल की-सी परिस्थितियों में यदि उसका जीवन बीता होता तो शायद उसका भी अन्त यों ही हुआ होता। आखिर वह महिपाल के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू ही तो है। वह आत्महत्या से कैसे बचता? लेकिन अपने विनाश की सम्भावना में उसे देश मिटता दिखाई दे रहा है। वह देश के बारे में सोचता है—"**जिस देश में कर्मयोग का सिद्धान्त है, वेद, उपनिषद्, साहित्य, शास्त्र हैं, व्यास, वाल्मीकि जैसे युग-प्रवर्तक महर्षि हैं, इतना रसज्ञान है, अजन्ता, एलूर, कोणार्क, दक्षिण भारत—सारे**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में व्याप्त अनुपम शिल्प है, सुनीतियाँ हैं; जिस देश का इतिहास इतना महिमामय है, वह देश जड़ता और गन्दगी में रहना पसन्द करते हुए आज की भयंकर अगति के रूप में आत्महत्या क्यों कर रहा है ?"

सज्जन ने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास में जो कुछ देखा, वह सब सत्य है। लेकिन सत्य उतना ही नहीं है। भारतीय जनता का इतिहास उसके संघर्षों का इतिहास भी है। उसकी संस्कृति जनता के इस संघर्षमय इतिहास से दूर रखकर नहीं समझी जा सकती। सज्जन न तो पुराने इतिहास में और न वर्तमान काल में जनता को कहीं संघर्ष करते देखता है। स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए जनता ने जो संघर्ष किया, उसकी छाप भी कहीं उसके मन पर पड़ती नहीं दिखाई देती। अपने चारों ओर आस्थावान पात्रों के होते हुए भी उसे लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। इसका एक कारण यह है कि निष्ठावान पात्र अपने व्यक्तिगत जीवन में तो महान् हैं, किन्तु लोक-कल्याण के लिए उनमें सामूहिक प्रयत्न का अभाव है। स्वयं सज्जन ने सम्पत्ति-दान किया है और अपने ढंग से समाज-सेवा की ओर बढ़ भी रहा है। स्पष्ट है कि इस सबसे उसे सन्तोष नहीं है। कुछ धनी व्यक्तियों का सम्पत्ति-दान समाज की मूल समस्या हल नहीं कर सकता। आस्थावान पात्र सामूहिक प्रयत्न से दूर हैं, इसलिए उनकी आस्था भी अधूरी है। स्वयं सज्जन व्यक्तिगत श्रम से भी दूर है, इसलिए वास्तव में वह महिपाल से भी अधिक आस्थाहीन है।

उपन्यास की भूमिका में लेखक ने **"देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण-दोष भरा चित्र"** खींचने की बात कही है। उपन्यास में मध्यवर्गीय नागरिक भी हैं। फिर भी उपन्यास के मुख्य पात्र सज्जन, महिपाल, वनकन्या, ताई, कर्नल और शीला हैं। रामजी बाबा सज्जन से पूछते हैं कि वह कितना दान कर सकता है ? सज्जन उत्तर देता है—तीन लाख। वह लखपती का बेटा ही नहीं, स्वयं भी लखपती है। भारत के मध्यवर्ग में तीन-तीन लाख की सम्पत्ति का दान देने लायक सदस्य हो जायँ तो कहना ही क्या ? ताई राधाकृष्ण का विवाह करती है। **"जिन्हें सुबह-शाम छेड़कर बच्चे, बूढ़े, जवान सभी सुख पाते हैं, वह ताई पचास हजार की संपत्ति लुटाकर उत्सव मना रही हैं।"** महिपाल की प्रेमिका **"शीला के पास लाख-डेढ़ लाख रुपया है।"** लाला नगीनचन्द उर्फ कर्नल **"लखनऊ की एक पुरानी और प्रसिद्ध अंग्रेजी दवाओं की दुकान के मालिक हैं। सामाजिक कामों के लिए जी खोलकर चन्दा देने वालों में उनका नाम शहर के गिने-चुने लोगों के साथ लिया जाता है।"** रह गए महिपाल और वनकन्या। वे परिस्थितियों से जूझते हैं, लेकिन हैं वे भी रईस घराने के। महिपाल ननिहाल में पला था और **"उसकी ननिहाल का घराना ताल्लुकेदारों का था।"** वहाँ डाका पड़ा तो महिपाल के अनुसार **"डेढ़ लाख रुपये की ज्वेलरी गई।"** आगे यह रहस्य खुलता है कि चोरी का जेवर डाकू को मारकर महिपाल ने स्वयं हड़प लिया था। सेठ रूपरतन कहते हैं कि उन्होंने गहने बिकवाने के नाम पर महिपाल के लिए चालीस हजार की रकम खड़ी कर दी। महिपाल उपन्यासकार है और अपनी पत्नी से उसे सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह उसके कलाकार का महत्त्व नहीं समझती। लेकिन **"महीनों हो गए, उसने एक अक्षर नहीं लिखा, केवल अपने घर में, अपने चारों ओर हर तरफ लक्ष्मी का आडम्बर सजाने में ही उसके दिन अधिकतर चले जाते हैं।"** वह अपने मन में थका हुआ अनुभव करता है और **"उस थकान में उसे बैंक में जमा**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने अड़तीस हजार रुपये याद आए।'' "वह किसी हद तक विलासिता का शिकार है।'' वह अपने अन्तिम पत्र में लिखता है, "ताल्लुकेदारी वातावरण में पलकर मेरे संस्कार भी राजसी हो गए थे।'' पैसा मिलते ही उसके राजसी संस्कार लहलहा उठते हैं। एक दिन की बात है—"महिपाल आज पूर्ण रियासती भाव में था—बढ़िया चप्पल, उम्दा चुन्नटदार धोती, रेशमी कुर्ता, रेशमी जवाहर जैकेट, फावरल्यूबा की घड़ी, शेफर्स की सुनहली कलम, हाथ में पुखराज की अँगूठी।'' परिस्थितियों से जूझने के बावजूद महिपाल मध्यवर्ग का प्रतिनिधि नागरिक नहीं माना जा सकता। वनकन्या भी एक तबाह रईस घराने की लड़की है। "रईस मेरे बाबा-परबाबा भी थे।'' कन्या कहती है—"उनके किस्से मैंने भी सुने हैं। यह बात दूसरी है कि अपने होश से ही मैंने अपने मायके में फिजूलखर्ची और कंगाली ही बराबर बढ़ती देखी।'' रईस या बिगड़े हुए रईस–उपन्यास के प्रमुख पात्र इस तरह के हैं। इस तरह के लोगों का अपने वर्ग-संस्कार छोड़ना और श्रमिक जनता के दुःख-सुख में घुल-मिल जाना एक कठिन प्रक्रिया है। यदि वे सामूहिक प्रयत्न द्वारा समाज-व्यवस्था को बदलने का रास्ता नहीं देख पाते तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सज्जन को किसी भी राजनीतिक पार्टी में आस्था नहीं है। "सब अधिकांश में एक-से-एक बढ़कर बेईमान, क्षुद्र आकांक्षाओं वाले, जालसाज़, दम्भी और मग़रूरों द्वारा अनुशासित हैं; आदर्श और सिद्धान्त तो महज़ शिकार खेलने के लिए आड़ की टट्टियाँ हैं। इनकी आपसी संघर्ष अधिकतर व्यक्तिगत है।'' यदि सज्जन राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लेकर इस परिणाम पर पहुँचता, यदि उपन्यासकार विभिन्न पार्टियों की राजनीतिक कार्यवाही का सजीव चित्र देकर ऊपर की स्थापना हमारे सामने लाता तो वास्तव में चिन्ता की बात होती और पाठक उस तक आते-आते तिलमिला उठता। लेकिन उपन्यास में क्षीण मनोबल वाले बिगड़े रईस या सम्पत्ति-दान से भारत का उद्धार करने वाले कलाकार ऐसी बातें करें तो इसे उन्हीं का वर्गगत दम्भ समझना चाहिए। जालसाजी जैसी चीज महिपाल के चरित्र में है; क्षुद्र आकांक्षाओं की कमी सज्जन में नहीं। फिर भी वह धर्मोपदेशक बनकर कहता है—"आत्मविश्वास ही नये युग का धर्म है।'' उसे "जनजीवन अन्धविश्वासों और भ्रान्तियों से जकड़ा हुआ'' दिखाई देता है। वास्तव में जितने अन्धविश्वास और भ्रान्तियाँ सज्जन में हैं, उतने अन्धविश्वास और भ्रान्तियाँ अशिक्षित और निर्धन जनता में नहीं हैं। वह अपनी समझ में बड़ा मार्मिक प्रश्न करता है—"क्या किसीको भी आज अपने देश से प्यार नहीं?'' यदि सज्जन की आँखें उसके वर्ग-संस्कारों ने बन्द न कर दी होतीं तो वह समाज में अपने को अकेला देश-भक्त न पाता। उसकी समझ में भारत का मनुष्य "अधिकांश में भारतीय नहीं, मानव भी—?—नहीं।'' अन्त में, "दोनों पति-पत्नी अपनी आस्था पर डटे रहेंगे।'' इति, शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः!

क्या इस उपन्यास में ही सज्जन से अधिक आस्थावान व्यक्ति नहीं हैं? क्या ताई द्वारा तारा के प्रजनन में सहायता, रामजी साधु द्वारा पागलों की सेवा, नगीनचन्द द्वारा वनकन्या की सहायता, महिपाल द्वारा बड़ी के पति की पूजा, महिपाल के लिए शीला का प्रेम सज्जन के चरित्र और उसके किसी भी कृत्य से अधिक महान् नहीं हैं? सज्जन ने उपन्यास में जरूरत से ज्यादा जगह घेरी है। पूर्वार्द्ध में वह उतनी जगह नहीं घेरता, जितनी उत्तरार्द्ध में। इसलिए उपन्यास का उत्तरार्द्ध अपेक्षाकृत निर्बल हो गया है। विशेष रूप से उसका अन्त काफ़ी कमज़ोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। महिपाल की आत्म-हत्या पाठक को व्यथित अवश्य करती है, किन्तु वह क्षोभ भी उत्पन्न करती है। किसी कारण दूसरों के मन की बात जानने वाले रामजी बाबा महिपाल के मन की बात बिलकुल नहीं जान पाते कि वह आत्महत्या करेगा। वह अपनी शक्ति से जितना सज्जन की सहायता करते हैं, उसकी शतांश कृपा भी वह महिपाल पर नहीं करते। लेखक के साथ वह भी सज्जन का पक्षपात करते हैं। लाला नगीनचन्द बहुत ही व्यवहारकुशल व्यक्ति हैं, लेकिन मित्रों में भेद खुल जाने पर अपमानित होकर जब महिपाल घर से निकलकर चल देता है, तब भी वह उसके पीछे नहीं चलते, न उसकी खोज-खबर लेते हैं। उपन्यास के उत्तरार्द्ध की यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटना कलात्मक दृष्टि से सत्य नहीं उतरी।

कथावस्तु को कमज़ोर करने वाला एक दूसरा दोष आदिम समाज का हवाला देने का रोग है। सज्जन और महिपाल दोनों समाज-शास्त्री हैं। कहीं मोहेंजोदड़ो, कहीं वैदिक सभ्यता, कहीं प्रस्तर मूर्तियाँ, कहीं आर्य-अनार्य संघर्ष और एक जगह नहीं पचीसों बार नाक में दम कर देते हैं। आधुनिक उपन्यासों के पात्रों को आत्मचिन्तन और आत्मविश्लेषण का रोग होता ही है। पन्ने-के-पन्ने आत्मचिन्तन से रँगे हुए हैं। इनसे कथावस्तु में शिथिलता अवश्य आती है; चरित्र की गहराई का पता तो दो वाक्यों से ही लग जाता है।

कथा कहने में एक दोष यह भी है कि जिन पात्रों से पाठक काफ़ी पहले परिचित हो चुका है, उनके विस्तृत रेखाचित्र अथवा संक्षिप्त जीवन-चरित्र बाद में दिये गए हैं। इससे कथा-प्रवाह में बार-बार ठहराव पैदा हो जाता है। एकाध दोष असावधानी से उत्पन्न हो गया है। कर्नल ख़ासी हिन्दी बोल लेता है, लेकिन ६६वें अध्याय में उस पर 'है' की जगह 'हैगा' कहने का ख़ब्त सवार हो जाता है। उपन्यास में कुछ यथार्थ जगत् के पात्र भी आते हैं, जैसे अमृतलाल नागर, यशपाल, ज्ञानचन्द जैन, भगवतीचरण वर्मा इत्यादि। लेखक ने इनके रेखाचित्र भी नहीं दिए; उसने यह मान लिया है कि पाठक तो इन्हें जानता ही होगा। पाठक साहित्यकार के रूप में उन्हें जान भी सकता है, लेकिन साहित्यकार होने से ही कोई उपन्यास का पात्र नहीं हो जाता। लेखक इनमें पात्रता उत्पन्न नहीं कर पाया।

इन सब दोषों के होते हुए भी 'बूँद और समुद्र' एक सुन्दर उपन्यास है। भारतीय समाज के ऊपर से आत्मसन्तोष का पर्दा खींचकर लेखक ने उसके भीतर की बीभत्सता सबके सामने प्रकट कर दी है। नारी के साथ जो पाशविक अत्याचार किए जाते हैं, उसके हृदयविदारक दृश्य उसने हमें दिखलाये हैं। संभ्रान्त परिवारों में जो गुप्त रूप से व्यभिचार चलते हैं, उसकी नारकीयता से युद्ध करने के लिए उसने ललकारा है। न्याय, धर्म और कला किस तरह सम्पत्तिशाली वर्ग के हाथों बिकते हैं, इसके सजीव चित्र उसने आँके हैं। प्रेमचन्द के बाद किसीने न्याय-व्यवस्था की वास्तविकता पर ऐसा व्यंग्य नहीं किया जैसा अमृतलाल नागर ने। उपन्यास में सभी रस हैं। भयानक, अद्भुत और वीभत्स के चित्रण में नागर का सानी नहीं है। कल्याणी, वनकन्या, बड़ी, महिपाल की व्यथा पाठक को बुरी तरह झकझोरती है। चित्रण और सम्वादों में हास्यरस का उद्रेक नागर की शैली की विशेषता है। चित्रा राजदान और कवि विरहेश जैसे पात्र थोड़ी देर के लिए भी उपन्यास में आते हैं तो पाठक को अपनी सजीवता से मुग्ध कर देते हैं। लखनऊ के शरीफ़ों की बातचीत पढ़ते हुए कई बार लगा जैसे आगरा छोड़कर मैं फिर लखनऊ पहुँच गया हूँ। रामजी बाबा के पागलों का वर्णन विक्टर ह्यूगो की गम्भीर मानवतावादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ममता की याद दिलाता है। दुश्चरित्र पिता—महिपाल—अपने पाप से परिचित सन्तान का सामना करने में जिस आत्मग्लानि का अनुभव करता है, उसका चित्रण लेखक ने अपूर्व तन्मयता से किया है। विभिन्न स्वभाव के पात्र, उनके स्वभावों की टक्कर, एक ही व्यक्ति की प्रकृति में उत्थान-पतन और नये मोड़, ऐसे पात्र जिनसे पाठक को बेहद प्रेम हो जाता है और ऐसे पात्र जिन पर कभी दया आती है, कभी क्रोध आता है, संस्कृति के विभिन्न स्तर, समाजवादी चेतना, पुराने सन्तों का सेवाभाव, कलाकार का अहंकार, जादू-टोने की दुनिया, क्लिप और बिन्दी में रमने वाला मन, सहज मानवप्रेम और भाईचारा—इन सबके चित्र देखकर मन कह उठता है, कैसा विचित्र देश है अपना और यह प्रिय विचित्र देश अब करवट बदलकर उठ रहा है। कर्नल ही इन्सानी दल बनाकर जनता के अधिकारों के लिए लड़ने की बात नहीं सोचता। अशिक्षिता देवियाँ भी अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रही हैं। स्वाधीन भारत का पहला चुनाव है। **"बूढ़े, बीमार, अपाहिज तक वोट डालने आ रहे थे। स्त्रियों में तो अपार जोश था।"** एक महाशय पत्नी से जनसंघ को वोट देने के लिए कहते हैं। पत्नी कांग्रेस को वोट देना चाहती है। पत्नी बोलीं, **"देखौ, आज हम ज़िन्दगी में पहली बार ओट डालन आये हैंगे। जिसे हमरा मन आयेगा उसे देंगे। औ' तुम्हें अब कसम है, हमरा मरा मूँ देखौ जो अब की टोकाटाकी करौ।"** यदि यह क्रान्ति नहीं है तो क्रान्ति शब्द को निरर्थक ही समझना चाहिए।

अमृतलाल नागर के पास अपनी विभिन्न शैलियों में भाव-विचार प्रकट करते हुए पात्रों का अक्षय भण्डार है। उनकी कला में यह शक्ति है कि इन पात्रों को वह उनके सामाजिक परिवेश के साथ सजीव कर देते हैं। ऐसी संजीवनी कला बहुत कम लेखकों के पास है। उनसे बहुत कम पूँजी वाले लेखक महान् कलाकार बन चुके हैं। 'बूँद और समुद्र' में जितना सामाजिक अनुभव संचित है, वह उसे अपने ढंग का विश्वकोश बना देता है। उसे एक बार नहीं, बार-बार पढ़ने को मन करेगा। कुछ स्थल ऐसे हैं जिन्हें बार-बार पढ़ने पर भी मन न भरेगा। निस्सन्देह स्वाधीन भारत का यह एक उत्तम उपन्यास है।

●

प्रकाशचन्द्र गुप्त

हाथी के दाँत

'हाथी के दाँत' श्री अमृतराय का दूसरा लघु उपन्यास है। इसके पूर्व आपका एक बृहद् उपन्यास 'बीज' और एक लघु उपन्यास 'नागफनी का देश' प्रकाशित हो चुके हैं और इनकी काफ़ी चर्चा भी हुई है। 'हाथी के दाँत' ठाकुर परदुमनसिंह की कथा है, जो सन् '४७ के पूर्व ब्रिटिश शासन के समर्थक थे और अब कांग्रेसी एम० एल० ए०, उप-मन्त्री और मन्त्री बनकर कांग्रेसी शासन-तन्त्र के अंग बन गए हैं। उन्होंने अनेक स्त्रियों को बेआबरू किया है, अनेक क़त्ल किए हैं, जिनका रहस्य किसीसे छिपा नहीं है। खद्दर, गांधी टोपी और देश-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवा का ढोंग केवल दिखावे के दाँत हैं; सभी जानते हैं कि इस कांग्रेस-रूपी हाथी के खाने के दाँत और ही हैं।

'हाथी के दाँत' मुख्यतः व्यंग्यात्मक कथा है। व्यंग्य की शैली में अमृतराय विशेष पटु हैं। आपकी भाषा में बड़ा प्रवाह है, आपकी शैली सरल, मुहावरेदार, टकसाली शैली है। इस सफल शैली में आप अनेक व्यक्ति-चित्र प्रस्तुत करते चले जाते हैं—ठाकुर परदुमन सिंह, चम्पाकली, रावल, चन्द्रिकाप्रसाद, पण्डित रमाबिहारी चतुर्वेदी, रामसिंह, आज़ादजी, रत्ना। ये सभी पात्र बड़े सजीव और सफल हैं और मिलकर आज के भारतीय जीवन की एक विहंगम झाँकी पाठक को देते हैं।

जब हम इस उपन्यास के कथानक में कोई केन्द्रीय सूत्र खोजते हैं, तो कठिनाई होती है। उपन्यास की उठान बहुत अच्छी है। परदुमनसिंह और चम्पाकली के प्रेम-व्यापारों से कथा का आरम्भ होता है, किन्तु चन्द्रिकाप्रसाद की मृत्यु के उपरान्त कथा का यह महत्त्व-सूत्र त्याग दिया जाता है। पाठक यह जानना चाहता है कि चम्पाकली का बाद में क्या हुआ। इसका हवाला उसे उपन्यास के अन्त में एक वाक्य में मिलता है। हम समझते हैं कि उपन्यास का स्वाभाविक विकास इसी केन्द्रीय कथा के साथ चलता रहता, तो उपन्यास अधिक सफल होता। अब वह अनेक कहानियों का संग्रह है, जिनमें परस्पर कोई विशेष तारतम्य नहीं है। उदाहरण के लिए, पण्डित रमाबिहारी चतुर्वेदी स्वयं एक स्वतन्त्र रोचक कहानी के पात्र हैं, किन्तु ठाकुर परदुमनसिंह की कहानी से आपका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यही स्वामी परमानन्द और आज़ादजी की कथा के सम्बन्ध में भी हम कह सकते हैं।

'हाथी के दाँत' का कथानक कुछ बिखरा होने पर भी हमें कांग्रेसी भारत का अत्यन्त सजीव और प्रभावोत्पादक चित्र देता है। श्री अमृतराय में सफल उपन्यासकार के अनेक गुण हम पाते हैं—पात्रों का दृढ़, सुस्पष्ट रेखाओं द्वारा अंकन; भाषा की चित्रात्मकता, प्रवाह और वेग; जीवन की विभीषिकाओं पर हँसने की क्षमता, व्यंग्य के अस्त्र से उन पर तीव्रतम मर्म-प्रहार; कथा के तार को समर्थ प्रतिभा से उठाने की क्षमता। इन सब गुणों को देखते हुए आपसे पाठक अधिक गुँथे हुए उपन्यास की आशा कर सकता है।

अमृतराय प्रगतिशील कथाकार हैं और उन्होंने जीवन के दुःखों को ही अपने उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। आपने उन नेताओं की अनेक दुर्बलताओं का काफ़ी पर्दाफ़ाश किया है, जो कभी जनता के दुःख-सुख की बात शायद सोचते रहे हों किन्तु जिनको अब अपने विलास-वैभव के क्षणों से ही अवकाश नहीं मिलता। 'हाथी के दाँत' हमें भारत के सामन्ती शोषण की एक झलक देता है। इन सामन्तों का सिक्का स्वतन्त्र भारत में भी उसी शान से चलता है, जैसे वह ब्रिटिश शासन में चलता था। 'हाथी के दाँत' में विधानसभा में कांग्रेसी सदस्यों के विश्राम करने के भी बड़े सफल और सजीव चित्र हैं।

अमृतराय पुलिस के घोड़ों का वर्णन करते हैं—"**घुड़सवार दस्ते बड़ी आन-बान के साथ अपने दीवार जैसे ऊँचे घोड़ों पर क़तार बाँधे खड़े हैं। पुलिस लाइन के घोड़ों का क्या कहना! इतनी जौफ़िशानी से वे दलें-मले गए हैं और इतनी अच्छी उनकी ख़ूराक़ है कि उनके जिस्म बिलकुल साँचे में ढले हुए नज़र आते हैं....**

"काश कि मुल्क के इन्सानों को वह देख-भाल, वह ले-लपक, वह ख़ूराक़ मिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती जो इन घोड़ों को मिलती है !

"मगर वह कैसे हो, किस तर्क से ? मुल्क के इन्सान तो हकूमत की ताकत के खम्भे नहीं हैं और ये घोड़े हैं। दोनों में फ़र्क तो होगा ही। इन्साफ़ की बात है।"[1]

भाषा की सजीवता और सफलता का एक उदाहरण गाँव में वसन्त का वर्णन है—"आम गहगहाकर बौरे हुए थे। हवा महुए और आम्रमञ्जरी की गन्ध से, अलसायी हुई थी। हलकी-हलकी पुरवैया बह रही थी, जिसमें खेत की पीली सरसों किसी अलबेली नवेली के आँचल की तरह लहरा रही थी और साँझ की बेला थी। पेड़ों पर चिड़ियाँ चहक रही थीं, जैसे शाम को घर लौटकर निहायत बेसब्री से अपने दिन-भर के तजुर्बे बयान कर रही हों। बाँसों के झुरमुट आपस में कनबतियाँ कर रहे थे। गायें चरागाहों से लौट चुकी थीं और ग्रामपथ निर्जन हो चला था।"[2]

परिच्छेदों के शीर्षक भी बड़े आकर्षक हैं—गड़े मुर्दे; इन्दर सभा; अगर फ़िरदौस बर रूए जमीन अस्त; नहले पर दहला; मृगछलना; छलनामृग आदि। ये शीर्षक प्रमाण हैं कि लेखक ने बड़ी गहरी अनुभूति से विषय को आत्मसात् किया है।

प्रतिभा के इन लक्षणों का स्वागत करते हुए भविष्य में उनके अधिक सफल समन्वय की आलोचक आशा करता है।[3]

प्रकाशचन्द्र गुप्त

राह बीती

'राह बीती' यशपाल की दूसरी यात्रा-पुस्तक है। पहली पुस्तक 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' हिन्दी-पाठकों में काफ़ी लोकप्रिय हो चुकी है। इस पुस्तक में यशपाल ने सोवियत जनता की समृद्धि की तुलना पश्चिमी यूरोप से की थी। 'राह बीती' में चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, रूमानिया और अफ़गानिस्तान की यात्रा के रोचक वर्णन हैं। यशपाल चुटीले व्यंग्य, विनोद और हास्य में घोलकर अपने वर्णन प्रस्तुत करते हैं। अपने प्रगतिशील विचार-दर्शन के कारण आप वस्तु-स्थिति के मर्म तक आसानी से पहुँच जाते हैं और उसका यथार्थ मूल्यांकन कर सकते हैं। आप वास्तविक जनवाद के आधार—उसकी आर्थिक भूमि—की परीक्षा निरन्तर कर सकते हैं।

यशपाल की यह तीसरी यूरोप-यात्रा थी। इस बार आप चैकोस्लोवाकिया के लेखक-सम्मेलन में शामिल होने प्राहा गये थे। यहीं पूर्वी जर्मनी और रूमानिया जाने का निमन्त्रण भी आपको मिला। बम्बई से प्राहा तक हवाई यात्रा का बड़ा चित्रात्मक वर्णन यशपाल ने किया है। फिर पाठक यशपाल के साथ रोम का चक्कर काटता है, कौलीसियम के खण्डहरों में बैठता है और

१. पृ० ८९।
२. पृ० ५-६।
३. लेखक—अमृतराय; प्रकाशक—हंस प्रकाशन, इलाहाबाद; मूल्य २॥)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन कला के नमूने देखता है।

चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी और रूमानिया—तीनों ही पिछले महायुद्ध के विध्वंस में काफ़ी नष्ट हुए थे। इन देशों में पुनर्निर्माण की गति से यशपाल काफ़ी सन्तुष्ट हैं। पूर्वी बर्लिन में आप एक गुप्त अमरीकी सुरंग का आँखों-देखा हाल लिखते हैं। यह सुरंग अमरीकी साम्राज्यवादियों ने पूर्वी बर्लिन के टेलीफोन-एक्सचेंज के नीचे बनाई थी, ताकि वे पूर्वी जर्मनी के समाचार गुप्त रूप से जान सकें।

चैकोस्लोवाक लेखकों के सम्मेलन में बहस गम्भीर और ऊँचे स्तर की थी। ये लेखक अपने साहित्य को जन-हित की प्रेरणा से तो अनुप्राणित करना ही चाहते हैं, वे अपने साहित्य का स्तर भी निरन्तर ऊँचा करना चाहते हैं। इस सम्मेलन की बहसों पर बीसवीं सोवियत कांग्रेस की विचार-धाराओं का काफ़ी प्रभाव था।

यशपाल इस सम्मेलन में हिन्दी में बोले थे। बाद में उनके वक्तव्य का अनुवाद चैक भाषा में सुनाया गया। यशपाल के अनुसार चैक लेखकों की आर्थिक हालत बहुत अच्छी है। उनके विश्राम-गृह और आमोद-स्थल सभी सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण हैं। अपनी यात्रा में यशपाल ने पूर्वी यूरोप के समाजवादी जीवन के अनेक अंगों का परिचय प्राप्त किया। नगर, उद्योग-धन्धे, आमोद-स्थल, गाँव, सामूहिक कृषि-शालाएँ आदि आपने देखे। यशपाल के अनुसार इस समाजवादी संसार में मनुष्य का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा उठ रहा है। यह देश प्रगति के पथ पर अग्रसर है। फिर भी वे अपनी विजय-यात्रा से सम्पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे जानते हैं कि अभी उन्हें बहुत आगे बढ़ना है। अपनी प्रगति के लिए वे शान्ति की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव करते हैं। पिछले महासमर में भारी हानि और वेदना झेलने के कारण वे युद्ध-जनित सङ्कट के प्रति विशेष रूप से सतर्क हैं।

यशपाल की पुस्तक हिन्दी-पाठक को समाजवादी यूरोप की परिस्थितियों से परिचित कराएगी। पाठक का ज्ञान-वर्द्धन तो पुस्तक से होगा ही, साथ ही उसका मनोरंजन भी यथेष्ट मात्रा में होगा। असावधानी के कारण कहीं-कहीं पाठ में भाषा की अशुद्धियाँ हैं, जिन्हें अगले संस्करण में दूर कर देना चाहिए।[1]

शिवकुमार मिश्र

कौड़ियों का नाच

वर्तमान युग गद्य का, विशेषतः कथा-कहानियों (उपन्यास व आख्यायिका) का युग है। हिन्दी का कथा-साहित्य इस युग में जितनी प्रगति कर रहा है, जितनी शीघ्रता से आगे बढ़कर प्रौढ़ता की मंजिल पर पहुँचने का उपक्रम कर रहा है, कदाचित् इससे पूर्व उसमें इतनी गति न थी और न ही वह आज के अर्थों में इतना सम्पन्न था। आज हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास व

१. लेखक—यशपाल; प्रकाशक—विप्लव कार्यालय, लखनऊ; मूल्य ३॥)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटी कहानियों की, जिनमें रेखाचित्र, व्यंग्य-चित्र सभी शामिल हैं, एक बाढ़-सी आ गई है। स्पष्ट है कि यह सारा साहित्य श्रेष्ठ, सुन्दर और स्थायी नहीं है। कारण स्वाभाविक है कि जब बाढ़ आएगी तब तमाम गन्दी, छिछली और ओछी वस्तुएँ भी उतरा आएँगी, पर इसके बावजूद भी इस बाढ़ ने हमें कतिपय सुन्दर, श्रेष्ठ और स्थायी चीजें एवं प्रतिभावान लेखक भी दिये हैं, साथ ही कुछ ऐसे भी, जिनमें अभी पूर्ण परिपक्वता नहीं आई, पर जिनमें भविष्य की सुन्दर सम्भावनाएँ निहित हैं। प्रेमचन्द और प्रसाद की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले जिन पुराने और नये लेखकों ने कथा-कहानियों के क्षेत्र को समृद्ध किया है, कथाकारों की उसी पंक्ति में हम प्रस्तुत कहानी-संग्रह की लेखिका श्रीमती सरूपकुमारी बख्शी को भी रखते हैं।

प्रस्तुत संग्रह में लेखिका की दस कहानियाँ संग्रहीत हैं—(१) टूटा हुआ चिराग, (२) जंगी सिंह, (३) लुटेरे का दान, (४) प्लास्टिक की दुनिया, (५) निराली शान, (६) काश्मीरी मुहल्ला, (७) तितलियों की सभा, (८) फैशन की घुड़दौड़, (९) इंसानियत का नकाब और (१०) कौड़ियों का नाच! इसी अन्तिम कहानी पर ही संग्रह का नामकरण हुआ है।

प्रस्तुत संग्रह लेखिका की कहानियों का प्रथम संग्रह है। इसीको लेकर उसने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया है। स्पष्ट है कि इस संग्रह की सभी कहानियाँ लेखिका की सुन्दर कृतियाँ नहीं हैं, पर कुछ कहानियाँ ऐसी अवश्य हैं जो लेखिका के होनहार भविष्य की ओर संकेत करती हैं। इस सम्बन्ध में मैं संग्रह की प्रथम कहानी 'टूटा हुआ चिराग' का उल्लेख करना चाहूँगा। शेष कहानियाँ, जिनमें कुछ चलती हुई भी हैं, एक महत्त्वपूर्ण विशेषता लिये हुए हैं और वह है उन कहानियों में व्यक्त लेखिका का मानवतावादी दृष्टिकोण, आज के तथाकथित सफेदपोश, सुसंस्कृत, सभ्य एवं 'खोखले दिमाग' वाले भद्र पुरुषों एवं महिलाओं का, इस पूरे-के-पूरे वर्ग का चित्रण और इस चित्रण में झलकती हुई लेखिका की जनसाधारण के प्रति असीम प्रेम और निष्ठा की भावना, उस सफेदपोश वर्ग के प्रति वितृष्णा तथा मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति लेखिका की अडिग आस्था।

लेखिका ने कहानियों में समाज के इस सफेदपोश वर्ग के व्यक्तियों के दिमाग और दिलों की तह में उतरकर, उनके विचारों और भावनाओं, उनके क्रिया-कलापों, उनकी सभ्यता और आचारों के इतने स्पष्ट, यथार्थ और निखरे हुए चित्र खींचे हैं कि वह समाज अपनी सारी वास्तविकता के लिए इन कहानियों में प्रकट हो गया है और वह वास्तविकता है उसका खोखलापन, उसकी बाहरी चमक-दमक, और इस चित्रण द्वारा लेखिका ने इस समाज की घुटन का जो पर्दाफाश किया है उसके लिए वह बधाई की पात्र है।

लेखिका इस समाज के उतार-चढ़ावों, उसकी साँसों, उसकी धड़कनों से पूर्णरूपेण परिचित प्रतीत होती है और यही कारण है कि वह उसके इतने यथार्थ और जीवन्त चित्र देने में समर्थ हुई है और इस समाज से इतनी गहराई से सम्पर्क होने पर भी लेखिका का स्वयं का व्यक्तित्व उससे कितना बाहर और अलग है, यह भी इन कहानियों से पता लग जाता है। उसने एक सतर्क आलोचक की भाँति इस समाज को देखा-परखा है और उसकी एक-एक रेखा उभारी है।

'टूटा हुआ चिराग'—संग्रह की प्रथम कहानी—वास्तव में मर्मस्पर्शी है और लेखिका का मानवतावादी दृष्टिकोण भी उसमें पूरी तरह उभर उठा है। इसमें लेखिका ने लाहौर में रहने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले एक लखनवी शायर मियाँ जमाल का चित्र खींचा है—वह शायर जो अपनी निर्धनता के बावजूद भी एक बड़ा इन्सान था और जिसके ऊपरी ढाँचे को देखकर लोग जिससे घृणा करते थे, उसके भीतर उसे झाँककर देखा एक छोटी-सी बच्ची ने और उसने उस बूढ़े, फक्कड़, फटे-हाल शायर को अपने दिल की दुनिया दे डाली। कहानी बड़ी सजीव उतरी है, मर्मस्पर्शी और आकर्षक।

'प्लास्टिक की दुनिया', 'निराली शान', 'फैशन की घुड़दौड़', 'तितलियों की सभा', 'कौड़ियों का नाच', 'इंसानियत का नकाब', 'लुटेरे का दान', ऐसी कहानियाँ हैं जिनके शीर्षक ही उनकी विषय-वस्तु को स्पष्ट कर देते हैं। समाज के उसी वर्ग का चित्रण, जहाँ नाच होते हैं, पार्टियाँ होती हैं, शराब के दौर चलते हैं, फैशन की भाग-दौड़ होती है, स्त्री-पुरुष सब-के-सब जहाँ इन्हीं पार्टियों और नाचरंग की दुनिया में लिप्त रहते हैं, बाहर क्या हो रहा है, जीवन का वास्तविक रूप क्या है, उसके संघर्ष कितने भीषण हैं, इन बातों में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रहती।

'लुटेरे का दान' कहानी में सेठजी नारी-क्लब को बड़ी कठिनाई से एक हजार रुपये का दान देते हैं, पर साथ ही मुनीम को आदेश देते हैं कि कर्मचारियों के वेतन से ५ फीसदी काट लिया जाय। सुनन्दा के प्रश्न करने पर ही-ही करते हुए उत्तर देते हैं—"यह भी तो मेरा ही पैसा है। मैं इन लोगों को हर साल जो बढ़ौती देता हूँ सो? वह बढ़ौती मैं इनसे दान में खर्च करवा लूँगा, नहीं तो यह उसे सिनेमा, सिगरेट, ताड़ी, वगैरह में खर्च करेंगे। जी हाँ, आप इन्हें जानतीं नहीं, ये छोटे आदमी बड़े मज़े करते हैं कमबख्त, जिस दिन तनख्वाह मिलती है। तो मेरा फर्ज है कि मैं इनका पैसा उत्तम कारज में लगवाऊँ। आप फिकर न करें।" और रात को सुनन्दा ने बिस्तर पर पड़े-पड़े एक अजीब दृश्य देखा—

"एक छोटी-सी कोठरी, अंधेरी और गन्दी। वहीं पर चार-पाँच बच्चे शोरगुल मचा रहे थे। एक अर्धनग्न बच्चा जमीन पर पड़े-पड़े घिसट रहा था। इतने में ही दरवाजे पर एक खट-से आवाज हुई और एक अधेड़ नारी ने प्रवेश किया। उसके शरीर पर एक फटी हुई धोती थी, बाल बिखरे हुए थे। उसने सुनन्दा की ओर देखा और गाली देकर बोली, 'तुम कौन हो जी, चोर या डाकू? गरीबों का पेट काटकर समाज-सेवा करोगी? हमारी खून-पसीने की कमाई को छीनकर तुम संस्था बनाओगी, जहाँ पार्टियाँ हों, नाच-गाना हो, तुम्हारा लिक्चर हो, नाम हो। दे मेरे रुपये, चुड़ैल कहीं की, बेईमान……"
"……दूसरे दिन सुनन्दा सब रुपये सेठजी की मेज़ पर पटक आई और संस्था को त्यागपत्र दे दिया।"

'प्लास्टिक की दुनिया' में डार्ली (कहानी की नायिका) का चित्रण—"डाली समाज की प्रेमिका है। विशेषकर जब से उन्होंने अपने पति को तलाक दे दिया है तब से तो वह बहुत प्रसिद्ध हो गई है। सुना है कि बहुत अमीर है और बड़े ठाठ से ज़िन्दगी बसर कर रही है। बंगला है, मोटर है, बैरा है। उनकी आमदनी का जरिया क्या है यह किसीको मालूम नहीं। उसकी आँखें सुन्दर हैं, होटल के साइन बोर्ड की तरह चमकदार, शरीर छरहरा, अन्धेरे कमरे में जाने के लिए बनी हुई सीढ़ी की तरह घुमावदार, आवाज सुरीली जैसे शराबखाने के काउण्टर पर सिक्कों की खनन-खनन!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'निराली शान' में उधार माँगकर अपना रोब जमाने वालों का चित्रण किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सारी कहानियों के पीछे लेखिका का एक उद्देश्य है और उस उद्देश्य की पूर्ति में वह पूर्णरूपेण सफल हुई हैं। वह उद्देश्य कौनसा है, इसे हम पीछे बता चुके हैं।

जहाँ तक कहानियों की कलात्मक प्रौढ़ता का प्रश्न है 'टूटा हुआ चिराग' को छोड़कर शेष कहानियाँ कला की कसौटी पर पूरी तरह खरी नहीं उतरतीं। अधिकांश कहानियों की विषय-वस्तु समान होने के कारण उनमें ताजगी का अभाव दीख पड़ने लगता है। कुछ कहानियों में शिथिलता और उखड़ापन भी स्पष्टतः झलकता है। 'काश्मीरी मुहल्ला' में कोई कथा ही नहीं है, 'फैशन की घुड़दौड़', 'तितलियों की सभा' कहानियाँ भी शिथिल हैं। कुछ कहानियाँ निरी वर्णन-मात्र हैं। वास्तव में लेखिका की लेखनी अभी पूरी तरह मँज नहीं सकी, वह अभी विकास के रास्ते पर है, उसमें क्षमता है, यह बात भी इन कहानियों से प्रकट हो जाती है।

भाषा-सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ भी हैं, व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी हैं, पर कम। डाली का चित्र खींचते समय, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, भाषा में 'उन्होंने', 'उनकी' आदि शब्दों का व्यवहार न होना चाहिए था, इनके स्थान पर 'उसने', 'उसकी' शब्दों को व्यवहृत होना चाहिए था। इन छोटी-मोटी कुछ त्रुटियों के अतिरिक्त, वैसे भाषा सरल, सतत् प्रवाहमयी, मुहावरेदार, स्पष्ट व सजीव है। लखनवीपन की छाप भी भाषा पर स्पष्ट झलकती है। पात्रोचित भाषा का स्वरूप विशेष दर्शनीय है।

'कौड़ियों का नाच' लेखिका का प्रथम कहानी-संग्रह है, इस कारण कहानियों में कुछ अपरिपक्वता होने पर भी लेखिका के प्रयत्न का स्वागत करना चाहिए, विशेषकर इसलिए कि लेखिका में भविष्य की सुन्दर सम्भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं। उसका यह संग्रह इस कथन का उदाहरण है। पुस्तक की छपाई, सफाई, गेट-अप आदि भी सुन्दर व आकर्षक हैं। मूल्य भी उचित है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में लेखिका अधिक प्रौढ़ और कलात्मक कहानियों के साथ अपनी सम्भावनाओं को सत्य करेगी।[1]

रामचन्द्र तिवारी

हिन्दी-रीति-साहित्य

हिन्दी का रीति-साहित्य अध्ययन और मूल्यांकन की दृष्टि से प्रायः उपेक्षित ही रहा है। द्विवेदी-युग की सुधारवादी प्रवृत्ति एवं संकीर्ण नैतिक दृष्टि ने हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी को इसके अध्ययन से विरत रखा। सामान्यतः यह मान लिया गया कि आधुनिक युग-चेतना के विकास में यह अध्ययन अस्वास्थ्यकर होगा। सभा की खोज-रिपोर्टों तथा मिश्रबन्धुओं के बृहद्

१. लेखिका—सरूपकुमारी बख्शी; प्रकाशक—रंजना प्रकाशन, लखनऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास के माध्यम से रीतिकालीन प्रचुर साहित्य प्रकाश में तो आया, किन्तु सन्तुलित दृष्टि से उसका मूल्यांकन प्रायः नहीं ही हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदास के उदार दृष्टिकोण तथा आचार्य शुक्ल की सामञ्जस्यमयी न्यायनिष्ठ दृष्टि ने इसके मूल्यांकन की परम्परा को आगे बढ़ाया। देव और बिहारी के झगड़े ने भी रीति-साहित्य का कम उपकार नहीं किया। कम-से-कम, लोगों की दृष्टि इस ओर मुड़ी और वे इसे क्षण-भर रुककर देखने को विवश हुए। डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत 'रीति-साहित्य की भूमिका' महाकवि देव की ही पृष्ठभूमि बनकर नहीं आई, उसने रीति-साहित्य के अध्ययन की विस्तृत पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत की। आचार्य विश्वनाथ मिश्र द्वारा प्रस्तुत घनानन्द, बिहारी तथा अन्य रीतियुक्त और रीतिमुक्त कवियों से सम्बद्ध मौलिक सामग्री ने इस साहित्य के प्रति हमारी उदासीनता दूर की। पं० परशुराम चतुर्वेदी का 'नव निबन्ध' और डॉक्टर राजेश्वर चतुर्वेदी का 'श्रृंगार-रस-विवेचन' तथा इस प्रकार के अन्य छोटे-बड़े प्रयासों ने रीति-साहित्य के अध्ययन को जीवित रखा है। लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए प्रस्तुत पं० ब्रजकिशोर मिश्र का 'रीतिकालीन अवध के कवि' शोध-निबन्ध अभी प्रकाश में नहीं आया है। निश्चय ही यह अध्ययन इस युग के बहुत से कवियों तथा प्रधान प्रवृत्तियों के विषय में नवीन सामग्री उपस्थित करेगा। डॉ० भगीरथ मिश्र का प्रस्तुत अध्ययन उपर्युक्त समस्त सामग्री को आत्मसात् कर हिन्दी-रीति-साहित्य के सन्तुलित मूल्यांकन का नवीनतम सफल प्रयास है।

डॉ० मिश्र ने हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करते समय रीतिकालीन सम्बन्धी साहित्य को भली भांति परखा था। तब से बराबर इस सम्बन्ध में सोचने और अध्ययन को आगे बढ़ाने का अवसर उन्हें मिलता रहा है। प्रस्तुत अनुशीलन इसी चिन्तन और अध्ययन का परिणाम है। इस कृति में उन्नीस पृष्ठों की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत लोकभाषा की परम्परा, रीति-साहित्य के विकास के कारणों तथा राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है। परिस्थितियों के अध्ययन की विशेषता यह है कि उनका सीधा सम्बन्ध रीति-साहित्य की प्रवृत्तियों से दिखाया गया है। परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से खिंची-तनी नहीं हैं। इतिहास-ग्रन्थों से प्रमाण उपस्थित करते समय डॉ० ईश्वरीप्रसाद के इतिहास से ही बार-बार उद्धरण देना थोड़ा खटकता है। इस सम्बन्ध में—'Life and Condition of the People of Hindustan'—कुँअर अशरफ की कृति का भी आधार लिया गया होता तो अच्छा ही था। यद्यपि अशरफ महोदय का अध्ययन १५५६ ई० तक ही सीमित है, किन्तु जीवन-प्रणाली का स्रोत आगे भी लगभग उसी स्थिति में बहता आया है। इसी पृष्ठभूमि के अन्तर्गत रीतिकालीन जीवन के ऐहिक पक्ष पर प्रस्तुत सामग्री रोचक और नवीन है।

इस अध्ययन की तीन अन्य प्रमुख विशेषताएँ लक्षित की जा सकती हैं—

(क) हिन्दी-रीति-साहित्य में भी 'अलंकार', 'ध्वनि', 'रस' और 'रीति' सम्प्रदायों की स्थिति का अवलोकन।

(ख) पूर्व-परम्परा के रूप में संस्कृत के उपर्युक्त सम्प्रदायों का संक्षिप्त किन्तु सचेष्ट परिचय।

(ग) अन्त में रीति-काव्य-सग्रह के रूप में सुरुचिपूर्ण छन्दों का सग्रह।

हिन्दी में अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत लेखक ने 'केशव', 'जसवन्तसिंह', 'मतिराम', 'भूषण', 'गोप', 'रसिक सुमति', 'गोविन्द', 'दूलह', 'वैरीलाल', 'गोकुलनाथ', 'पद्माकर' आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्यों को स्थान दिया है। आधुनिक युग के आलंकारिकों में लछिराम, कविराजा मुरारीदान, कन्हैयालाल पोद्दार, लाला भगवानदीन, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', अर्जुनदास केडिया और मिश्रबन्धुओं की कृतियों पर विचार किया गया है।

हिन्दी **रस-सम्प्रदाय** के अन्तर्गत सुन्दर कवि, चिन्तामणि, तोष, मतिराम, कुमारमणि भट्ट, रसलीन, भिखारीदास, रूपसाहि, उजियारे, यशवन्तसिंह, रामसिंह, पद्माकर, रसिक गोविन्द, बेनी प्रवीन, ग्वाल, लछिराम, प्रतापनारायणसिंह, हरिऔध और बिहारीलाल भट्ट आदि आचार्यों की कृतियों को स्थान दिया गया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कुलपति मिश्र, देव, सूरति मिश्र, कुमारमणि भट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि, लछिराम, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और पं० रामदहिन मिश्र की कृतियों को स्थान दिया गया है।

रीति-सम्प्रदाय में रहीम, सेनापति, बिहारी, मतिराम, देव, घनानन्द, भिखारीदास, रसलीन, बेनी प्रवीन, पद्माकर, आदि की गणना की गई है।

जहाँ तक नवीनता का प्रश्न है, निस्सन्देह हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों की मान्यताओं में संस्कृत साहित्य में प्रवर्तित विविध सम्प्रदायों की छाया ढूँढ़कर उनका भी शास्त्रीय-साम्प्रदायिक वर्गीकरण हिन्दी-साहित्य में पहली बार किया गया है, किन्तु इसमें थोड़ी गड़बड़ी या असुविधा भी (पाठकों की दृष्टि से अधिक) सम्भावित है। निश्चित है कि हिन्दी-साहित्य के अधिकांश आचार्य न तो किसी विशेष शास्त्रीय सम्प्रदाय की स्थापना करना चाहते थे और न अपने को उस सीमा में बाँधना ही चाहते हैं। अतः इस प्रकार की सम्प्रदाय-स्थापना में एक ही आचार्य को दो या तीन सम्प्रदायों में समाहित करना पड़ा है।

इस अध्ययन में रीतिकालीन स्वच्छन्द कवियों के साथ भी थोड़ा अन्याय हुआ है। घनानन्दजी के जो कवित्त **"सुछन्द सदा रहै"** वे रीति की शृंखलाओं में बँधकर अपनी विवशता दिखा रहे हैं। यह ठीक है कि रीतिकालीन टीकाकारों ने उनके छन्दों में भी नायिकाओं को ढूढ़कर खड़ा कर दिया है, किन्तु उनकी मूल प्रवृत्ति स्वच्छन्दता की ओर ही है। वैसे तो सभी युगों में कवि किसी-न-किसी रीति का अनुसरण करने को बाध्य होता है। छायावादी कवि भी तो एक विशेष प्रकार की परिपाटी में बँधे रहे हैं।

यह होने पर भी डॉ० मिश्र की प्रस्तुत कृति निष्पक्ष, सन्तुलित, सचेष्ट और विश्वासपूर्ण मूल्यांकन की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकृत होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।[1]

---

१. लेखक—डॉ० भगीरथ मिश्र; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन प्राइवेट, लिमिटेड, बम्बई, दिल्ली, इलाहाबाद, पटना, मद्रास; पृष्ठ-संख्या १७१; मूल्य ४)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मीरमण वार्ष्णेय

पद्मसिंह शर्मा के पत्र

विद्यार्थी-जीवन में एक बार आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा के दर्शन हुए थे। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी और पं० हरिशंकरजी शर्मा द्वारा सम्पादित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' पढ़कर उनकी मूर्ति फिर सजीव हो उठी। यह इस पुस्तक की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

किसी लेखक या कवि की कृति का उसके व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उसकी कला उसके व्यक्तित्व की प्रतिमूर्ति होती है। इसीलिए उसकी रचनाओं का भलीभाँति अध्ययन करने के लिए उसके जीवन और उन अन्य बातों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है जिनसे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। उसकी प्रकाशित रचना से उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती अवश्य हैं, किन्तु उसके प्रकृत स्वरूप के जानने का अवसर प्राप्त नहीं होता। उसके जीवन और फलतः रचनाओं की छोटी-बड़ी सभी सन्धियाँ जानने के लिए पत्र मूलाधार का काम देते हैं। इन्हीं सन्धियों पर उसका सामाजिक रूप आधारित रहता है। सामाजिक जीवन में कवि या लेखक को दुराव-छिपाव भी करना पड़ता है, कहीं-कहीं उसे मौन भी धारण करना पड़ता है। पत्रों में उसका वास्तविक व्यक्तित्व प्रकट होता है। इसलिए यदि किसी रचना का अध्ययन करने के लिए उसके रचयिता के जीवन का अध्ययन करना जरूरी है, तो जीवन को वास्तविक रूप में जानने के लिए कृपापात्रों, मित्रों, पाठकों, विश्वस्त व्यक्तियों आदि को लिखे गए पत्रों से उसके मन के कोने-कोने में झाँकने का अवसर मिल जाता है। इससे साहित्य का अध्ययन व्यक्तित्व के अध्ययन के साथ-साथ होता चलता है। साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से, फलतः, पत्रों का विशेष महत्त्व है।

खेद की बात है कि साहित्य के इतने उपयोगी अंग की हिन्दी में उपेक्षा होती रही है। जीवनी-साहित्य और पत्र-साहित्य की दृष्टि से हिन्दी-भाषा आज भी बहुत समृद्ध नहीं कही जा सकती। अनेक महापुरुषों की जीवन-गाथाएँ तो विस्मृति के महान्धकार में विलीन हो ही चुकी हैं। पत्रों को सुरक्षित रखने वाले लोगों का भी हमारे समाज में कुछ अभाव-सा मिलता है। जैसा कि पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने अपनी सुन्दर भूमिका में कहा है, **"पत्र लिखना भी एक नशा है और पत्र-संग्रह करना भी एक नशा है। यह नशा जितने अधिक लोगों में हो उतना ही अच्छा है।"**

यूरोप में जीवनी-लेखकों तथा साहित्य के विद्यार्थियों ने पत्रों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है और अनेक प्रसिद्ध साहित्यिकों तथा महापुरुषों के पत्र-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। बायरन, कीट्स, मार्क्स, ऐंगल्स, स्टीवेंसन, तुर्गनेव, टॉल्स्टाय, जॉन्सन आदि महापुरुषों के विचारों का मूल तत्त्व समझने के लिए उनके पत्रों से विशेष सहायता मिलती है। पत्रों का अध्ययन करने से हम उनकी कला-विभूति और आत्मा की महत्ता का पता लगाने में समर्थ होते हैं, उनके जीवन की अच्छाइयों और कमजोरियों द्वारा उनका मानव-रूप समझने में सहायता प्राप्त करते हैं। उर्दू और बंगला में भी पत्र-साहित्य काफ़ी प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी में इस दिशा में जितना कार्य होना चाहिए था उतना तो अभी नहीं हुआ, किन्तु यह सन्तोष की बात है कि अब कुछ महानुभावों का ध्यान इस ओर गया है। आशा है उनसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेरणा ग्रहण कर इस कार्य के बढ़ाने में अन्य सज्जन भी प्रवृत्त होंगे। जिन थोड़े-से महानुभावों का ध्यान इस ओर गया भी है उनके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

हिन्दी में अभी तक जिन साहित्यिकों के पत्रों का संग्रह करने की ओर सबसे अधिक प्रयास किया गया है और किया जा रहा है, उनमें स्वर्गीय आचार्य द्विवेदीजी और आचार्य पद्मसिंहजी शर्मा प्रमुख हैं—यद्यपि पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी तथा पं० हरिशंकरजी शर्मा ने कुछ अन्य पत्र-संग्रहों का भी उल्लेख किया है। हाल ही में 'द्विवेदी पत्रावली' शीर्षक के अन्तर्गत उनके पत्रों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' शीर्षक संग्रह दूसरा महत्त्वपूर्ण संग्रह है। वास्तव में शर्माजी के पत्र कला की दृष्टि से आदर्श पत्र हैं। उनका व्यक्तित्व विविधता-सम्पन्न था। अपने समय के साहित्य-निर्माण में उनका पूरा योग था। उनके पत्र पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पद्मसिंहजी केवल प्रकाण्ड पण्डित ही नहीं थे, वरन् उनमें व्यवहार-बुद्धि, साहस, निर्भीकता, विचारों की दृढ़ता और स्वाभिमान था और, सर्वोपरि, उनका मानव-रूप इन पत्रों से भलीभाँति विदित हो जाता है। भाषा, व्याकरण, रचनादर्श और साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से उनके पत्रों में उनकी सरल-स्वाभाविक, किन्तु शक्ति-सम्पन्न और घरेलू शैली के दर्शन होते हैं। संग्रह में सर्वश्री पारसनाथसिंह, वियोगी हरि, हरिशंकर शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, हरिदत्त शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, भीमसेन शर्मा, श्यामसुन्दरदास खत्री, मोहनलाल महतो 'वियोगी', कुँवर सुरेशसिंह, नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' आदि को लिखे गए पत्र हैं। परिशिष्ट में पं० श्रीराम शर्मा, प्रेमचन्द, अकबर इलाहाबादी और राजेन्द्रप्रसाद द्वारा व्यक्त पद्मसिंहजी के सम्बन्ध में विचारों का संकलन है। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी और पं० हरिशंकरजी शर्मा का पद्मसिंहजी से घनिष्ठ सम्पर्क था। ऐसे उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा इस ग्रन्थ का सम्पादन होने से उसका मूल्य और भी अधिक हो गया है। कुछ पत्रों के फ़ोटो दे देने से ग्रन्थ हस्त-लिपि-विशारदों के लिए भी उपयोगी बन गया है। पाद-टिप्पणियाँ देकर सम्पादक-द्वय ने और भी अच्छा काम किया है।

लगभग प्रत्येक पत्र से पद्मसिंहजी की जिंदादिली तो टपकती ही है, उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी अनेक आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। पद्मसिंह शर्मा-टाइप के लोग तो अब साहित्य-क्षेत्र में मिलते नहीं। उनके पत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रत्येक घड़ी साहित्य-रस में डूबे रहते थे। गन्ने उगाने या बीमारी की बात तक कहने में उन्होंने साहित्यिकता प्रदर्शित की है। उनके इन पत्रों में वह सजीवता तथा गुण हैं जिनके लिए वे साहित्य में प्रसिद्ध हैं। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी को लिखते हुए एक पत्र में उन्होंने लिखा है—"**मैंने इसमें कुछ ऐसे लेखकों पर प्रकाश डाला है जो दलबन्दी की आँधी के कारण छिपे हुए हैं। जिन लोगों ने कन्वेसिंग, प्रोपेगेण्डा या दलबन्दी के सबब अपना सिक्का बिठा रखा है उन्हींका गुणगान होता है। चुपचाप काम करने वालों को कोई नहीं पूछता।···बात 'घणी चोखी' बावन तोले पाव रत्ती—यानी बिल्कुल सही और सच है। फिर 'उछलती-कूदती' भाषा का लाजवाब जवाब भी है। उस उछलती-कूदती भाषा की बात को उस वृथा पुष्ट पोथे से लेकर पोथे वाले चेलों ने कई पुस्तकों को दोहराया है—'शृगाल रोदन-न्याय' का परिचय दिया है—इसलिए इसकी और भी ज़रूरत थी, आप ही कहिए, थी या नहीं ? मैं**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो समझता हूँ—थी, और जरूर थी, आपने तो प्रोपेगेण्डा-अस्त्र माँज-मूँजकर फिर मोथरा कर दिया, सोडावाटर का उबाल आकर रह गया, पर मैं इस अनर्थ और अत्याचार को यों चुपचाप सह लेना नितान्त अनुचित समझता हूँ।....'' इससे उनका अन्याय के प्रति रोष, सचाई और निर्भीकता का परिचय मिलता है। उनके सहानुभूतिपूर्ण हृदय का प्रमाण देखिए—"....ऐसी घटनाएँ बड़ी हृदय-विदारक होती हैं। जीवन को भारभूत बना देती हैं। उर्दू के एक कवि ने सच ही कहा है—

हरनफ़स आह और अनफ़ास पै जीने का मदार,
जिन्दगी आहे-मुसलसल् के सिवा कुछ भी नहीं।

जीना क्या है, दुःखों का भार ढोना है, जो ढोना ही पड़ता है, लाचारी है। उर्दू-हिन्दी के साहित्य-सेवियों की सच्ची जीवनी लिखी जाय, तो दुःख-गाथाओं का एक भारी पोथा बन जाय। ग़ालिब और अकबर यही रोना रोते-रोते मर गए। शंकरजी और द्विवेदीजी (स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी) का भी यही हाल है।....कौटुम्बिक व्याधियों से व्यथित हैं। भगवान् यम के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं। पढ़कर जी भर आया। साहित्य-सेवियों की जीवनी में दुःख-ही-दुःख भरा है।...'' पद्मसिंहजी के द्रवीभूत हृदय और उनकी मानसिक दशा बताने वाली ये पंक्तियाँ उनके मानव-रूप की घोषणा करती हैं। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण इस संग्रह से दिये जा सकते हैं जो पद्मसिंहजी के पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं। उनकी साफ़गोई, दिखावट से घृणा, दम्भ से अरुचि, आत्मगौरव, निर्भीकता, आदर्श-पालन, साहित्य-सेवा, बहुज्ञता, भाषाधिकार आदि अनेक बातों का इन पत्रों से पता लगता है। उनके लिए यह कहा गया है कि सरस्वती की रक्षा के लिए तो वे 'बरतना शमशेर' थे। प्रस्तुत पत्र-संग्रह से इस कथन की सार्थकता पूर्णतः प्रमाणित होती है। उनका मानव-रूप और साहित्यिक रूप दोनों ही उनके पत्रों में भलीभांति प्रतिबिंबित हैं। इसीलिए यह पत्र-संग्रह सार्थक, सफल और उपयोगी है। ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के लिए सम्पादक-द्वय धन्यवाद के पात्र हैं।[1]

●

भोलानाथ तिवारी

पुरानी राजस्थानी

इटली के सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० एल० पी० तेस्सितोरी का 'Notes on the Grammar of the old western Rajasthani with special reference to Apabhramsa and Gujarati and Marwari' शीर्षक प्रसिद्ध शोधपूर्ण निबन्ध 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी' में धारावाहिक रूप से १६१४, '१५ तथा '१६ के कुछ अंकों में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक उसी निबन्ध का डॉ० नामवरसिंह द्वारा किया हुआ हिन्दी-अनुवाद है। डॉ० तेस्सितोरी के इस निबन्ध के महत्त्व के संबंध में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं—

"राजस्थानीविद् स्व० एल० पी० तेस्सितोरी ने 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' पत्रिका के

1. सम्पादक—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और पं० हरीशंकर शर्मा; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-६; १६५६; मूल्य ६); पृ० सं० २५१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

अंकों में जो मूल्यवान् गवेषणा सम्पूर्ण की थी, उससे राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला गया है।....पुरानी राजस्थानी उच्चारण-रीति, रूप-तत्त्व और वाक्य-रीति के पूरे विचार के साथ तेस्सितोरी की आलोचना ऐसी महत्त्वपूर्ण है कि इसे राजस्थानी तथा गुजराती भाषा-तत्त्व की बुनियाद यदि कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी।[१]

राजस्थानी तथा गुजराती के लिए तो यह निबन्ध महत्वपूर्ण है ही, साथ ही किसी भारतीय भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण प्रस्तुत करने का भी यह प्रथम प्रयास है और इस रूप में एक दिशा का यह प्रथम निर्देशक ग्रन्थ है।

यह निबन्ध एक तो अंग्रेज़ी में था और दूसरे एक पुस्तक रूप में न होकर इंडियन ऐंटीक्वेरी के कई अंकों में बिखरा पड़ा था, अतएव हिन्दी के अध्येता सरलतापूर्वक इतनी महत्त्वपूर्ण सामग्री का समुचित उपयोग नहीं कर पाते थे। डॉ० सिंह ने इसका अनुवाद करके तथा नागरी प्रचारिणी सभा ने इसे प्रकाशित करके हिन्दी वालों का बड़ा उपकार किया है।

ग्रन्थकार की प्रस्तावना के अतिरिक्त मूल पुस्तक १० अध्यायों में विभक्त हैं, जिनके शीर्षक क्रम से भूमिका, ध्वनि-विचार, संज्ञा-शब्द-रूप, विशेषण, संख्यावाचक विशेषण, सर्वनाम, क्रियाविशेषण, समुच्चय-बोधक, क्रिया तथा रचनात्मक प्रत्यय हैं। अंत में एक परिशिष्ट में 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी रचनाओं से संकलित उदाहरण' हैं। पुस्तक के आरम्भ में डॉ० तेस्सितोरी का संक्षिप्त जीवन-परिचय तथा उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों की सूची है। उसके पूर्व अनुवादक की विज्ञप्ति है, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त पुस्तक के महत्त्व पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

लेखक के शब्दों में यह निबन्ध 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी के व्याकरण पर नोट' मात्र है, पर जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, यह राजस्थानी का ऐतिहासिक व्याकरण है, साथ ही जैसा कि डॉ० सिंह ने भी अपनी विज्ञप्ति में कहा है, यह पुरानी पश्चिमी राजस्थानी द्वारा अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की उस खोई हुई कड़ी के पुनर्निर्माण का प्रयत्न है, जिसके बिना किसी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का ऐतिहासिक व्याकरण लिखा ही नहीं जा सकता।

अनुवाद की भाषा स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण तथा मूलभावों की रक्षा में पूर्ण समर्थ है।

हिन्दी में व्याकरण के संज्ञा, सर्वनाम आदि सामान्य शब्दों को छोड़कर, जो हमें संस्कृत भाषा से रिक्थ के रूप में मिले हैं, भाषा के अध्ययन के लिए आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली में, जिनका आधार यूरोपीय भाषाएँ हैं, एकरूपता का सर्वथा अभाव है। उदाहरणार्थ 'Inflectional' शब्द लें। इसके लिए हिन्दी में विभक्तियुक्त, मिलन्त, धातुरूपात्मक, शिलष्टयोगात्मक, विभक्ति-प्रधान, संस्कार-प्रधान, विकृति-प्रधान तथा श्लिष्ट आदि लगभग आधे दर्जन से अधिक शब्दों का प्रयोग चल रहा है। इस अव्यवस्था के कारण सामान्य पाठक ही नहीं, अपितु भाषा-शास्त्रियों के लिए भी कहीं-कहीं लेखकों के मन्तव्य समझने में कठिनाई होती है। डॉ० सिंह के सामने भी अनुवाद करते समय इस प्रकार की कठिनाई रही होगी। उन्होंने कुछ तो पुराने लोगों द्वारा गढ़े शब्दों का प्रयोग किया है और कुछ स्वयं भी गढ़ लिये हैं। लगता है कि शब्दों का यह गढ़ा जाना अनुवाद के साथ ही चलता रहा है और अनुवाद-कार्य करने

१. 'राजस्थानी भाषा', डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, उदयपुर, १९४९, पृ० ७-८।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पूर्व या बाद में उन पर एकरूपता की दृष्टि नहीं दौड़ाई गई है। यदि अनुवाद में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द पहले स्थिर कर लिये गए होते तो एक ही अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्द के लिए कहीं किसी और कहीं हिन्दी पारिभाषिक शब्द को प्रयुक्त करने की स्थिति का सामना न करना पड़ता। इन नये-नये प्रयुक्त शब्दों में कुछ शब्द (जैसे Illative के लिए 'परिणामबोधक' तथा 'निष्कर्षवाचक') प्रायः एकसे ही हैं, पर पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार के अंतर भी न रहने देना स्थिरीकरण की दृष्टि से प्रायः अच्छा होता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, डॉ० सिंह ने कुछ अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी-प्रतिशब्द गढ़ लिये हैं, पर कई स्थलों पर संभवतः शब्दों को गढ़ने की कठिनाई के कारण ही उन्होंने अंग्रेज़ी शब्दों के ही प्रयोग कर दिए हैं। इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं—

१. स्वरों के बीच ज व्यंजन की शक्ति खो देता है और जैन प्राकृत की य-श्रुति की तरह Euphonic तत्त्व के रूप में प्रयुक्त होता है।[1]

२. Precative बहुवचन के पदान्त में ज्ज विकल्प से सरल होकर ज्य हो जाता है।[2]

३. कुछ और अधिक ज़ोर देने के लिए करणकारक संज्ञाओं में यौगिक appendage की तरह जोड़ दिया जाता है।[3]

४. मारवाड़ी में हमें परो, वरो, रो विशेषणों का उपयोग करके एक प्रकार के Verbal intensives बनाने के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

५. ध्यान देने योग्य है कि कविता में ए प्रथमपुरुष सर्वनाम में सभी कारकों में मात्रा की दृष्टि से anceps है।

६. यह क्रिया के पहले Proclitically रखा जाता है।

इतने परिश्रम से डॉ० सिंह ने इस पुस्तक का अनुवाद, सफल अनुवाद, किया है और काफी शब्दों के पर्यायों का निर्माण किया है। ऐसी स्थिति में यदि थोड़ा और श्रम और समय देकर इन अंग्रेज़ी शब्दों को भी, जो संख्या में एक दर्जन से अधिक नहीं हैं, हिन्दी-रूप दे दिया गया होता तो अनुवाद और भी पूर्ण हो जाता। यह स्खलन संभवतः जल्दी करने के कारण हो गया है, क्योंकि संभवतः इनमें से कुछ शब्दों के हिन्दी-पर्यायों का प्रयोग इसी अनुवाद में अन्यत्र हुआ है।

पुस्तक के अंत में इसमें आए राजस्थानी शब्दों की यदि एक अनुक्रमणी दे दी गई होती तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती।

कहीं-कहीं प्रूफ़ की कुछ साधारण अशुद्धियाँ हैं। पृष्ठ १६-१७ पर ६ पंक्तियाँ दो बार छप गई हैं। पर ये सब नगण्य हैं।

ऊपर दिये गए सामान्य स्खलनों के बावजूद पुस्तक का अनुवाद सुन्दर, प्रकाशन सुरुचिपूर्ण और छपाई सुन्दर तथा शुद्ध है। अनुवादक तथा प्रकाशक दोनों हिन्दी-संसार की बधाई के पात्र हैं।[4]

१. पृ० ३४ २. पृ० ४२ ३. पृ० ६१
४. 'पुरानी राजस्थानी', लेखक—डॉ० एल० पी० तेसितोरी; अनु०—प्रो० नामवरसिंह; प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवकुमार मिश्र

बेकसी का मज़ार

'बेकसी का मज़ार' हिन्दी के जाने-माने कथाकार, 'विदा', 'विकास', 'बयालीस', 'विसर्जन' आदि उपन्यासों के रचयिता, मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव की नवीनतम कृति है। इस कृति में मुन्शीजी ने अपने अन्य उपन्यासों से भिन्न एक ऐतिहासिक कथानक को अपनी लेखनी का आधार बनाया है और वह कथानक भी ऐसा जो अतीत का होते हुए भी, आज भी हमारे लिए उतना ही ताज़ा और नया है, जितना तब था—और वह ऐतिहासिक कथानक है—भारत के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम का कथानक, सन् १८५७ की जन-क्रान्ति का कथानक; एक ऐसे व्यक्तित्व से सम्बन्धित जो एक साथ बादशाह, दार्शनिक, कवि सभी कुछ था, अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे पुत्रों व पौत्र के कटे हुए सिर को देखकर भी (जिन्हें अंग्रेजों ने उसके पास भेजा था) अत्यन्त धैर्य और मुख पर अपूर्व शान्ति धारण कर जिसने केवल इतना ही कहा था—

"अल्लाह-मद-लिल्लाह ! तैमूर की औलाद ऐसी ही सुर्खरू होकर बाप के सामने आया करती थी।"[1] हमारा इशारा मुग़ल वंश के आखिरी चिराग़ बहादुरशाह शाह 'जफ़र' की ओर है, जो सन् १८५७ में अपनी धूमिल किन्तु ऐसी ज्योति के लिए जल रहा था जिसने आज़ादी के दीवाने अगणित पतंगों को अपने ऊपर जलकर भस्म हो जाने के लिए प्रेरित किया और बाद को स्वयं भी बुझ गया, पर भारतीयों के हृदय में ऐसी यादगार छोड़कर, ऐसी निष्ठा और कर्मण्यता फूँककर, जिसका परिणाम १५ अगस्त सन १९४७ को भारत-वर्ष की पूर्ण स्वाधीनता में प्रकट हुआ।

ऐसे ही इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तित्व और उससे सम्बन्धित सन् १८५७ की लोमहर्षक, भयावनी और अधिकांशतः सत्य घटनाओं को लेकर उपरोक्त उपन्यास की, जो डिमाई आकार के ५५२ पृष्ठों का है और अपने मूल्य के रूप में पूरे दस रुपयों की माँग करता है (जो औसत पाठकों के लिए शायद बहुत अधिक है), रचना हुई है।

सबसे पूर्व हम इस भ्रम को मिटा देना चाहते हैं कि जब उपन्यास सन् १८५७ की घटनाओं व बहादुरशाह से सम्बन्धित है तो उसका नाम 'बेकसी का मज़ार' क्यों रखा गया ? इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन है कि सन् १८५७ की जन-क्रान्ति की घोर असफलता एक बेकसी का मज़ार ही कही जा सकती है, दूसरे 'बेकसी का मज़ार' शीर्षक बहादुरशाह ही की एक सुन्दर नज़्म की अन्तिम पंक्तियों से सम्बन्ध रखता है जो अपने भावों में जितनी सुन्दर है, बहादुरशाह के तत्कालीन व्यक्तित्व को उभारने में भी उतनी ही सफल

१. His animal passions not satisfied, their heads were severed from their bodies and presented to Bahadurshah on which the aged Emperor with unimaginable calmness remarked :—
Allah-mad-lillah,………………" (History of Modern India—Dr. Ishwari Prasad and S. K. Subedar, Page 262). **उपन्यासकार ने उपन्यास में इस समय बहादुरशाह को अचेत होता हुआ दिखाया है जो कदाचित् ठीक नहीं है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाई। बहादुरशाह 'जफर' की उस नज़्म की आखिरी पंक्तियाँ यों हैं—

> कोई मुझ पै फूल चढ़ाये क्यों, कोई लाके शमा जलाये क्यों,
> कोई मुझ पै अश्क बहाये क्यों, कि मैं बेकसी का मज़ार हूँ।

उपन्यास का अन्त भी इन्हीं पंक्तियों से होता है, अतएव जहाँ तक उपन्यास के शीर्षक के औचित्य का प्रश्न है, हम उससे सहमत हैं।

अब उपन्यास की कथावस्तु को लीजिए, उपन्यास का लेखक जिस तत्त्व को उपन्यास के अन्य सारे तत्त्वों से अधिक महत्त्व देता है। ५५२ पृष्ठों के इस वृहत् उपन्यास में कथानक का ढाँचा काफी व्यापक घटनाओं के आधार पर निर्मित किया गया है। १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम वैसे ही अपने भीतर अगणित घटनाओं को आत्मसात् किये है, उन घटनाओं का एक विशेष व्यक्ति के साथ तारतम्य जोड़कर, ऐसे कथानक का ढाँचा निर्मित करना जो एक साथ ही उस व्यक्ति के विषय में भी सब-कुछ स्पष्ट कर दे, साथ ही स्वाधीनता-संग्राम की भी व्यापक झलक प्रस्तुत करे और फिर आकर्षक व रोचक भी हो—काफी परिश्रम-साध्य कार्य है। यही कारण है कि यद्यपि उपन्यासकार को मस्तिष्क में कथानक का ढाँचा निर्मित करने में पाँच-छः वर्ष का समय लगा, फिर भी वह विभिन्न ऐतिहासिक व काल्पनिक घटनाओं की सुसंगठित व सम्यक् योजना करने में पूर्णरूपेण सफल नहीं हो पाया, हाँ उसने इतनी सफलता अवश्य प्राप्त की है कि पाठक इस वृहत् उपन्यास को एकबारगी ही आखिर तक पढ़ जाता है। यह सफलता कुछ कम नहीं है। असफल उपन्यासकार इस अर्थ में हुआ कि जिस महत्त्वपूर्ण व्यक्ति-विशेष को उसने कथावस्तु का प्रमुख केन्द्र बनाना चाहा है, उसका न तो चरित्र ही पूरी तरह उभर पाया है और न उससे सम्बन्धित सारी घटनाएँ ही आ सकी हैं, केवल उनकी झलक मात्र मिलती गई है जो पर्याप्त नहीं है। बहादुरशाह के स्थान पर उपन्यास सन् १८५७ की क्रान्ति की ही गाथा बन गया है। क्रान्ति की योजना किस प्रकार हुई, किस प्रकार वह प्रारम्भ होकर असफल हुई, उपन्यास में प्रमुख रूप से यही वर्णित है। क्रान्ति की घटनाओं ने बहादुरशाह से सम्बन्धित घटनाओं को बिलकुल दबा दिया है। बहादुरशाह के भाग्य-निर्णय के पश्चात् की घटनाएँ अवश्य छोड़ दी गई हैं, पर इससे हमारे उपरोक्त कथन में कोई अन्तर नहीं आता। घटनाएँ अधिकांशतः देश-भर की क्रान्ति से ही सम्बन्धित हैं, न बहादुरशाह से और न दिल्ली से ही, जैसा कि उनको होना चाहिए था। इस प्रसंग में हम श्री वृन्दावनलाल वर्मा के 'झाँसी की रानी' उपन्यास की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिसमें सारी घटनाएँ रानी व प्रमुखतः झाँसी से सम्बन्धित हैं और यही कारण है कि 'झाँसी की रानी' एक सफल कृति बन सकी, पर प्रस्तुत उपन्यास के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। कथानक की घटनाओं का दिल्ली से सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने वाला केवल एक व्यक्ति है—शाह हसन अस्करी जो बहादुरशाह का निजी व विश्वासपात्र है, जो देश-भर में घूम-घूमकर क्रान्ति की आग सुलगाता है, देश-भर के विद्रोही नेताओं को बहादुरशाह के झण्डे के नीचे एकत्र करता है, पर हमारे विचार से शाह हसन अस्करी के ये कार्य भी हमारी पूर्व-कथित बात को नहीं मिटाते। हाँ, शाह हसन अस्करी अपने इन कार्यों से स्वयं उपन्यास के सर्वप्रमुख पुरुष-पात्र बन जाते हैं और इस प्रकार बहादुरशाह को पीछे ढकेलकर स्वयं उपन्यास का नायक बनने का claim (हक़) उपस्थित कर देते हैं और जो उचित भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त घटनाओं की अधिकता के कारण उनका तारतम्य भी अनेक स्थानों पर विशृङ्खलित-सा हो गया है, जिसे सँभालने के लिए उपन्यासकार को इतिहास से काफ़ी मुँह मोड़कर कल्पना का आश्रय लेना पड़ा है जो एक ऐतिहासिक उपन्यास के लिए, विशेषकर ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास के लिए, जिसकी घटनाओं को घटे अभी बहुत समय नहीं गुज़रा, जो आज भी उतनी ही जीवन्त हैं—उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं की ऐतिहासिकता या काल्पनिकता भूलकर, उन्हें समग्र रूप से देखने पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि कथावस्तु का ढाँचा उपन्यास का कलेवर देखते हुए पर्याप्त गठा हुआ है, कम-से-कम अन्त तक उसमें आकर्षण, भरपूर आकर्षण, विद्यमान है। पहली पंक्ति से जो कथा प्रारम्भ होती है वह अन्तिम पंक्ति तक पहुँचकर ही समाप्त होती है—भले ही उसे गतिशील रखने के लिए, उसके रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए कुछ अनगढ़, मनगढ़न्त व अस्वाभाविक घटनाओं का आश्रय लिया गया हो।

यहाँ 'अनगढ़', 'मनगढ़ंत', 'अस्वाभाविक' घटनाओं की चर्चा हो गई है, अतएव उसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। उपन्यासकार ने कथानक की योजना में ऐसी अनेक घटनाओं का आश्रय लिया है जो पूर्णतः कल्पित अथवा मनगढ़न्त हैं—शायद ऐसी घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाओं के बराबर या उनसे ज्यादा ही हों जैसा कि उपन्यासकार ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने 'निवेदन'[1] में स्वीकार भी किया है। यहाँ तक तो कोई बात नहीं, पर प्रश्न तब उठ खड़ा होता है जब हम उन कल्पित घटनाओं के बीच कतिपय ऐसी घटनाओं को देखते हैं जिनके कारण हमें उपरोक्त शब्द प्रयुक्त करने पड़े। वस्तुतः उपन्यास का कलेवर १५० पृष्ठों तक या उससे भी अधिक कम हो सकता था, यदि उपन्यासकार अनावश्यक चमत्कारिता के फेर में न पड़कर, 'चन्द्रकान्ता' व 'भूतनाथ'-सरीखे उपन्यासों के पाठकों के मनोरंजन का ख्याल न कर, घटनाओं की सृष्टि करता। पर उसने ऐसा न कर सभी प्रकार की रुचि वाले पाठकों के लिए भाँति-भाँति का 'बारह मसाला' जुटाने की कोशिश की, परिणामस्वरूप ही उपरोक्त दोष पैदा हुआ। इस प्रकार की घटनाएँ तो अनेक हैं, पर यहाँ हम दो-एक उन्हीं प्रमुख घटनाओं को लेते हैं जो या तो अनावश्यक रूप से अधिक पृष्ठ घेरती हैं, बाकी उपन्यास से जिनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, या उपन्यास के तत्वों को गलत रूप से प्रभावित कर कथानक की सृष्टि में व्याघात उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार की घटनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) बादशाह शाहजहाँ के खुफिया खजाने से सम्बन्धित घटना—इस घटना ने उपन्यास के ४० पृष्ठ घेरे हैं तथा इस खजाने की प्राप्ति में 'चन्द्रकान्ता' व 'भूतनाथ' सरीखे न जाने कितने 'तिलिस्म' टूटते हैं, सनसनीखेज़ व भयावने दृश्य सामने आते हैं, कौतूहल व भयमिश्रित वातावरण उत्पन्न होता है जबकि इस घटना का उपन्यास के शेष कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है, न यह खज़ाना ही किसी काम आता है। इस घटना ने उपन्यास के अनेक पृष्ठ तो घेरे ही, आज के साहित्यिक उपन्यासों में इस प्रकार की तिलिस्मी घटनाओं का कोई औचित्य भी नहीं है।

1. इसमें (उपन्यास में) कहानी को प्रधानता देकर इतिहास को गौण बनाया गया है और प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाओं को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें कहानी का अंग बनाने की चेष्टा की गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) अजीमुल्ला-गुलनार प्रेम-प्रसंग—इस घटना के औचित्य पर हमें कोई शिकायत नहीं है, केवल इसके अनावश्यक विस्तार से हम सहमत नहीं हैं, कारण इस प्रेम-प्रसंग का विशेष महत्त्व उपन्यास में नहीं दिखाई देता।

(३) गुल मुहम्मद व मातावदलसिंह की मृत्यु के पश्चात् का कथानक—वस्तुतः उपन्यास के इन दो पात्रों की मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो जाना था, पर कथा को अनावश्यक रूप से, केवल कुछ कौतूहलजनक वातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से, बढ़ाया गया है। इस विस्तार ने उपन्यास की ऐतिहासिकता पर भी आघात पहुँचाया है। लेखक ने अजीमुल्ला को उपन्यास के अन्त तक जीवित दिखाया है, जबकि इतिहासकारों के अनुसार वह लखनऊ के युद्ध में मारा गया था। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्तिम दृश्य मार्मिक व प्रभावशाली बन गया है, नहीं तो यह विस्तार बेहद खटकता।

(४) गुलशन का यौन-परिवर्तन—चौथी घटना, जिस पर हमारी गम्भीर आपत्ति है और वस्तुतः जो ही कथानक की सारी अनगढ़ता और कुरूपता का कारण है, गुलशन (बेगम ज़ीनत महल की सहेली, उपन्यास की सर्वप्रमुख नारीपात्र, क्रान्ति में अग्रणी) का यौन-परिवर्तन है। पता नहीं क्यों उपन्यासकार ने कथानक में ऐसी घटना को स्थान दिया। जिन-जिन लोगों ने उपन्यास पढ़ा है, इसी घटना की कुरूपता पर इशारा किया है। आधे उपन्यास तक तो गुलशन स्त्री रहती है, उसकी सुन्दरता व उसके आकर्षण का उपन्यासकार उल्लेख करता है, उसे उपन्यास की नायिका के रूप में आगे बढ़ाता है, पर आधे उपन्यास के पश्चात् यही गुलशन स्त्री न रहकर पुरुष बन जाती है और उसका नाम गुलमुहम्मद हो जाता है। अब यदि यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाय कि उपन्यास की नायिका कौन है, तो कोई रास्ता नहीं रह जाता। यह ठीक है कि उपन्यासकार काफी पहले से गुलशन के भावी यौन-परिवर्तन के संकेत देने आरम्भ कर देता है, जिससे अन्त तक पहुँचते-पहुँचते यह घटना आकस्मिक नहीं लगती, पर प्रश्न यह उठता है कि उसने ऐसा क्यों किया, अपने कथानक के साथ इस प्रकार का बेजा खिलवाड़ क्यों किया, किन आधारों पर किया, किस उद्देश्य से किया? एक ऐतिहासिक उपन्यास में यौन-परिवर्तन की बात दिखाना, उपन्यास की सर्वप्रमुख नारी-पात्र से उसका सम्बन्ध जोड़ना, घटनाओं के स्वाभाविक क्रम को यकायक मोड़ देना, कहाँ तक उचित और युक्तिसंगत है?

आज यदा-कदा यौन-परिवर्तन सम्बन्धी देश-विदेश के कुछ किस्से समाचारपत्रों में देख पड़ते हैं, पर केवल इन किस्सों के आधार पर एक ऐतिहासिक कथानक में इस प्रकार का परिवर्तन हमारे विचार से कतई उचित नहीं है। बातचीत के दौरान में उपन्यासकार ने इसे आधुनिक युग का प्रभाव स्वीकार किया है व यह तर्क भी दिया है कि आज इस प्रकार की घटनाएँ घटती हैं तो उस युग में भी घटती होंगी व छिपी रह जाती होंगी, पर केवल इस अनुमान पर ही उपन्यास में इतना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाना हमारे विचार से बिलकुल ठीक नहीं है। फिर यदि इस घटना की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता का प्रश्न छोड़ भी दिया जाय और एक घड़ी के लिए उपन्यासकार की ही बात मान ली जाय, तब प्रश्न उठता है कि उपन्यासकार के इस यौन-परिवर्वन से कौनसे उद्देश्य सिद्ध होते थे? प्रत्येक उपन्यासकार का अपने कथानक की छोटी-से-छोटी घटना की योजना करने में भी कोई-न-कोई उद्देश्य होता है, फिर किसी महत्त्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण घटना का जन्म तो निरुद्देश्य होता ही नहीं। यदि कोई उपन्यासकार महज चमत्कार-लोभ से ऐसा करता है तो यह उसकी अपरिपक्वता ही समझी जायगी। उपन्यास की साहित्यिकता का गला चमत्कारिता से दबवाने का प्रयत्न विरला उपन्यासकार ही कर सकता है, जैसा कि मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने किया है।

उपन्यासकार ने इस घटना के औचित्य को लेकर जो तर्क मुझे दिये और जो वस्तुतः हो सकते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) माताबदल सिंह (हिन्दू) व गुलशन (मुसलमान) के पारस्परिक विवाह की समस्या को टालना।

(२) बहादुरशाह के लड़कों के कातिल हाडसन को मारने की क्षमता का पुरुष में ही होना जबकि गुलशन स्त्री थी।

(३) मैनावती (नाना साहब की पालिता पुत्री) व गुलशन का प्रेम-प्रसंग, जो गुलशन को पुरुष बनाकर ही प्रदर्शित किया जा सकता था।

हम उपरोक्त तीनों तर्कों का क्रमशः उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

जहाँ तक पहले तर्क का प्रश्न है, हमारा इतना ही कहना है कि एक तो माताबदल-सिंह व गुलशन का प्रेम एकाङ्गी था; गुलशन माताबदलसिंह से प्रेम न करती थी वरन् उसे अपने प्रेम का भुलावा देकर उससे अपनी कार्यसिद्धि करना चाहती थी, जैसा कि उसके अनेक कथनों से प्रकट होता है।[1] दूसरे माताबदलसिंह जिस हद तक गुलशन के वश में हो गया था और जिस प्रकार उसके विवाह-प्रस्ताव को समझा-बुझाकर गुलशन ने आगे के लिए टाल दिया था, उसी प्रकार गुलशन उसे अन्त तक सँभाले रख सकती थी और अन्त में इस समस्या के उठने का कोई प्रश्न ही नहीं था, कारण उपन्यासकार को इन्हें मारना ही था। फिर यदि विवाह का प्रश्न भी उठता तो उसमें हिन्दू-मुसलिम प्रश्न को लेकर कोई बाधा न न खड़ी होती, कारण गुलशन के बिरादरी वालों ने सब जानकर भी इस बात को कोई महत्त्व न प्रदान किया था। शाह हसन अस्करी, जो गुलशन के पिता के समान थे, स्वयं इस प्रश्न को लेकर गुलशन के साथ मज़ाक किया करते थे[2] व गुलशन की बहन गुलनार भी सूबेदार माताबदलसिंह का नाम ले-लेकर गुलशन की चुटकियाँ लिया करती थीं।[3] अस्तु!

उपन्यासकार का उपरोक्त तर्क बहुत हल्का है। अब दूसरे तर्क पर आइये। दूसरे तर्क के उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि हाडसन की मृत्यु किसी दूसरे के हाथ से भी दिखाई जा सकती थी और यदि उपन्यासकार इस कारण कि हाडसन ने पहले गुलशन की बेइज्जती की थी, गुलशन के हाथों से ही उसे मरवाना चाहता था तो स्त्री-रूप में ही गुलशन से यह कार्य कराने में क्या बाधा या अस्वाभाविकता थी? बल्कि यह घटना तब और भी प्रभावशालिनी हो गई होती। यह बात मानने को जी नहीं करता कि पुरुष को मारने की क्षमता पुरुष में ही हो सकती थी। उपन्यासकार ने प्रारम्भ से ही गुलशन को एक वीर रमणी

१. पृष्ठ २८, शाह हसन अस्करी से बातचीत के दौरान में, पृष्ठ १२४ शाहसाहब से ही पुनः, आदि-आदि!

२. पृ० २८।

३. पृ० १२३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में प्रस्तुत किया है और ऐसी दशा में यदि वह हाडसन को युद्ध में परास्त कर उसे मारती तो कोई अस्वाभाविकता न उत्पन्न होती। भारतीय इतिहास इस प्रकार की नारियों से भरा पड़ा है, स्वयं १८५७ में ही रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ा दिए थे। क्या यह अस्वाभाविक था? फिर यदि उपन्यासकार के कहने से यह मान भी लिया जाय कि यह कार्य अस्वाभाविक लगता, तो यह अस्वाभाविकता हमें ग्राह्य होती वरन् उस अस्वाभाविकता के जो उसने गुलशन का यौन-परिवर्तन करके प्रदर्शित की है।

जहाँ तक तीसरे तर्क का प्रश्न है, इतना ही निवेदन है कि आखिर इस बात की कौन-सी आवश्यकता आ पड़ी थी कि मैनावती की ओर किसी का आकर्षण दिखाया ही जाय! फिर यदि दिखाना ही था तो कोई अन्य पुरुष पात्र इस कार्य के लिए मिल सकता था, गुलशन ही इसके लिए क्यों चुनी गई? स्त्री, स्त्री से प्रेम नहीं कर सकती इस कारण गुलशन को पुरुष बनाकर उसे मैनावती का प्रेमी बनाना—इस सारी खींचतान की क्या आवश्यकता थी? फिर ये सारी घटनाएँ, यहाँ तक कि माताबदलसिंह, गुलशन, मैनावती आदि पात्र भी कल्पित थे, और जब उपन्यासकार आसानी से स्वाभाविक मार्ग की ओर घटनाओं के प्रवाह को मोड़ सकता था, उस पर कोई बन्धन न था, तब उसने कथानक के साथ इतनी बेजा स्वतन्त्रता क्यों बरती! गुलशन का यौन-परिवर्तन 'बेकसी का मज़ार' की एक ऐसी घटना है जो उसकी आधी सुन्दरता की हत्या कर देती है, उससे उपन्यासकार के किसी भी उद्देश्य की (केवल चमत्कारिता को छोड़कर) पूर्ति नहीं होती, उल्टे अन्य घटनाओं पर उसका बुरा प्रभाव पड़ा है।

कथावस्तु में कतिपय छोटी-मोटी अनुचित व अस्वाभाविक घटनाएँ और भी हैं—उदाहरणार्थ शाह हसन अस्करी का गुलशन (जिसे वे पुत्री से भी अधिक मानते थे) को अपनी प्रेम-कहानी सुनाना और सुनाते-सुनाते गिरकर रोने लगना, गुलशन से सूबेदार माताबदलसिंह का नाम लेकर मज़ाक करना, गुलशन का उन्हें अपने यौन-परिवर्तन की बात पूरे विस्तार से, अपने अंगों का हवाला देकर बतलाना, मैनावती का अपनी बुआ रानी लक्ष्मीबाई से गुलशन के अंगों की बाबत बताना आदि-आदि! कुछ अस्वाभाविक बातें भी हैं, जैसे बैसवाड़े के माताबदलसिंह का 'आल्हा' से परिचित न होना और ऋषिनाथ से पूछना कि 'आल्हा क्या है? मुझे नहीं मालूम'[1] तथा बिठूर में गुलशन के अंगों का स्त्रीवत् होना और बिठूर से कलकत्ता तक के मार्ग में अचानक पूर्णरूपेण पुरुषवत् हो जाना आदि-आदि!

कथानक में जैसा कहा गया है, ऐतिहासिक और काल्पनिक सभी प्रकार की घटनाएँ मिश्रित हैं। परन्तु उपरोक्त दो-तीन प्रमुख घटनाओं को छोड़कर लेखक की कल्पना ने कहीं भी सीमा का अतिक्रमण नहीं किया। काल्पनिक घटनाओं की संगति इतिहास के संदर्भ में कुशलता से बिठा दी गई है। ऐतिहासिक व काल्पनिक सभी घटनाएँ प्रभावशाली व मार्मिक हैं। अजीमुल्ला का इंगलैण्ड जाना, वहाँ के भद्र रमणी-समाज में विख्यात होना, अनेक रमणियों का उन पर आकर्षित होना, इंगलैंड से लौटते हुए इटली व रूस जाना तथा रूस के ज़ार से मिलना, सब-कुछ ऐतिहासिक है व रसेल की डायरी के आधार पर है। शाह हसन अस्करी का फारस के शाह को पत्र भिजवाना आदि घटनाएँ भी सत्य हैं। मिर्ज़ा इलाहीबख्श की गद्दारी भी इतिहास-सिद्ध है, यद्यपि उपन्यासकार ने उसके रूप को अवश्य परिवर्तित कर

१. पृष्ठ १०३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया है। ऐतिहासिक व काल्पनिक घटनाओं के इस योग ने कथावस्तु को पाठकों के लिए सहज ही ग्राह्य बना दिया है। माताबदलसिंह व गुलशन का प्रेम-प्रसंग यदि बिगाड़ा न जाकर स्वाभाविक गति से आगे बढ़ाया जाता, तो अन्त में देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते हुए और अपने प्राणों की बलि देते हुए उन प्रेमियों का चित्र उपन्यास का अविस्मरणीय चित्र होता।

चरित्र ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक, काल्पनिक, सभी प्रकार के हैं, पर उनमें कोई वैषम्य नहीं प्रतीत होता। काल्पनिक चरित्र ऐतिहासिक चरित्रों के साथ कुशलतापूर्वक गूँथ दिये गए हैं। प्रमुख पुरुष पात्रों में सम्राट् बहादुरशाह, शाह हसन अस्करी, मौलवी अहमद-शाह, माताबदलसिंह, नाना साहब, अजीमुल्लाखाँ, गुलमुहम्मद व हाडसन हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, जिनमें गुलमुहम्मद व माताबदलसिंह को छोड़कर, जो पूर्णतः काल्पनिक हैं तथा हसन अस्करी, जो अर्ध-ऐतिहासिक हैं, शेष सभी अपने युग के प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं। बहादुरशाह को छोड़कर शेष सभी पात्रों का चरित्रांकन कुशलता से हुआ है, उनके चरित्र की टेढ़ी-सीधी सभी रेखाओं को उभारा गया है। गौण पुरुष पात्रों में अली, ऋषिनाथ, तात्या, बख्त खाँ, इलाहीबख्श व कुछ अंग्रेज अफसर हमारे सम्मुख आते हैं, जिनमें अली व बख्त खाँ सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। यही बात नारी-चरित्रों के विषय में भी कही जा सकती है। बेगम ज़ीनत महल, बेगम हजरत महल (ऐतिहासिक), गुलशन व गुलनार (काल्पनिक) उपन्यास की प्रमुख नारियाँ हैं और सबके कार्य अपूर्व दीप्ति से दीपित हैं तथा सब हमें प्रभावित करती हैं। मैनावती व लक्ष्मीबाई गौण नारी-पात्र हैं, पर मैनावती की झलक मात्र, उसका बलिदान हमारे नेत्रों के सम्मुख अविस्मरणीय बनकर चमक उठता है। अंग्रेज पात्रों की विशिष्टताएँ व दुर्बलताएँ भी सावधानी व कुशलतापूर्वक, पक्षपातरहित दृष्टिकोण से प्रदर्शित की गई हैं।

भाषा के क्षेत्र में उपन्यासकार को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। उपन्यासकार की भाषा पात्रानुकूल अपना रूप परिवर्तित करते हुए आगे बढ़ती है। मुसलमान पात्र उर्दू-फारसी शब्द बहुल भाषा का प्रयोग करते हैं, पर ऐसी कसी, गठी और बोधगम्य कि पढ़ते ही बनता है, जबकि हिन्दू पात्र संस्कृत तत्सम प्रधान भाषा ही अधिकतर बोलते हैं। उर्दू-फारसी शब्द-प्रधान भाषा की प्रभावशालिता ने उर्दू के प्रसिद्ध लेखक स्व० ख्वाजा हसन निज़ामी तक को बेहद आकर्षित किया था। अपनी सहजगति व प्रभावशालिता के कारण उपन्यास की भाषा उसकी महत्त्वपूर्ण विशिष्टता बनकर रह गई है।

यहाँ एक दोष का भी उल्लेख कर देना समीचीन प्रतीत होता है जो आज के अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों में देख पड़ता है, वह यह कि उपन्यासकार यह भूलकर कि वह एक ऐतिहासिक उपन्यास लिख रहा है, भावावेश में कथानक के युग का अतिक्रमण कर आज तक की चर्चा करने लगता है। प्रस्तुत उपन्यास में भी यह दोष कई स्थानों पर देख पड़ता है जो चिन्त्य है और कम-से-कम मुंशीजी जैसे प्रौढ़ लेखक से यह गलती न होनी चाहिए थी। इस प्रकार के उदाहरण पृष्ठ १८४ के अन्तिम पैराग्राफ, पृष्ठ ५०६ के पहले पैराग्राफ, व पृष्ठ ५३२ व ५३३ में स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जहाँ उपन्यासकार ने मूल उपन्यास की धारा में १५ अगस्त १९४७ तक की चर्चा कर डाली है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरोक्त कतिपय छोटी-बड़ी दुर्बलताओं को छोड़कर उपन्यासकार ने उपन्यास-लेखन में काफ़ी सतर्कता बरती है व काफी परिश्रम किया है। उस युग का ऐतिहासिक वातावरण उपन्यास में सजीवता से उभरा है। स्थान-स्थान पर लेखक ने अपने प्रगतिशील विचारों का भी परिचय दिया है। राजा-नवाबों से अधिक उसने जन-साधारण का पक्ष लिया है। उपन्यास के अनेक स्थल इस कथन के प्रमाण हैं, जहाँ उपन्यासकार ने जनता के वास्तविक महत्त्व को, उसकी अजेय शक्ति को उभारकर दिखाया है।

उपन्यास का अन्त पर्याप्त मार्मिक है, विशेषकर शाहज़ादी द्वारा गाई गई बहादुरशाह की अमर नज़्म 'न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का करार हूँ' वातावरण को और भी मार्मिक व विषाद से युक्त बना देती है।

उपन्यास की छपाई, सफाई, गेट-अप आदि पर्याप्त सुन्दर है। प्रूफ की अशुद्धियाँ पर्याप्त मात्रा में हैं, आशा है वे उपन्यास के अगले संस्करण में दूर हो जायँगी।

निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि कतिपय गहरी दुर्बलताओं के बावजूद भी 'बेकसी का मज़ार' सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम से प्रेरित होकर रचे गए साहित्य के बीच अपना विशिष्ट स्थान रखेगा। हाँ उपरोक्त दुर्बलताओं ने उसे प्रथम श्रेणी की कृति नहीं बनने दिया, ऐसा हमारा निश्चित मत है।[1]

सतीशचन्द्र काला

कला-दर्शन

शचीरानी गुर्टू हिन्दी की विचारशील लेखिका हैं। 'कला-दर्शन' पुस्तक उनके अथक परिश्रम और समीक्षात्मक ऊहापोह का फल है। इस पुस्तक में १५ मुख्य अध्याय हैं—प्रागैतिहासिक कला, मिस्र की कला, चीन-जापान की चित्रकला, यूनान की कला, इटालियन कला, स्पेन, फ्लाण्डर्स, जर्मनी, हालैंण्ड की कला, फ्रांस की चित्रकला, ब्रिटेन और अमेरिका की कला, रूस की कला, आस्ट्रेलियन कला, अफ्रीका की कला, प्राचीन कलाएँ—मेसोपोटामिया और क्रीट, अरब, फारस और मुस्लिम कला, भारतीय कला तथा विश्व की मूर्तिकला।

अन्त में परिशिष्ट रूप में विश्व के प्रमुख कला-स्मारक, अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिवाले कलाकारों तथा कला-ग्रन्थों की सूची दी गई है।

भारतीय कला वाले अध्याय में सिन्धुघाटी की सभ्यता के समय से लेकर आधुनिक समय तक की कला-प्रवृत्तियों का क्रमानुसार विवेचन किया गया है। भारत का विदेशों के

१. 'बेकसी का मज़ार' (एक ऐतिहासिक उपन्यास); लेखक—मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव; प्रकाशक—भारती प्रतिष्ठान, पी रोड कानपुर, आकार डिमाई, पृष्ठसंख्या ५५२, मूल्य १०)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ कला के क्षेत्र में जो सम्बन्ध समय-समय पर रहा है उसकी चर्चा भी की गई है।

विदेशी तथा देशी कला के बहुसंख्यक चित्र पुस्तक में यथास्थान दिये गए हैं। इन चित्रों के संकलन में कुछ अधिक कल्पना-शक्ति एवं नीर-क्षीर-विवेक उपेक्षित था। चित्रकला के जो अनेक उदाहरण दिये गए हैं उनमें से कुछ चित्र रंगीन होते तो अच्छा होता। यद्यपि इससे मुद्रण व्यय अवश्य बढ़ जाता, परन्तु पुस्तक अधिक कलापूर्ण होती। अजन्ता, काँगड़ा, राजस्थान आदि के कई उत्कृष्ट चित्र सादे होने के कारण भद्दे लगते हैं और उनसे मौलिक चित्रों का ठीक बोध नहीं होता। कुछ रेखाचित्र भी दिये गए हैं, जो संतोषजनक नहीं कहे जा सकते। अनेक चित्रों के विवरण भी अशुद्ध हैं। उदाहरण के लिए मथुरा से प्राप्त कुषाण कालीन वेदिका-स्तम्भों को ई० पूर्व द्वितीय शती का लिखा है। शुंग और कुषाण-काल को कई स्थानों पर एक ही समझने की त्रुटि हुई है। पृष्ठ ३०६ के सामने जो रेखाचित्र प्रकाशित किया गया है वह अजन्ता की हूबहू प्रतिकृति न होकर उसका आधुनिक अनुकरण है। चित्रों के नीचे उनकी क्रम-संख्या तथा आरम्भ में सूची देना आवश्यक है।

पुस्तक में कुछ स्थानों पर विवरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ भी आ गई हैं। पृष्ठ ३२५ पर लिखा है कि "**मथुरा और अमरावती की नारी-प्रतिमाएँ उजली चित्ती वाले लाल रवादार पत्थरों पर कोरी गई हैं।**" मथुरा की मूर्त्तियाँ निस्सन्देह लाल बलुए पत्थर की बनी हैं, पर अमरावती वाला पत्थर हल्का सफेद संगमरमर है, न कि लाल रवादार। प्रूफ की अशुद्धियाँ भी कुछ स्थानों पर रह गई हैं।

हिन्दी-जगत् में इस ग्रन्थ का प्रकाशन स्वागत योग्य है। जैसा कि श्री बालकृष्ण-विश्वनाथ केसकर ने ग्रन्थ के आमुख में लिखा है, "**विदेशी कलाओं के सम्बन्ध में हमारे यहाँ कोई अच्छा प्रकाशन नहीं था। इस कमी की पूर्ति प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा की गई है।**"

देश-विदेश में विभिन्न युगों में जो कलात्मक प्रवृत्तियाँ कार्य करती रहीं, उनका विहंगावलोकन इस ग्रन्थ में मिलेगा। इस कृति के लिए लेखिका का श्रम निस्सन्देह सराहनीय है। यह और भी प्रसन्नता की बात है कि उनकी दूसरी पुस्तक 'भारतीय कलाकार' का प्रकाशन शीघ्र होने वाला है।[1]

●

कृष्णदत्त वाजपेयी

प्रतिमा-विज्ञान

भारतीय वास्तु-शास्त्र पर डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने पाँच ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना बनाई है। पहला ग्रन्थ 'वास्तु-विद्या एवं पुरनिवेश' प्रकाशित हो चुका है। प्रतिमा-विज्ञान पर यह दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जो लेखक की पंचपुष्पिका माला का चौथा पुष्प है। उत्तर प्रदेश राज्य की आर्थिक सहायता से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमाला प्रकाशित

१. **'कला-दर्शन', लेखिका—शचीरानी गुर्टू, एम० ए०; प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, ४७, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली; प्रथम संस्करण; १९५६; मूल्य २० रुपये।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो रही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्रतिमा-विज्ञान' वास्तु-शास्त्र के दो प्राचीन ग्रन्थों—'समरांगण सूत्रधार' तथा 'अपराजित पृच्छा'—के अध्ययन पर आधारित है। ग्रन्थ में पूर्व-पीठिका तथा उत्तर-पीठिका शीर्षक दो खण्ड हैं। पूर्व-पीठिका में भारतीय प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठभूमि दी गई है। इसमें ये अध्याय हैं—विषय-प्रवेश, पूजा-परम्परा, प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता (साहित्यिक एवं पुरातत्त्वात्मक प्रामाण्य), अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक (वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन धर्म आदि), अर्चा-पद्धति तथा अर्चागृह। उत्तर-पीठिका में ये ग्यारह अध्याय हैं— विषय-प्रवेश, प्रतिमा-निर्माण-परम्परा, प्रतिमा-वर्गीकरण, प्रतिमा-द्रव्य, प्रतिमा-विधान, प्रतिमा-रूप-संयोग, प्रतिमा-मुद्रा, प्रतिमा-लक्षण, बौद्ध-प्रतिमा-लक्षण, जैन-प्रतिमा लक्षण और उपसंहार। पुस्तक के अन्त में तीन परिशिष्ट दिये हुए हैं। आरम्भ में पंचध्यानी बुद्ध लक्षण की एक तालिका भी दी गई है।

हिन्दी में अपने विषय का यह पहला बड़ा ग्रन्थ है, जिसमें मूर्ति-विज्ञान का सांगोपांग विवेचन उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला, अभिलेख, मुद्रा आदि के अध्ययन के साथ सम्बन्धित साहित्य एवं धार्मिक मान्यताओं का भी आलोडन किया गया है। विभिन्न मतों में प्रतिमा-पूजन के स्वरूप तथा उसके क्रमिक विकास पर लेखक ने प्राचीन साहित्यिक उद्धरण देते हुए विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। ग्रन्थ की उत्तर-पीठिका में प्रतिमा-विज्ञान का शास्त्रीय सिद्धान्त विस्तार से दिया गया है, जो बहुत उपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के कई स्थलों पर लेखक ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते। पृष्ठ ६१ पर लिखा है—"**महाकवि कालिदास का काल ईशवीय पूर्व प्रथम शताब्दी प्रमाणित हो चुका है। अतः ईसा से बहुत पूर्व शिव का अर्धनारीश्वर रूप प्रसिद्ध था।**" कुछ विद्वानों ने कालिदास को ई० पूर्व प्रथम शती का लेखक सिद्ध करने की चेष्टा की है, परन्तु यह मत अब समीचीन नहीं माना जाता। कालिदास गुप्तकाल में हुए, यही विचार अब प्रायः मान्य है। अर्द्धनारीश्वर-रूप में शिव की प्रतिमाएँ भी ईसवी चौथी शती से मिलती हैं। पूर्व-पीठिका के अध्याय ४ (प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता) और १० (अर्चागृह) तथा उत्तर-पीठिका का अध्याय ६ (प्रतिमा-लक्षण) अनेक स्थानों पर संशोधन की अपेक्षा रखते हैं। वज्रयान के देववृन्दों का जो विकास सारनाथ और नालंदा में हुआ उसका कुछ विवरण प्रतिमा-लक्षण अध्याय में देना आवश्यक था। पुराणादि साहित्य के साथ पुरातत्त्वीय प्रमाणों को जोड़ने का प्रयास कई जगह बहुत लचर है।

पुस्तक में नामों की अत्यधिक अशुद्धियाँ खटकती हैं। उदाहरणार्थ, 'बकसर' को 'बखसर' (पृ० ४), 'पवाया' को 'पावय' (पृ० ५०), 'परखम' को 'पारखम' (पृ०५१), 'भरहुत' को 'वरहुत' (पृ० ५१), 'हेलियोडोरस' या 'हेडियोदोर' को 'हेलिडोरा' (पृ० ५३), 'पंचाल' को 'पाञ्चाल' (पृ० ५६) 'गोविन्ददेव' को 'गोविन्ददेवी' (पृ० १६८), 'कार्ला' को 'कर्ला' (पृ० १६६) लिखा गया है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ पं० माधवस्वरूप वत्स के लिए 'वाट्स' शब्द बहुत खटकता है। म्यूज़ियम के लिए 'स्मारक गृह' शब्द (पृ० ५४) ठीक नहीं। संग्रहालय, कलाभवन आदि प्रचलित शब्दों में से कोई लिया जा सकता था।

लेखक की शैली स्थान-स्थान पर बाणभट्ट और दंडी की शैली से टक्कर लेती हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई पड़ती है। "उनमें धर्माश्रयता प्रमुख ही नहीं वह सर्वोत्कर्षेण विराजमाना दृष्टिगोचर हो रही है," इस वाक्य को इतने से भी व्यक्त किया जा सकता था—"उनमें धार्मिकता (या धार्मिक तत्त्वों) की प्रमुखता है।"

पुस्तक में मूर्तियों के चित्रों का अभाव भी खटकता है। ऐसे उपयोगी ग्रन्थ में कुछ मुख्य मूर्तियों के फोटो तथा रेखाचित्र अवश्य दिये जाने चाहिए थे। डॉ० शुक्ल हिन्दी में इस ग्रन्थ को लिखने के लिए बधाई के पात्र हैं। उन्होंने हिन्दी को निस्सन्देह एक बहुमूल्य कृति प्रदान की है। अगले संस्करण में उपर्युक्त कुछ कमियाँ दूर हो सकेंगी, इसकी हमें पूरी आशा है।[1]

मनोहर वर्मा

अन्धा युग

'अन्धा युग' पाँच अङ्कों में समाप्त होने वाला गीति-नाट्य है, जिसमें महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं की पृष्ठभूमि पर आज के नये विकलांग कुरूप युग की ह्रासोन्मुख संस्कृति का चित्र खींचा गया है। दो महायुद्धों का जो विनाशकारी प्रभाव विश्व के आंतरिक एवं बाह्य जीवन पर पड़ा, उसकी आत्मपरक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति 'अन्धा युग' में हुई है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि युद्धकाल की अपेक्षा युद्धोत्तर काव्य अधिक सक्षम और प्रभावशाली रहा है। युद्ध-सभ्यता की वैज्ञानिक परीक्षा के लिए स्थान और काल की दूरी का 'पर्सपेक्टिव' मिलना आवश्यक है। यही कारण है कि अधिकांश श्रेष्ठ युद्ध-कृतियाँ (प्रथम महायुद्ध के पश्चात्) अमेरिकन कवियों द्वारा लिखी गईं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के सर्वश्रेष्ठ गायक ब्रिटेन ने उत्पन्न किये। विक्टर ह्यूगो की नेपोलियन पर लिखी गईं कविताएँ घटना के बहुत बाद में छन्दबद्ध हुईं। युद्ध के भीषण अनुभव को मानसिक पाचन मिलना आवश्यक है। श्रेष्ठ युद्ध-काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उन्हीं के द्वारा लिखा जाय जो उसके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आते हैं। फ्रांसिस स्कार्फ ने 'ऑडेन एण्ड आफ्टर' (१९३०-४१) में लिखा है—

"The best war poetry is necessarily written not by those who see war but by those who feel it most intensely".[2]

इस प्रकार स्थान और काल की दूरी के 'पर्सपेक्टिव' भारती को पूरे-पूरे मिले हैं और इसीलिए उनकी युद्ध-सभ्यता की आलोचना में अति भावुकता, तीव्र घृणा, व्यंग्य-घातक शोक एवं अमर्यादित रोष की उन्मादपूर्ण प्रतिक्रिया नहीं है। दूरी के दृष्टिकोण ने उनकी लेखनी

१. 'प्रतिमा-विज्ञान', लेखक—डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय; प्रकाशक—वास्तु वाङ्मय-प्रकाशन शाला, शुक्ल कुटी, फैज़ाबाद रोड, लखनऊ; अगस्त १९५६; मूल्य १५ रुपये।

२. पृ० १७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कलात्मक संयत प्रकाशन का अवसर दिया है। आलोचकों ने 'अन्धा युग' को 'उत्पीड़ित विवेक का विस्फोट' कहा है, किन्तु कोई भी गम्भीर पाठक इस बात से सहमत नहीं होगा कि उसमें कवि का दृष्टिकोण 'न्यूरॉटिक' है। उत्पीड़ित अवस्था में लेखनी तीक्ष्ण, व्यंग्यात्मक, कटु और विक्षिप्त साहित्य का सृजन करती है; किन्तु भारती के काव्य में गिरी हुई संस्कृति के खण्डहरों के प्रति किसी व्यंग्य, कड़ुआहट या विक्षिप्तता का दृष्टिकोण नहीं मिलता। 'अन्धा युग' के चरित्र निश्चित ही अन्धे और कुण्ठाग्रस्त हैं; किन्तु उनको एक सूत्र में बाँधकर चलाने वाली कवि की लेखनी में एक संयत मर्यादा, नैतिकता का आग्रह और आशावादी मानवता की झाँकी मिलती है। विक्षिप्त एवं उत्पीड़ित कलाकार आशा, संयम, विश्वास जैसी शांत, प्रसन्न भावनाओं का सहारा नहीं लेता। वह अपनी प्रतिक्रिया के भावनात्मक झोंके में अतिवादी छोरों का आग्रह करने लगता है। भारती ने 'अन्धा युग' में शुष्क बौद्धिक व्यंग्य और घोर ग्लानि पश्चात्ताप से भरी भावुक प्रलाप-शैली दोनों से बचने की कोशिश की है। अति बौद्धिकता एवं अति भावुकता के दोनों अतिवादी छोरों से अलग भारती की स्थिति मध्य में है, जहाँ संस्कृति का भग्न, जर्जरित रूप उन्हें मानवता के आशामय भविष्य का सन्देश देता है। मानव की मानवता पर से उनका विश्वास घटा नहीं है और यही इस बात का सूचक है कि भारती का 'अन्धा युग' 'उत्पीड़ित विवेक का विस्फोट' नहीं है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि भारती ने युद्ध के औचित्य या अनौचित्य अथवा युद्ध की समस्याओं का कोई दार्शनिक हल नहीं निकाला है। भारती की युद्ध-सभ्यता की आलोचना बौद्धिक मस्तिष्क की संवेदनात्मक विचारधारा का परिणाम है, जो युग के जर्जरित, शीघ्रता से बदलते हुए मूल्यों को कोई सुदृढ़ आधार नहीं दे सकी है। इस दृष्टि से 'अन्धा युग' निश्चय ही 'कामायनी' जैसी रचना से बहुत पीछे है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि 'अन्धा युग' में दादाइज़्म या सुररियलिज़्म की भाँति युद्धोत्तर-न्यूरॉटिक प्रतिक्रिया नहीं है। वह संयमित, मर्यादित एवं सन्तुलित संवेदनाशील काव्य है। यह मानना पड़ेगा कि 'अन्धा युग' के पात्रों का संशयालु, प्रश्नवाचक व्यक्तित्व इतना अधिक उभार ले गया है कि उसका प्रभाव पाठकों पर आवश्यकता से अधिक पड़ता है और भारती के मानवतावादी आशावाद का स्वर कुछ दब-सा जाता है।

'अन्धा युग' के पाँच अंक निम्नलिखित शीर्षकों से लिखे गए हैं—

(स्थापना—अन्धा युग)
पहला अङ्क—कौरव नगरी
दूसरा अङ्क—पशु का उदय
तीसरा अङ्क—अश्वत्थामा का अर्धसत्य
(अन्तराल—पंख, पहिए और पट्टियाँ)
चौथा अङ्क—गांधारी का शाप
पाँचवाँ अङ्क—विनय : एक क्रमिक आत्महत्या
(समापन—प्रभु की मृत्यु)

'अन्धा युग' में चरित्र-चित्रण वैचारिक कोटि का है। चरित्र मानवीय अस्तित्व की अपेक्षा विशेष विचारधारा अथवा विशेष कुण्ठाओं के प्रतीक अधिक हैं। बीसवीं सदी की पतनोन्मुखी संस्कृति के प्रतिनिधि यहाँ उपस्थित हैं। युधिष्ठिर एवं धृतराष्ट्र नेतृवर्ग की अन्धी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति उपासना, सम्पूर्ण विश्व पर एकाधिकार की स्वार्थी वासना के प्रतीक हैं। एक विजयी वर्ग का है, एक विजित वर्ग का। किन्तु दोनों ही असन्तुष्ट हैं, क्योंकि विजय के पश्चात् आने वाली विषम परिस्थितियाँ, 'युद्ध के बाद का विषैला वातावरण विजयी-वर्ग को विजित वर्ग से कहीं अधिक सन्तप्त बना देता है। गांधारी मानवता का वह घबराया हुआ वर्ग है, जो युग के बर्बर पशुत्व, अमर्यादित नैतिकता और जीवन के द्वन्द्वमय विरोधाभासी संस्कारों के कारण प्रतिक्रियास्वरूप 'कटु निराशा की उद्धत अनास्था' का मार्ग पकड़ लेती है। अश्वत्थामा, प्रतिहिंसक पशुत्व और एक न्यूरॉटिक युद्धलिप्सा के अर्धसत्य का पोषक है। वध उसकी 'नीति' नहीं, मनोग्रन्थि है। उसका अमानुषिक अर्धसत्य घृणा के तर्क पर जीवित है। अश्वत्थामा को वध से मानसिक सन्तुष्टि मिलती है; माँसपेशियों का तनाव खुल जाता है, उसकी न्यूरॉटिक मनोग्रन्थियाँ तृप्त हो जाती हैं। अश्वत्थामा उस वर्ग का संकेत देता है, जिस पर महायुद्धों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। वे सैनिक या उस स्थान के त्रस्त लोग, जहाँ महायुद्ध हुए, इसी घातक प्रतिक्रिया के शिकार हुए। उनके उपचेतन मस्तिष्क में युद्ध के भयंकर अनुभवों का तूफान इतने वेग से भर गया कि उस उन्मादपूर्ण अवस्था का तनाव ढीला करने के लिए उनका रक्त प्यासे पशु की भाँति घूमना अनिवार्य हो गया। महायुद्ध के सीधे प्रभाव में आने वाले राष्ट्रों के मानसिक असन्तुलन की यह विक्षिप्तावस्था अश्वत्थामा के रूप में स्पष्ट रूप से सामने आती दिखाई देती है। यह वर्ग एक ऐसी 'नरवस टेन्शन' की स्थिति में रहा है और है, जिसकी मानसिक कुण्ठाओं की तृप्ति के लिए युद्ध एक आवश्यक पदार्थ है। अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र प्रयोग में अणु विस्फोट का संकेत है।

कृष्ण ज्योति प्रतीक मानवता है, जो महाभारत युद्ध में करोड़ों बार जीवन और मृत्यु को प्राप्त हुए हैं—जो अश्वत्थामा के बर्बर पशुत्व की कोढ़ से पीड़ित हैं—जिन पर युग की विकृति, आत्मघाती, निराश, तटस्थ सत्य की कुरूप काली छाया डोल रही है। ज्योति एवं अन्धकार का द्वन्द्व उनके भीतर है, किन्तु वे प्रभु हैं द्वन्द्व से परे। प्रभु की हत्या व्याध के हाथों होती है। प्रभु की मृत्यु का उल्लेख प्रायः सभी धर्मों की पौराणिक गाथाओं में मिलता है। इस विषय पर धर्मग्रन्थों का पुनर्जन्म का सिद्धान्त एक सर्वमान्य धरातल पर उपस्थित मिलता है। सुमारियन-बेबीलोनियन ईश्वर **'तमूज़'**, फोनीशियन ग्रीक **एडोनिस**, फ्रीजियन **एटिस** और इजिप्शीयन **ऑसिरिस** आदिम कल्पना-प्रसूत देवता हैं, जो जीवन पर ऋतुओं की भाँति शासन करके और फिर मृत्यु की शक्ति के सामने झुक जाते थे; किन्तु यह मृत्यु शाश्वत नहीं थी, उसमें पुनर्जन्म के बीज रहते थे। 'अन्धा युग' में कृष्ण का अन्तिम सन्देश महत्त्वपूर्ण है। व्याध प्रभु की मृत्यु की सूचना देता हुआ कहता है कि सृष्टि के प्राणियों का समस्त दायित्व अपने ऊपर लिये हुए थे और अब अपना दायित्व हम सब पर छोड़ गए हैं। उनका एक अंश निष्क्रिय आत्मघाती और विगलित रहेगा; किन्तु शेष व्यक्तियों में उनका दायित्व प्रेरणा रूप में रहेगा जो कि ध्वंस को निर्माण की चुनौती मानेंगे और हर विकृत, अर्ध-बर्बर, आत्मघाती, अनास्थाग्रस्त व्यक्ति जीवन की सार्थकता पा जायगा। समापन में भारती ने लिखा है—

"हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अँधियारा है अश्वत्थामा है संजय है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है दास वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अन्धा संशय है लज्जाजनक पराजय है
पर एक तत्त्व है बीजरूप स्थित मन में
साहस में स्वतन्त्रता में नूतन सर्जन में
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्व-युक्त मर्यादित मुक्त आचरण में
उतना जो अंश हमारे मन का है
वह अर्ध सत्य से ब्रह्मास्त्रों के भय से
मानव भविष्य को हरदम रहे बचाता
अन्धे संशय दासता पराजय से।"

यही भारती का आशावादी भविष्य स्वप्न है। मानव की मानवता पर विश्वास रखने वाले इस कवि की आस्था की सराहना करनी होगी। इस अन्तिम आशावादी भावना का स्वरूप मानववादी कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक एवं राजनैतिक न होने के कारण ही शायद कुछ लोगों को 'अन्धा युग' में समाजशास्त्रीय वैज्ञानिकता का अभाव दिखाई देता है। इसको अवश्य ही स्वीकार किया जायगा कि भारती ने युद्ध-सम्बन्धी समस्याओं का कोई हल हमें नहीं दिया है, किन्तु क्या समाजशास्त्रीय वैज्ञानिकता हल निकालने तक ही सीमित है?

'अन्धा युग' के अन्य पात्रों में युयुत्सु, संजय और विदुर महत्त्वपूर्ण हैं। संजय आस्था-अनास्था के द्वन्द्व में त्रस्त, संशयालु, आत्मघाती चरित्र है। आस्था उसकी दृष्टि में एक घिसा हुआ सिक्का है, संजय निष्क्रियता और निरपेक्ष सत्य का प्रतीक है। विदुर के मन में अन्तर्द्वन्द्व है, जिसे अपनी मान्यताओं के सहारे वे दबाते हैं। वृद्ध याचक इलियट के 'वेस्टलैंड' की मैडम सोसोस्ट्रिस का स्मरण दिलाता है। दोनों प्रहरी दास्य-प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं।

'अन्धा युग' का विचार-क्षेत्र वही है जो इलियट के 'मर्डर इन दि कैथेड्रल', 'हालोमैन' और 'वेस्टलैंड' का। 'मर्डर इन दि कैथेड्रल' में आज की विषमता को उपयुक्त पृष्ठभूमि देने के लिए इलियट ने ऐतिहासिकता का सहारा लिया है। 'हालोमैन' का निष्क्रिय नपुंसक व्यंग-चित्र 'वेस्टलैंड' की ही छाया है। 'वेस्टलैंड' और 'अन्धा युग' दोनों बहुत-कुछ समान भूमि पर हैं, किन्तु फिर भी दोनों में बहुत अन्तर है। 'वेस्टलैंड' में मिस वेस्टन के 'रिचुअल टु रोमान्स' और फ्रेज़र के 'गोल्डन बो' की अनुप्रेरणा है। कण्टेमपोरेनिटी एण्ड एण्टिक्विटी, (प्राचीनता और सामयिकता) पेगेनिज़्म एण्ड क्रिश्चयनिटी की द्वन्द्वात्मक पृष्ठभूमि पर युद्धोत्तर पतनोन्मुखी संस्कृति को दर्शाया गया है। 'वेस्टलैंड' में अन्धी, निर्बल, खण्डित, आस्था-हीन मानव-सभ्यता की आलोचना है। इलियट ने इज़किल पैराडाइज़ लास्ट ब्लिक इन्स कैओस इनफरनो एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी उपनिषद् आदि महत्त्वपूर्ण कृतियों के सन्दर्भों द्वारा मानवीय सभ्यता के समस्त प्राचीन विश्वासों एवं बौद्धिक निष्कर्षों को, ज्ञान की विरासत को, एक 'विश्वमानव' की भाँति अतीत को सशरीर वर्तमान के 'कण्ट्रास्ट' पर लाकर खड़ा किया है। भारती ने अपनी प्रतीक पद्धति द्वारा काव्य को व्यापक कलात्मक स्वर देने की चेष्टा की है, किन्तु जहाँ इलियट के काव्य में यह गुण स्पष्ट हैं वहाँ वह भारती के काव्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवादग्रस्त प्रश्न बन गया है। इलियट ने 'ग्रेट लीजेण्ड' के आधार पर पुनर्जन्म का आशावाद व्यक्त किया है। वह मानता है कि अनुभव का सत्य शाश्वत है और उस पर आस्थाहीन संशयालुता ही खण्डित विश्वास और व्यर्थ के संघर्षों को पनपा देती है। जीवन और मृत्यु के निश्चित रहस्यों का प्राचीन दृष्टिकोण आज की भौतिकता और विज्ञान ने नष्ट कर दिया है। भारती की विचारधारा बहुत-कुछ ऐसी ही है, यद्यपि दोनों के काव्य-निष्कर्षों में वही अन्तर है जो दो विभिन्न पौराणिक प्रेरणा-सूत्रों को उपयोग में लाने पर होना चाहिए। भारती के काव्य में आशा है, कामना है और चेतावनी है, जोकि महाभारत की पृष्ठभूमि पर साफ उतरी है। इलियट के 'वेस्टलैंड' में व्यंग है, विश्वास है और सांस्कृतिक एकता का प्रभावशाली चित्रण है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर दोनों काव्य-ग्रन्थों के पात्र बहुत-कुछ एक-से हैं, यद्यपि उनमें अपना वैयक्तिक एवं कथा-सम्बन्धी विशेष व्यक्तित्व तो है ही।

'अन्धा युग' हिन्दी-काव्य में अपने ढंग की पहली कृति है। 'अन्धा युग' द्वारा आज के सांस्कृतिक ह्रास की ग्लानि और पश्चात्ताप के यथार्थ चित्रों के साथ एक आशावादी भविष्य का सन्देश भी मिलता है। आज जबकि हिन्दी-काव्य प्रयोगवाद, प्रभाववाद, प्रतीकवाद आदि बौद्धिक चेष्टाओं द्वारा काव्य को दुरूह और क्लिष्ट अलंकरण दे रहा है, भारती का यह प्रयास प्रशंसनीय है। उन्होंने वादों की सीमा में अपने काव्य-व्यक्तित्व को नहीं आने दिया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। 'अन्धा युग' द्वारा हमारे हिन्दी-साहित्य के एक आवश्यक अंग की पूर्ति हुई है और इसमें भारती की लेखनी की सम्भावनाएँ स्पष्ट दिखने लगी हैं।

[stamp] पुस्तकालय ... कांगड़ी

१. 'अन्धा युग', लेखक—धर्मवीर भारती; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद; १९५५; मूल्य २॥)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

30

आलोचना

बि
८४
दि ३८९३
अं-२०

…कविता
…त्यिक सौष्ठव और सामाजिक तत्व
… सौन्दर्य और आनन्द
…र्श और यथार्थ : हिन्दी कथाकार
…गवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास
मैक्सिम गोर्की
प्रस्तुत प्रश्न : नई कविता

सम्पादकीय
डॉ॰ भगीरथ मिश्र
विष्णुप्रसाद त्रिवेदी
अनन्त
अनन्त चतुर्वेदी
गंगाधर झा
व्रजलाल वर्मा
प्रतापसिंह चौहान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

राजकमल प्रकाशन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय
विषय संख्या R ८४
पुस्तक संख्या दि ३७आ अ-२०
आगत पंजिका संख्या ४८४२८
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

अक्तूबर, १९५९
इस अंक का ३)

डॉ० भगीरथ मिश्र --- ९
—रस, सौन्दर्य और आनन्द :
प्रो० विष्णुप्रसाद र० त्रिवेदी १८
—आदर्श और यथार्थ : हिन्दी कथाकार :
अनन्त --- २५
अध्ययन : भारतीय लेखक
...वतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास :
...चतुर्वेदी --- ३५
...देशी लेखक
--- ५२
...मुद्र : आस्था की समस्या :
...शर्मा --- ८१
... :
...गुप्त --- ९३
—राह बीती :
प्रकाशचन्द्र गुप्त --- ९५
—कौड़ियों का नाच :
शिवकुमार मिश्र --- ९६
—हिन्दी-रीति-साहित्य :
रामचन्द्र तिवारी --- ९९
—पद्मसिंह शर्मा के पत्र :
लक्ष्मीरमण वार्ष्णेय --- १०२
—पुरानी राजस्थानी :
भोलानाथ तिवारी --- १०४
—बेकसी का मज़ार :
शिवकुमार मिश्र --- १०७
—कला-दर्शन :
सतीशचन्द्र काला --- ११५
—प्रतिमा-विज्ञान :
कृष्णदत्त वाजपेयी --- ११६
—अंधा युग :
मनोहर वर्मा --- ११८

पुस्तकालय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

सम्पादकीय

'नई कविता'

पत्रिका के इस अंक में नई हिन्दी-कविता पर दो समीक्षाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। दोनों समीक्षकों ने नई कविता शब्द से उस विशेष प्रकार की रचना का अर्थ लिया है जो इन दिनों बहुतायत से पत्र-पत्रिकाओं में छपा करती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी की नई कविता वर्तमान समय में इस विशेष शैली या प्रकार तक सीमित है। हिन्दी के अधिकांश प्रौढ़ और गण्यमान्य कवि अब भी भिन्न प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनकी अपनी गरिमा और महत्त्व है। यह कहना भी अनुचित न होगा कि हमारी नई कविता का प्रतिनिधि और प्रांजल रूप वही है, जो उन प्रौढ़ कवियों द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। न तो मात्रा में और न वैशिष्ट्य में इन प्रशस्त रचनाओं की समता नये प्रयोगों और अभ्यासों द्वारा की जा रही है। एक विशेष तबके के कवि एक विशेष लहजे की रचनाएँ तैयार कर रहे हैं और इसे ही वे नई कविता का नाम देने लगे हैं। इस नई सृष्टि में भाव या विचार अथवा शैली और शिल्प की दृष्टि से ऐसी विशिष्टता नहीं लाई जा सकी है कि हम उसे हिन्दी-कविता के विकास का आगामी चरण कह सकें। इस प्रकार की रचना भविष्य के प्रति कोई बड़ी आशा भी नहीं बँधाती। ऐसी स्थिति में हिन्दी-कविता की स्वस्थ और प्रांजल परम्परा को छोड़कर इस अटपटी शैली की रचना को नई कविता का नाम देना भ्रामक और असमीचीन होगा।

हिन्दी से भिन्न अन्य भारतीय भाषाओं में जो काव्य-रचनाएँ हो रही हैं, उन्हें देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन भाषाओं के नये कवि नई भावभूमियों का स्पर्श कर रहे हैं। उनकी काव्य-शैली आवश्यक नवीनता भी अपने साथ लाई है। परन्तु हिन्दी की भाँति अन्य भाषाओं में क्रमागत काव्य-पद्धति से इतना बड़ा बिलगाव नहीं दिखाई देता। उनका काव्य क्रमागत काव्य को नया विस्तार और नई प्राण-शक्ति देता है, किन्तु हिन्दी की यह नई रचना अपने नयेपन में एक अचम्भा उत्पन्न करती है। हिन्दी की प्रौढ़ काव्यधारा से नये प्रयोगियों की रचना इतनी भिन्न हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई है कि दोनों में किसी प्रकार का तारतम्य देख पाना भी कठिन हो गया है। कदाचित् यही कारण है कि इस प्रकार की कविता हिन्दी के सामान्य पाठक के काम की नहीं रही। उसका क्षेत्र एक विशेष तबके तक सीमित हो गया है! यदि नवीनता के नाम पर प्रतिदिन सीमित और संकीर्ण क्षेत्र की वस्तु बन जाना ही नई कविता की गतिविधि है तो यह संपूर्ण हिन्दी-जगत् के लिए विचार करने की बात है। हम इस नई शैली की रचना को नई कविता के छद्म नाम से नहीं पुकार सकते, क्योंकि हिन्दी की नई कविता इस छोटे घेरे में घिरी हुई नहीं है। साथ ही हमें इस छद्म नाम वाली नई कविता की संपूर्ण परीक्षा करनी होगी ताकि उसकी असलियत का उचित ज्ञान हो सके।

हमें यह देखकर कम आश्चर्य नहीं होता कि नई कविता के हिमायती छन्द के विरोधी हैं और लय के पक्षपाती। जिन नये कवियों की कोई रचना किसी छन्द को अपनाकर चलती है, उनके प्रति नये सम्प्रदाय के कर्णधार सशंक रहते हैं और अवसर आते ही उन्हें चेतावनी देते हैं। यदि चेतावनी मिलने के साथ ही कवि ने छन्दों का रास्ता न छोड़ा तो उसे सम्प्रदाय से बाहर किये जाने का खतरा उठाना पड़ता है। यदि हम पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित होने वाली प्रयोगवादी समीक्षाओं को पढ़ें तो देखेंगे कि प्रयोगवादी कविता के लिए छन्दों का वर्जन एक आवश्यक तथ्य बन गया है। छन्द के स्थान पर लय की चर्चा प्रयोगवादी विचारक अवश्य करते हैं, परन्तु छन्द का बहिष्कार करके लय की उपयोगिता बताना एक विचित्र अन्तर्विरोध का परिणाम है। काव्य के लिए छन्द के बहिष्कार की ऐसी पाबन्दी कविता के इतिहास में शायद ही कभी लगी हो। जिन कवियों के कानों को छन्दों का संगीत वर्जित है वे लय की संगति कहाँ तक समझ और पा सकेंगे! यही कारण है कि काव्य में लय की अथक चर्चा करने वाले अज्ञेय जैसे रचनाकार भी हिन्दी-काव्य के संगीतात्मक और लयात्मक पक्ष से अनवगत ही रह गए हैं। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'भारतीय कविता, १९५३' नामक सद्यःप्रकाशित पुस्तक में उनकी एक कविता का कुछ अंश इस प्रकार है—

> यह दीप अकेला स्नेह भरा,
> है गर्व भरा मदमाता, पर
> इसको भी पंक्ति को दे दो।
> ....
> यह प्रकृति, स्वयंभू, ब्रह्म अयुत
> इसको भी शक्ति को दे दो।
> ....
> जिज्ञासु प्रबुद्ध सदा श्रद्धामय,
> इसको भक्ति को दे दो।

हिन्दी का साधारण पाठक भी इन पंक्तियों की लयहीनता बिना प्रयत्न के ही बता सकेगा, परख की आवश्यकता भी न होगी।

पूछा जा सकता है कि नई कविता के ये पुरस्कर्त्ता काव्य के सहज संगीत और लय की पहचान क्यों नहीं रखते; उत्तर यह है कि ये काव्याभ्यासी अपनी विलक्षण मनोवृत्ति और मान्यता के जाल में फँसकर कविता के इस सर्वसम्मत अंग से वंचित हो गए हैं। इन लेखकों ने हिन्दी-काव्य की अपनी लय-पद्धति का भी उचित अनुशीलन नहीं किया है और प्रायः अंग्रेज़ी कविता के लय-संस्कारों को हिन्दी में अवतरित कर रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिमी संगीत और भारतीय संगीत, पश्चिमी काव्य और भारतीय काव्य में जितना और जो कुछ स्वाभाविक अन्तर है हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषा की लय-पद्धतियों में भी उतनी ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्नता है। इस प्रकार की कविता की अनगढ़ लयों का एक तीसरा और कदाचित् मूल कारण यह है कि नये रचनाकार काव्य की सहज और अन्तरंग प्रेरणाओं से संचालित नहीं हैं। वे अधिकांश में श्रमसाध्य और गढ़े हुए कवि हैं जिन्होंने कवि-कर्म का बाना ग्रहण किया है।

जब से इस नये प्रकार की कविता का प्रारम्भ हुआ, तब से इस शैली के कवि स्वयं समीक्षक बन गए हैं और अपनी कविता का मर्म आप ही बतलाया करते हैं। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि इन कविताओं का मर्म और मूल्य प्रकट करने के लिए इन कवियों को अपना ही सहारा रह गया है, कदाचित् अन्यों को इन सृष्टियों से कोई रुचि या सरोकार नहीं रहा। यह न केवल चिन्ता की बात है, शंका और भय की भी वस्तु है। वह भी क्या काव्य है जिसका पारायण और आस्वादन करने के लिए हर घड़ी व्याख्याओं की आवश्यकता पड़े! और व्याख्याता भी वही जो स्वयं रचयिता हैं! हिन्दी-पाठकों का विशाल समाज क्या इस स्थिति से सन्तुष्ट या प्रकृतिस्थ हो सकता है? समस्या यह है कि हम कविता को अधिक महत्त्व दें, या उसकी व्याख्या को? किसी युग के काव्य के लिए क्या यह कम दुर्भाग्य की बात है कि बिना विस्तृत व्याख्याओं और वक्तव्यों के उसका पारायण ही न किया जा सके। नई कविता के इस परावलम्बन का अर्थ यही है कि यह प्रकृत धारा से टूटकर अलग हो गई है, सहज भावगम्यता का आदर्श खो बैठी है और अपनी भाव-सम्पत्ति को बौद्धिक आवरणों से आच्छादित कर दुरूह बन गई है।

कुछ समय पूर्व इस नई कविता के सम्बन्ध में चर्चा करने पर एक पद्यग्राही युवक ने कहा था कि इस कविता में बुद्धिरस की प्रमुखता माननी चाहिए। साहित्य के नवरसों के अतिरिक्त यदि कुछ लोग वात्सल्य, सख्य और माधुर्य आदि रसों की कल्पना कर सकते हैं तो बुद्धिरस को स्वीकृति क्यों नहीं दी जा सकती? प्रश्नकर्त्ता को इतना तो ज्ञात ही था कि काव्य की प्रक्रिया भावमूलक ही होती है। प्रतिभाशाली कवि आवश्यक बौद्धिक और दार्शनिक तथ्यों का अपनी भावमयी रचना में समाहार किया करते हैं। शायद ही कोई कृति हो जिसमें बौद्धिक चेतना का प्रवेश नहीं हो पाया। अतिशय भावना अथवा कल्पनावादी भी यह मानते हैं कि सहज वृत्तियों का उदात्तीकरण मानव-संस्कृति के विकास के साथ-साथ होता है। कोई राष्ट्र या जाति अपनी मूल या आदिम वृत्तियों को संजोये बैठी नहीं रहती। कविता में जातीय जीवन का बौद्धिक विकास भी प्रतिबिम्बित होता है, परन्तु बुद्धिरस तो एक अनोखा पदार्थ है। काव्य के इतिहास में यह शब्द इसके पूर्व कदाचित् कभी नहीं आया। यहाँ इसका निषेध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस पर गम्भीरतापूर्वक आस्था रखने वालों की संख्या नगण्य है।

तथाकथित नई कविता में इसी बुद्धिरस का बाहुल्य है, इसीलिए कविता की यह नई धारा साहित्यिकों के लिए अटपटी और अग्राह्य बनी हुई है। काव्य में साधारणीकरण के प्रश्न पर मत देते हुए श्री अज्ञेय एक स्थान पर कहते हैं, "उसे (कवि को) अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है। इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके; साधारणीकरण को उसने छोड़ नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़कर नहीं।" इस अभिमत में लेखक भाव और भाषा दोनों ही क्षेत्रों में एक सार्वजनिक अग्राह्यता की आशंका करता है। लेखक की समझ में कवि के भाव और उसकी भाषा सहज प्रेष्य या सार्वजनीन नहीं हो रहे। वह उन्हें क्रमशः प्रेष्य और बोधगम्य बनाने की आशा रखता है। उसका यह भी संकेत है कि नई पीढ़ियों के कवि नई भाव-चेतना का आविर्भाव करते हैं और इस निमित्त नई भाषा का माध्यम ग्रहण करते हैं। इस समस्त निरूपण में यह कहीं नहीं कहा गया कि काव्य या साहित्य में यह नवीनता अपना लक्ष्य आप ही है या इसकी कोई वस्तुमुखी या सामाजिक स्थिति या सत्ता भी है। युगचेतना के निर्माता कवियों को इतनी लम्बी सफाई नहीं देनी पड़ती। समाज के सामने उनका अदम्य काव्य रहता है, उनकी अक्षुण्ण अनुभूति रहती है और उनकी मर्मस्पर्शिनी अभिनव भाषा रहती है। इन त्रिविध सम्पत्तियों से सम्पन्न कवि को साधारणीकरण की हिचकिचाहट-भरी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

नई कही जाने वाली इस कविता की भाव-सम्पत्ति पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए। वह कौनसी नवीनता है जिसके साधारणीकरण में इतना संदेह और अविश्वास है? निश्चय ही साधारणीकरण में विलम्ब या असामर्थ्य वे ही कृतियाँ उत्पन्न करती हैं जिनकी भावधारा असामाजिक है, लोकरुचि अथवा लोक की आशा-आकांक्षा के प्रतिकूल है, इतनी निजी या वैयक्तिक है कि समाज उसकी उपेक्षा करता है अथवा ऐसी उलझी हुई और रहस्यमय है कि उस तक पाठक की पहुँच नहीं हो पाती। नई काव्य-उपज का अनुशीलन करने पर इनमें से एक या अनेक विशेषताएँ अवश्य दिखाई दे जाती हैं। अनेक रचनाएँ क्षणिक विनोद अथवा भोंडे व्यंग्य की सृष्टि के आगे नहीं जातीं। उन पर किसी प्रकार की सम्मति देना साहित्यिक कार्य नहीं है। आगे बढ़ने पर ऐसी रचनाओं से साबका पड़ता है जिनमें अर्थ-परम्परा टूट-टूट जाती है और पूरी रचना पढ़ लेने पर किसी भावान्विति का बोध नहीं होता। ऐसी रचनाएँ अन्तर्मन से अधिक सम्बन्ध रखती हैं, अतएव जब तक पाठक का अन्तर्मन और उसकी प्रज्ञा उसी साँचे में नहीं ढल जाती, जिसमें रचयिता की ढली है, तब तक वह रचना उसकी समझ के बाहर ही रहेगी। स्थिति यह नहीं है कि कवि अपने भाव-बाहुल्य में इतना प्रगल्भ है कि पाठक को उसकी सम्पूर्ण अभिज्ञता कुछ विलम्ब से होती है, बल्कि वहाँ तो भावधारा की विरलता ही आड़े आती है। वहाँ भावना अन्तर्मन की उसांस-भर है। इस प्रकार की रचनाएँ पश्चिम से हिन्दी में आ रही हैं। इनमें अन्तश्चेतन की प्रतिक्रिया बिना किसी प्रकार का चेतन सूत्र पकड़े व्यक्त होती है। ये रचनाएँ सामाजिक और व्यावहारिक तथ्यों से नितान्त असंपृक्त रहती हैं और कवि के निगूढ़ मन की छाया प्रतिभासित करती हैं। ऐसी कविताएँ हिन्दी में किसी नैसर्गिक प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं कही जा सकतीं। यह निहायत विदेशी कलम है और हिन्दी के लिए बहुत-कुछ बेमानी है। तीसरे प्रकार की कुछ रचनाएँ कवि को समाज अथवा राज्य द्वारा संत्रस्त होने की सूचना देती हैं। सामाजिक व्यवस्था और राष्ट्रीय दायित्व का इन रचनाओं में व्यंग्य हुआ करता है। युग-जीवन के प्रति विरक्ति इन रचनाओं का प्रधान स्वर है। प्रतिक्रिया में कुछ कवि समाज और राज्य को घोर अपराधी ठहराकर अपने लिए अथवा अपने जैसे अन्यों के लिए हर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की छूट चाहते हैं—नैतिक, वैचारिक और क्रिया-सम्बन्धी। एक कृत्रिम विषाद की आड़ में यह छूट माँगी जाती है। जिस प्रकार वह विषाद निजी और अयथास्थान है उसी प्रकार यह छूट भी अनधिकृत है। कहते हैं कि ऐसी रचनाओं में मध्यवर्ग और विशेषतः उसके बुद्धिजीवी अंश का अवसाद और किंकर्त्तव्यता चित्रित हुई है। किन्तु किसी भी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक स्तर पर इन रचनाओं का समाधान नहीं किया जाता।

और भी रंगतें इस नई कविता में हैं, परन्तु जिस मूल वस्तु की उपेक्षा और अवहेलना सर्वत्र की गई है वह है जीवन सम्बन्धी रचनात्मक दृष्टि, कर्मण्यता और क्रियाशीलता। वैयक्तिक या वर्गगत प्रतिक्रियाओं में भी वास्तविकता होती है या हो सकती है, पर उस वास्तविकता का अवलम्ब लेकर राष्ट्रीय स्तर का काव्य उत्पन्न नहीं होता। नई कविता व्यक्ति और वर्ग की प्रतिनिधि होती जा रही है। सामूहिकता और सार्वजनीनता उसके उपादान नहीं रह गए हैं। यहाँ हमें अज्ञेयजी के साधारणीकरण वाले अभिमत की ओर फिर से दृष्टि-निक्षेप करना पड़ता है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। साधारणीकरण के मूल में सामाजिक और सामूहिक संवेदना ही होती है। लम्बी-चौड़ी भूल-भुलैया में भटकने के बाद अन्त में इस तथ्य पर आना ही पड़ेगा कि काव्य की सार्थकता वैयक्तिक सुख-दुःख की भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिक सुख-दुःख की भूमि में पहुँचने में है। यह प्रश्न अन्ततः कवि के व्यक्तित्व का है। वह अपने निजी परिवेश और प्रवृत्तियों से परिचालित होकर अपने व्यक्तित्व को सीमित कर बैठा है, अथवा परिवेश से ऊपर उठकर राष्ट्रीय और मानवीय धरातल पर आ सका है। व्यक्तित्व की इस आत्मसीमित परिधि का अतिक्रमण करने पर ही श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि सम्भव है और श्रेष्ठ काव्य की प्रकृति कभी अवसादमूलक नहीं हो सकती।

पिछले कुछ समय से नई कविता के समर्थन में एक नया तर्क दिया जाने लगा है; वह यह कि नवीन कविता वादों के आग्रह को छोड़कर मानवीय स्तर पर आ रही है। कुछ समर्थकों ने इसे काव्य में नये मानवतावाद का नाम दिया है। यह तथ्य की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक है। पाश्चात्य साहित्य में मानवतावाद और मानववाद के अर्थ को द्योतन करने वाले दो शब्द प्रचलित हैं। मानववाद का पर्याय ह्यूमेनीटेरियनिज़्म है और ह्यूमीनिज़्म को मानववाद कहते हैं। मानववाद के अन्तर्गत शेक्सपियर, मॉनटेन, इब्सन आदि परिगणित होते हैं, जिन्होंने मनुष्य की सम्पूर्ण वृत्तियों का—उसकी सम्पूर्ण शक्ति और दुर्बलता का—निस्संग चित्रण किया है। मानवतावादी लेखक अधिक भावुक और आदर्श-प्रेमी होते हैं। टालसटाय को मानवतावादी लेखक कहा जाता है, क्योंकि उसने अपनी अपार सहानुभूति से पददलित मानव की अशेष निहित शक्तियों और सम्भावनाओं का आलेख किया है। प्रश्न यह है कि प्रयोगवादी काव्य में मानववादी अथवा मानवतावादी दृष्टिकोण कहाँ है और किस प्रकार है? क्या इन रचनाओं में मनुष्य के सुख-दुःख की, उसके मिलन-वियोग, हर्ष-विषाद की सन्तुलित धारणा है या वह एकांगी रूप से व्यक्ति और वर्ग की सीमित आकांक्षाओं और स्थितियों का विज्ञापन है? अब तक जो अधिकांश रचनाएँ हम पढ़ सके हैं, उनमें हमें यह सन्तुलित मानववाद कहीं नहीं दीखता। उसके बदले झूठी विभीषिका में पड़े हुए रोते और कराहते हुए बाबुओं की क्षुद्र अभि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाषाएँ, क्षुद्र चिन्तनाएँ अधिक परिलक्षित होती हैं, अथवा फिर ऐकान्तिक इच्छापूर्तियों और तृष्णाओं का बाहुल्य है। क्या यही मानवतावाद की झाँकी है, यही टाल्सटॉय की प्रतिच्छवि है? हम देखते हैं कि ये लेखक टाल्सटॉय के जीवन-दर्शन से भिन्न—बहुत भिन्न—जीवन-दर्शन के हिमायती हैं। अभी-अभी एक कविता-संग्रह की भूमिका में हमने पढ़ा कि नये लेखक और नये कवि 'क्षण' के महत्त्व को सर्वोपरि मानते हैं। हम नहीं कह सकते कि यह वक्तव्य नई कविता को देखते हुए कहाँ तक ठीक है। यदि इसका अर्थ यह है कि क्षण के अतिरिक्त और कुछ भी सत या सार्थक नहीं है, अतएव आये हुए क्षण का सम्पूर्ण सुखात्मक उपभोग कर लेना है, तो इस क्षणवाद को मानवतावाद का नितान्त विरोधी और विपरीत दर्शन मानना पड़ेगा। मानवतावाद त्याग और आस्था की भूमि पर संस्थित है, क्षणवाद के ठहरने की व्यक्तिगत विलास की भूमि है।

नई कविता के वादरहित स्वरूप पर बल देते हुए एक अन्य समीक्षक ने एक दूसरे अनोखे तर्क का सहारा लिया है। वे कहते हैं कि हिन्दी के पिछले काव्य-युगों में नायक के आधार पर काव्य के लक्ष्य-विशेष की सूचना मिलती थी और वे नायक एक विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों वाले व्यक्तित्व को प्रतिफलित करते थे। उदाहरण के लिए छायावादी काव्य में नायक की रूपरेखा एक विशेष प्रकार की होती थी, जिससे इस काव्य की प्रवृत्ति या भाव-दिशा का परिचय मिलता था। 'कामायनी' के मनु अथवा निराला के 'तुलसीदास' ऐसे ही व्यक्तित्व हैं। इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य के नायक भी अपनी विशिष्टता लेकर आये हैं। इस प्रकार की किसी एकदेशीय विशेषता का आग्रह नई कविता के नायक नहीं करते। यह भी कहा गया है कि नायक का अस्तित्व ही नई कविता से विलीन होता जा रहा है। पता नहीं इस कथन के पक्ष में कौनसे प्रमाण हैं। देखा यह जाता है कि नई कविता में या तो कवि का अहम्-प्रमुख व्यक्तित्व ही व्यंजित होता है अथवा फिर ऐसे व्यक्तित्व और वातावरण की सृष्टि की जाती है जिसमें नायक और उसकी परिस्थितियाँ अन्धकारमयी दिखाई पड़ें। श्री धर्मवीर भारती का नया नाटक 'अन्धा युग', जो कई दृष्टियों से एक सफल कृति है, इसी अनास्था को अभिव्यक्त करता है। तीसरे प्रकार की कृतियाँ वे हैं जो किसी भाव-दृष्टि या चरित्र-रेखा का निर्माण करती ही नहीं। ऐसी रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से असफल ही कही जायँगी, क्योंकि उनमें किसी प्रकार की स्पष्ट ग्राहकता आती ही नहीं। हम नहीं कह सकते कि समीक्षक ने किन नवीन कृतियों का आधार लेकर नायकहीनता अथवा निस्संगता की बात कही है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि नायकहीनता से काव्य के मानवीय दृष्टिकोण का बोध कैसे और किस प्रकार होता है? अधिक सम्भव है कि कविता की निःशक्तता ही नायकहीनता का हेतु हो। जिसे कुछ कहना है वह किसी-न-किसी चरित्र को आधार बनाकर चलेगा ही।

वर्तमान समय में साहित्यिक और काव्यात्मक मूल्यों की अभिज्ञता घटती चली जा रही है। जिन युगों में उत्तम साहित्य की सृष्टि नहीं होती, कदाचित् उन्हीं युगों में साहित्यिक मूल्य भी अज्ञेय रहा करते हैं। पश्चिम की चटकीली पुस्तकों और चंचल प्रतिमानों ने हमारे बीच अव्यवस्था उत्पन्न करने में और भी सहायता दी है। वहाँ अनेक नामों के साथ अनेक प्रसिद्धियाँ लगी हुई हैं। अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणों की अनेकविध प्रशंसा की गई है। किन्तु समाहित रूप में साहित्यिक आकलन की कमी वहाँ भी दूर नहीं हुई। नये-नये वादों के स्रष्टा और संचालक अपने सम्प्रदायों में पूजित हैं। किन्तु सम्पूर्ण साहित्य-जगत् सम्प्रदायों की चर्चा से अनुशासित नहीं हो सकता। सार्वजनिक मूल्यों और मानों का निरूपण और स्थिरीकरण होना ही चाहिए। किसी एक विशेषता या आविष्कार को लेकर चाहे जितनी दुहाई दी जाय, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भूमिका पर उसकी परख भी करनी होगी। सम्भव है नई कविता की बहुत सी उपलब्धियाँ अनुल्लिखित और अनङ्कित रह गई हों। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि नई कविता की विवेचना बहुत अधिक अतिरंजित भी होती जा रही है। पश्चिम में जिस प्रकार विविध साहित्यिक सम्प्रदायों के बीच आत्म-विज्ञापन की प्रथा है उसकी आवृत्ति हम हिन्दी के क्षेत्र में भी कर रहे हैं। किन्तु पश्चिम में राष्ट्रीय भूमिका पर समग्र विवेचन की जो प्रणाली अपनाई गई है उसे हम अब तक नहीं अपना सके। समय बदलता है, समय के साथ स्थितियाँ और रुचियाँ बदलती हैं; साहित्य की पद्धति बदलती है, परन्तु इस अनवरत परिवर्तन में साहित्य के मूलभूत उपादानों और उपकरणों को भुला देना बुद्धिमानी नहीं है। साहित्यिक समीक्षा की सार्थकता इस बात में है कि वह स्थिति और गति, व्ययशील और अव्यय, के चिरकालीन वैषम्यों में अपने को खो नहीं देती, बल्कि निश्चिन्त और निर्विकल्प रूप में अपने-आपको निरन्तर प्राप्त करती रहती है।

ऊपर के संक्षिप्त वक्तव्य से हिन्दी की नई शैली की रचना का जो रूप हमारे सामने आता है, उससे हम इसके भविष्य पर कुछ भी कह सकने की स्थिति में नहीं हैं। हम यह मानते हैं कि छायावाद की काव्यधारा अपने ऐतिहासिक उन्मेष में जो मूल्यवान भेंट साहित्य को दे गई है, उसके पश्चात् नये काव्य की सुस्पष्ट रूपरेखा बनने में समय लगेगा। हम यह नहीं कहना चाहते कि हिन्दी में उस पुरानी शैली की आवृत्ति ही होती रहे। नवीनता काव्य का प्राथमिक उपादान है और पिष्टपेषण उसका अन्तिम अभिशाप। छायावाद की शिष्ट और अलंकृत पदावली तथा उसकी विमोहक कल्पना-छवियों की प्रतिक्रिया होनी ही थी; परन्तु कोई भी प्रतिक्रिया अपने-आप में साहित्यिक मूल्य नहीं रखती। हमें नवीन निर्माण, नये शिल्प, नई वस्तु-योजना और नई समयोचित जीवन-दृष्टि की भी चाह है। इन तत्त्वों के समन्वित योग से जो नई काव्य-प्रतिमा बनेगी उसका स्वागत भी सभी सुधी जन करेंगे। अतिशय भावात्मकता के स्थान पर अतिशय बौद्धिकता स्वभावतः उसका स्थानापन्न बनना चाहती है; संगीत के मोहक स्वरों के पश्चात् कर्कशता का भी एक आकर्षण हो सकता है; हिन्दी-काव्य की कल्पना-प्रवण आध्यात्मिकता के पश्चात् एक नये मांसल प्रकृतिवाद की पुकार भी अनहोनी नहीं है। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि महायुद्ध के पश्चात् हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ भी बड़े वेग से बदली हैं, विशेषकर बुद्धिजीवी वर्ग के जीवन में आपात-परिवर्तन आया है। किन्तु इस समस्त परिवर्तन और स्थित्यन्तर के बीच हम अपना सन्तुलन नहीं खो सकते। हिन्दी-कविता आज अपनी आरोपप्रियता और व्यग्यमयता में उस सन्तुलन को खोती जा रही है, जो राष्ट्र की सबसे मूल्यवान धरोहर है। नये समय में लेखकों और कवियों का दायित्व बहुत बड़ा है, पर वे समझते हैं कि उन पर किसी ने कोई अप्रत्याशित विपत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढा दी है। वे अपने को समाज या राज्य से आहत मानते हैं। उनकी कविता का मुख्य स्वर पीड़ा का द्योतन करता है; इसी पीड़ा की अगली प्रतिक्रिया आत्मपीड़ा में परिणत होती है और तब कविता में शृंगारिक भावना की शारीरिकता ज़ोर पकड़ती है और कवियों को बहुत-कुछ आत्मजीवी और असामाजिक बना देती है। हिन्दी की नई कविता में यथार्थवाद के नाम पर इन्हीं भावनाओं और प्रवृत्तियों की प्रमुखता हो रही है। किन्तु भावना की ऐकान्तिक शून्यता में पग रखते हुए कवियों को विशाल सामाजिक जीवन और उसके घात-प्रतिघातों में मुँह नहीं मोड़ लेना है। नई कविता के उन्नायक यदि हिन्दी-काव्य की संघर्षशील राष्ट्रीय परम्परा को कुछ भी मूल्य या महत्त्व देते हों तो उन्हें अपने रचना-क्षणों में अधिक संयम, शालीनता और दायित्व का परिचय देना ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निबन्ध

डॉ० भगीरथ मिश्र

साहित्यिक सौष्ठव और सामाजिक तत्त्व

साहित्य और समाज का अटूट और अगाध सम्बन्ध है। समाज की जीवन-धारा में साहित्य का कमलवत विकास होता है, समाज के तरु का परिणाम साहित्य का नवनीत है, समाज के शरीर का मुख साहित्य है। वह समाज की धरती पर उगने वाले जीवन का फूल है। समाज के सुख-दुःखों की गंगा-यमुना की धाराओं के संगम पर साहित्य त्रिवेणी और तीर्थराज है। साहित्य सुगन्ध है, साहित्य मधुरिमा है। वह रूप, सौन्दर्य और प्रगति के प्रभाव का साकार चित्र है। वह समाज की बुद्धि का परिणाम और अनुभव एवं अनुभूति का सार है। साहित्य समाज की चिरस्थायी सृष्टि है। व्यक्ति उत्पन्न होते और समाप्त होते हैं, पर साहित्य उत्पन्न होने पर चिरकाल तक स्थिर रहता है, वरन् यह कहा जा सकता है कि उच्च साहित्य तो अमर ही है। साहित्य इस प्रकार समाज की अमर सृष्टि है। उसमें चित्रित जीवन का रूप शाश्वत है। आज हमारे बीच राम, रावण, बुद्ध, ईसा, ईलियड, रुस्तम, दुष्यन्त, सीता, शकुन्तला आदि नहीं, परन्तु साहित्य के बीच वे आज भी जीवित हैं। इतना ही नहीं, जो समाज में कभी नहीं थे, वे भी साहित्य में उत्पन्न हुए और अमर हैं। इस प्रकार साहित्य, समाज की सृष्टि होता हुआ भी, अपने निजी समाज की सृष्टि करता है। अतः साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

समाज की धरती से उखड़ जाने पर या समाज से विछिन्न हो जाने पर साहित्य की स्थिति हवाई है। जब तक एक क्षीण डोरा भी समाज से साहित्य की पतंग को बाँधे रहता है, तब तक वह दूर-दूर तक उड़ता हुआ भी प्रगतिशील, व्यवस्थित एवं सुचालित है, परन्तु यह सामाजिक सूत्र कट जाने पर वह कटी पतंग के समान दिग्भ्रमित होकर व्यर्थ उड़ता है। समाज की प्रबुद्ध चेतना, जो साहित्यकार में निष्ठ रहती है, साहित्यिक सृजन की परिचालिका है, जिसके बिना न उसे समाज की धरती ही मिलती है और न कल्पना का आकाश ही।

साहित्य की सार्थकता तभी है जबकि वह जीवन के प्रति एक अटूट आस्था और प्रबल उत्साह भर दे। जीवन के विविध पक्षों का सौन्दर्य इतने प्रेरक रूप में वह हमारे सामने प्रस्तुत करे कि उसकी विकृतियों को हम दूर करके उसे सुघर बनाने की तत्परता प्राप्त करें। विकृतियाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस रूप में और इस अनुपात में न आएँ कि उसके सौन्दर्य को ढक लें, रूप को बोझिल बना दें और हमारे मन में एक निराशा और निरुत्साह भर जाय। अगति और शिथिलता की सड़ाँद से हम ऐसे ओत-प्रोत हो जायँ कि विकृति के साथ समझौता कर लें। जहाँ साहित्य इस प्रकार की स्थिति में पड़ जाता है वहाँ उसमें असामाजिक तत्त्व प्रधान हो जाते हैं और सामाजिक तत्त्व शीर्ण हो जाते हैं। ऐसी दशा में न केवल साहित्य ह्रासोन्मुख होता है, वरन् समाज भी पतन को प्राप्त करता है।

साहित्यकार के तेजस्वी व्यक्तित्व का तेज साहित्य में सदैव ज्योतित रहना चाहिए। जहाँ पर साहित्यकार तेजस्वी न होकर स्वयं विकारग्रस्त और रुग्ण रूप में आता है, वहाँ हम उसके साथ सहानुभूति भले ही रखें परन्तु उससे कुछ प्रेरणा प्राप्त नहीं करते। ऐसा भी होता है कि उसके विकार का संक्रमण दूसरों पर भी हो जाय। अतः अत्यधिक रोना साहित्य में असामाजिक है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि यदि साहित्यकार की निजी अनुभूति दुःखमयी हो और परिस्थितियाँ भी विषाद और निराशा-ग्रस्त, ऐसी दशा में उसकी प्रतिभा उसके निजी अनुभवों को प्रकाशित करेगी, तो क्या ये समस्त दुःखात्मक अनुभव के प्रकाशन असामाजिक होंगे? इस प्रसंग में उत्तर यही दिया जा सकता है कि यह बात साहित्यकार की निजी प्रवृत्ति एवं सामाजिक भावना दोनों ही पर निर्भर करती है। साहित्य एक सामाजिक अर्थात् समाज के हेतु की गई सृष्टि है, अतः उसमें अपनी वैयक्तिक दुःखानुभूति को सामाजिक धरातल पर, सामाजिक सम्वेदना के रूप में प्रकट करना अधिक उत्कृष्ट है। इस प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदास और प्रेमचन्द का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों के समान दुःख और निराशापूर्ण परिस्थितियाँ और किसी की क्या होंगी या हो सकती हैं? फिर भी, इनके साहित्यों में सामाजिक तत्त्व इतने उदात्त और शुभ्र रूप में प्रतिफलित हुए हैं कि इनकी रचनाएँ हमारे लिए आदर्श का काम करती हैं।

दूसरी शंका यहाँ पर एक और यह उठ सकती है कि व्यक्ति समाज का अवयव है। व्यक्ति ही मिलकर समाज बनाते हैं, तब वैयक्तिक अनुभूतियों का, चाहे वे दुःखात्मक हों या सुखात्मक, साहित्य में प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है। अतः वैयक्तिक निराशा, समाज के भीतर निराशों के प्रति संवेदना जगाने वाली होती है और इस प्रकार सामाजिक संस्कार अधिक संवेदनापूर्ण बनते हैं, तब उनको साहित्य में क्यों स्थान न मिलना चाहिए? बात हमारे सामने यही है कि हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा तथा जीवन में प्रवेश करने का उत्साह यदि साहित्य से मिलता है, तो वह साहित्य का रूप अभिनन्दनीय है। यदि निराशा या दुःखों के चित्रण ऐसे हैं कि वे हमें पीड़ितों या दुःखितों के लिए कुछ करने और सोचने के लिए बाध्य करते हैं, तो वे सामाजिक उद्देश्य को ही सिद्ध करते हैं। परन्तु यदि वे हमें स्वयं ही निराश और अकर्मण्य बनाते हैं, तो वे वांछनीय नहीं हैं। यह प्रभाव साहित्यकार के दुःखानुभूति के चित्रण में व्याप्त दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। देखना हमें यही है कि निराशा और विकृति का चित्रण हमें उसे दूर करने की कोई प्रेरणा देता है या उसके साथ समझौता करके हमारे आत्म-विकास के स्थान पर आत्म-संकोच का प्रेरक बन बैठता है। यदि वह आत्म-विकास को प्रेरणा देता है, तो वह उदात्त है अन्यथा संकीर्ण।

इस प्रकार साहित्य की कसौटी प्रधानतया सामाजिक है। वैयक्तिक आनन्द को देता हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी साहित्य या काव्य का रूप सामाजिक होता है, क्योंकि वह एक साथ ही एक व्यक्ति को नहीं, वरन्, समाज के अनेक व्यक्तियों को उसी प्रकार की अनुभूति प्रदान करता है। सामाजिक अनुभूति और चेतना की पूर्णतया अवहेलना करके साहित्य सामान्यतया नहीं पनप पाता। केवल एक स्थिति इस प्रसंग में सम्भव है, जिसमें समाज पूर्णतया पतनोन्मुख और विकृत हो तथा साहित्यकार एक प्रबुद्ध चेतना का व्यक्ति। ऐसी दशा में वह समाज में व्याप्त भावना के विपरीत उदात्त चेतना का प्रवर्तन करता है और समाज की भर्त्सना के कशा-प्रहार से विकार, आडम्बर और प्रमाद को निकालकर स्फूर्ति एवं उदात्त चेतना प्रदान करता है। कबीर आदि का कार्य इसी प्रकार का है।

साहित्य-सृजन की प्रेरणा भी सामाजिक भावना के अनुकूल होती है, प्रतिकूल नहीं। अधिकतर विद्वानों द्वारा सृजनात्मक प्रेरणा के जो कारण माने गए हैं वे हैं, अभाव आत्म-प्रकाशन, सौन्दर्य-प्रेम, कामना-पूर्ति और आनन्द। यदि हम विचारकर देखें तो इनमें भी सामाजिक सम्बन्ध देखा जा सकता है। साथ ही साहित्यकार जब इनमें से किसी तथ्य से प्रेरित होकर लिखता है, तब वह समाज की भावना का प्रतिनिधित्व भी करता है। अभाव की दशा में वह अपनी अथवा समाज की स्थिति में किन्हीं बातों का अभाव देखता है जो उसकी कल्पना में स्थित आदर्श समाज के भीतर होनी चाहिए। अतएव वह अपनी प्रतिभा द्वारा साहित्यिक सृष्टि करता है, जिसमें उस अभाव की पूर्ति है। इसका एक पक्ष तो वैयक्तिक संतोष है, परन्तु दूसरा पक्ष सामाजिक है। उस अभाव को समाज के बहुत से लोग अनुभव करते हैं, अतः उसकी इस काल्पनिक पूर्ति में उन्हें भी संतोष मिलता है, यह सामाजिक मनोविज्ञान की बात है। पूर्ति न भी हो तब भी अभाव का यथार्थ चित्र साहित्य में आने पर, उसे पूर्ण करने की एक प्रबल भावना हमारे हृदयों में जगती है और यदि कवि या साहित्यकार ने उस दिशा में मार्ग-प्रदर्शन कर दिया, तो हम अपने बीच उस आदर्श को उतारने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

आत्म-प्रकाशन या आत्माभिव्यक्ति, साहित्य-सृजन की मूल प्रेरणा मानी गई है। साहित्यकार का आत्म, लोकमानस में प्रतिष्ठा प्राप्त होता है। उसकी आत्माभिव्यक्ति जैसे समाज के अनेक व्यक्तियों की निजी आत्माभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' या मीरा की पदावली, आत्माभिव्यक्ति होते हुए भी अनेक व्यक्तियों के मन को भाती है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या विकारपूर्ण आत्माभिव्यक्ति का भी लोकानुभव इसी प्रकार विकारी हृदयों में नहीं होगा? मैं कहता हूँ कि अवश्य होगा। साहित्य एक प्रबल और संक्रामक अभिव्यक्ति है और उसका गहरा सामाजिक प्रभाव है, अतः साहित्यकार को यही बात ध्यान में रखते हुए विकृत भावनाओं को ऐसा प्रकाशन न देना चाहिए कि समाज उन्हें अपनाने लगे। विकार का विकार रूप में ही चित्रण करना चाहिए।

सौन्दर्य-प्रेम साहित्यकार की उज्ज्वल प्रेरणा है और इसका बहुत बड़ा सामाजिक महत्त्व है। रूप-गुण के सौन्दर्य के प्रति साहित्यकार सबसे अधिक संवेदनशील होता है। अतः वह इनके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रभावों को चित्रित करने में आनन्द का अनुभव करता है। साहित्य के भीतर आकर ये रूप-गुण के चित्र स्थायी हो जाते हैं और समाज के सौन्दर्य-बोध को प्रकृष्ट करते हैं। यद्यपि उसके द्वारा गृहीत प्रभाव व्यक्ति-सौन्दर्य के होते हैं, पर वे साहित्य में निर्वैय-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्तिकता धारण करके प्रायः आते हैं, अतः सर्वसंवेद्य हैं। राधा-कृष्ण और सीता-राम के सौन्दर्य-चित्रण में कवियों ने न जाने कितने व्यक्ति-सौन्दर्यों की सामग्री ग्रहण की होगी। रीति-युगीन राधा के चित्रण भी इसी प्रकार के हैं। अतः साहित्य में उतरकर सौन्दर्य चिरस्थायी हो जाता है और हमारी सामाजिक सौन्दर्य-भावना का विकास भी करता है। हाँ, यह अवश्य है कि सौन्दर्य की धाराओं को अति रूढ़ न होने देना चाहिए, उन्हें गतिशील बनाये रखना चाहिए। इसके लिए सहज रूप और गुणों पर कवि या साहित्यकार को विशेष ध्यान देना अपेक्षित है।

कामना-पूर्ति तो सामाजिक पृष्ठभूमि की स्पष्ट अपेक्षा रखती है। प्रमुखतया यश और अर्थ की कामनाएँ साहित्य-सृजन द्वारा पूर्ण की जाती हैं। यश-प्राप्ति के लिए तो निश्चय ही ऐसे साहित्य की रचना होनी चाहिए जिसका आदर समाज में हो सके। अर्थ की प्राप्ति के लिए अर्थदाता की इच्छा का ध्यान प्रायः रखा जाता है। अतः वैयक्तिक रुचि के साथ अन्यों की रुचि और सामाजिक रुचि का सम्बन्ध साहित्य से जुड़ जाता है।

आनन्द जिस रचना का प्रेरक है वह निश्चय ही अनुभूति और कल्पना के उस स्तर पर है जिस पर साधारणीकरण होता है, अर्थात् उस रचना से एक साथ बहुत से व्यक्ति आनन्दात्मक अनुभव प्राप्त करते हैं। अतः यह वैयक्तिक आनन्द लोकमानस के स्तर पर होता है। कवि लोकानुभूति का प्रतिनिधित्व करता है। इस आनन्दानुभूति का एक रूप सामान्य लोकानुभूति से उच्चतर स्थिति का है, फिर भी संवेदनात्मक होने के कारण वह निम्नस्तर से भी ग्राह्य हो सकती है। यह आनन्द की स्थिति कुछ अस्पष्ट हो सकती है। साहित्यकार अपनी कल्पना में दूर चला जाता है, अतः यह अस्पष्टता स्वाभाविक है, परन्तु उसके लिए सामाजिक भूमि छोड़ना अपेक्षित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से यह प्रकट है कि साहित्य-सृजन की कोई भी प्रेरणा सामाजिक संवेदना के विरुद्ध नहीं है और इनके द्वारा उत्पन्न साहित्यिक रचनाएँ उदात्त सामाजिक तत्त्वों को अंगीकृत करने के लिए पूर्ण स्वच्छन्द हैं। अब हमें विचार यह करना है कि कौनसे सामाजिक तत्त्व ऐसे हैं जो साहित्यिक उत्थान को प्रेरित करते हैं या उसमें सहायक होते हैं, या जिन तत्त्वों को प्राप्त करने पर साहित्य उत्थान के मार्ग पर अग्रसर होता रहता है।

साहित्यिक उत्थान से हमारा तात्पर्य किसी भी प्रकार के साहित्य का प्रचुर मात्रा में निर्माण नहीं है, वरन् साहित्यिक उत्थान का तात्पर्य उच्च और उदात्त कोटि के साहित्य की रचना है। इसे हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि इसका तात्पर्य शाश्वत् या चिरस्थायी साहित्य की रचना है। साहित्य की रचना के दो पक्ष होते हैं—एक तो वर्ण्य विषय और दूसरा अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति की कुशलता के कारण कभी-अभी वर्ण्य विषय अधिक उदात्त न हो, तब भी साहित्यिक कृति चिरस्थायी हो जाती है। परन्तु उदात्त का तात्पर्य केवल यही नहीं है कि उसमें उपदेशात्मकता या शिक्षा हो, अन्य प्रकार से भी हम उदात्त या उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि कर सकते हैं। अतः साहित्यिक उत्थान के लिए उदात्त सामाजिक तत्त्वों का समावेश होना आवश्यक है। जिन सामाजिक तत्त्वों के समावेश से साहित्य का उत्थान होता है, उनका हम यहाँ विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सबसे पहला तत्त्व है सत्य। सत्य का ग्रहण सामाजिक संघटन के लिए महत्त्वपूर्ण है। अतः सत्य का उद्घाटन साहित्य का दायित्व है। इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज में सत्य का क्या स्थान है एवं सामूहिक सभी प्रयत्न सत्य को ढूँढ़ने और उसे प्रगट करने के लिए हुए हैं। धर्म और दर्शन के उच्च व्याख्याताओं ने अपने विचारों में सत्य का ही उद्घाटन और प्रचार किया। सत्य की खोज में विज्ञान भी दिन-रात संलग्न है, परन्तु इन सबके द्वारा प्रकट किये हुए सत्य में कहीं-कहीं मतवैषम्य भी मिलता है, साथ ही उसका ग्रहण बुद्धि द्वारा होता है। साहित्य सत्य को अपने समस्त सौन्दर्य के साथ ग्रहण कर उसे प्रकट करना चाहता है। यह सत्य सिद्धान्त, नियम, नैतिकता, धर्म, अधर्म, घटना, चरित्र आदि किसी भी रूप में हो सकता है। साहित्यकार सत्य का सजीव रूप में साक्षात्कार करता है और उसे हमें कल्पना और अनुभूति द्वारा ग्रहण कराता है। इस प्रकार सत्य का जितना ही पूर्ण और व्यापक उद्घाटन साहित्य द्वारा हो सके उतना ही वह साहित्य उत्कृष्ट है। तुलसीदास की चौपाई, **परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥ नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरिसम होहिं कि कोटिक गुंजा॥** सत्य तत्त्व का प्रकाशन करने वाली है।

दूसरा तत्त्व है मानवता। साहित्य सत्य के उद्घाटन द्वारा हमें उदार और संवेदनशील बनाता है। साहित्य के लिए मानव-मानव का भेदभाव नहीं। उसकी मानव-भावना मानव-मात्र को एकरूप में समझती है। कहीं का कोई प्राणी साहित्य में चित्रित हो, हम उसके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होते हैं। देश, काल और समाज के बन्धन साहित्य की मानवता के विकास में बाधक नहीं हैं। साहित्यकार की मानवता विश्वबन्धुत्व का सन्देश देती है। उसके लिए समस्त वसुधा मानव-कुटुम्ब है। इतना ही नहीं, साहित्यकार और कवि का समाज तो मानवेतर प्राणियों तक को अपनी परिधि में समेट लेता है। देवता, स्वर्गलोक के निवासी उसके समाज के हैं। पशु, पक्षी, वृक्ष सब उसके सगे हैं। जड़-चेतन का भेद साहित्य के संसार में नहीं है। वह पक्षियों को वाणी-सम्पन्न और पशुओं को करुणार्द्र चित्रित करता है। यह सब असत्य नहीं, व्यापक सत्य है। शकुन्तला के आश्रम के मृग, जायसी का हीरामन सुआ और पक्षी, तुलसी के वानर और रीछ, सूर की गौएँ और गोपाल, जमुना और बंसीबट, सब अनुभूति-संकुल हैं। इतना ही नहीं, आधुनिक कवि भी इस संवेदना को असत्य समझता हो, सो बात नहीं। साकेत में गुप्तजी ने लिखा ही है—

> **टप-टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा में,**
> **झड़-झड़ पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा में।**
> **कर पटक रही थी निम्नगा पीट छाती।**
> **सन-सन करके थी शून्य की साँस आती॥**

इसी व्यापक मानव-संवेदना ने ईश्वर के अन्तर्यामी रूप को पहचाना और प्रतिष्ठित किया। आप इस ईश्वर को मानवता, मानव-चेतना, सामाजिक चेतना जो चाहिए कहिए। वह सभी में व्याप्त है जिसे कबीर कहते हैं—

> **सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।**
> **भाग उन्हीं का है सखी, जिन घट परगट होय॥**

और तुलसीदास जी कहते हैं—

> **जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि।**
> **बंदहु सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि॥**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह भावना मानवता के तत्त्व का ही चरम विकास है। इसमें व्यक्ति समाजमय है। यहाँ व्यष्टि-समष्टि का भेद समाप्त हो जाता है। साहित्य का यही प्रतिपाद्य है। इसे प्रकट कर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। यह मानवता और विश्वबन्धुत्व का भाव साहित्य में हृदय को हृदय से जोड़ता है। यह भाव हमारे हृदय का विस्तार है।

साहित्य के उत्थान का तीसरा तत्त्व है निर्मल चरित्रों का चित्रण। साहित्य का सामाजिक पक्ष प्रबन्ध-काव्यों में ही निखरता है, जिनमें कथानक द्वारा कुछ चरित्रों का स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है। यह एक साहित्य का संसार है। साहित्यकार को प्रेरणा देने वाले निर्मल चरित्र रोचक अथवा प्रभावशाली व्यक्तित्व होते हैं। चरित्र-चित्रण के प्रसंग में आदर्श और यथार्थ का प्रसंग उठाना अनावश्यक है। बड़े-से-बड़ा साहित्यकार यथार्थ की पृष्ठभूमि में ही किसी आदर्श चरित्र का उद्घाटन करता है। ऐसा आदर्शवाद वांछनीय नहीं, जो यथार्थ की अवहेलना करे या उसकी हत्या ही कर दे। लोकानुभव यह भी है कि सज्जनों के सत्कार्य का सुपरिणाम भी मिलता है, और यह भी है कि सज्जनता के दुष्परिणाम प्राप्त होते हैं। सत्य और यथार्थ यही है कि इस प्रकार के परिणाम वास्तविक एवं स्वाभाविक पृष्ठभूमियों पर दिखाए जायँ। प्रेमचन्द का 'गोदान' यथार्थवादी उपन्यास है, परन्तु उसका पात्र होरी एक आदर्श चरित्र है जो कर्तव्य और सत्यता तथा मर्यादा पर अपना सब-कुछ स्वाहा कर देता है। समाज में उसे अपने पुण्य का फल नहीं मिला। पर ऐसे चरित्र हमारे हृदय में घर कर जाते हैं, वह अपने निर्मल चरित्र के कारण ही तो। यह निर्मल या उदार चरित्र एक क्षेत्रीय भूमि पर है। देशव्यापी या विश्वव्यापी भूमि पर जो चरित्र अपने सद्गुणों को प्रकट करता हैं, वह निश्चय ही राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि के समान होता है। अतः हमें देखना यह है कि जिस चरित्र का चित्रण हुआ है, वह सच्ची वास्तविक भूमि पर कितना विकसित हुआ है। यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं माना जा सकता कि दुष्टों, दुर्जनों, छलियों और कपटी लोगों का ही चित्रण किया जाय, क्योंकि समाज में सज्जन व्यक्ति भी बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं और यह भी जीवन का वास्तविक यथार्थ है।

चरित्र-चित्रण में उदात्त गुणों का उद्घाटन सामाजिक उत्थान का प्रेरक होता है। उससे हमारे मन में उच्चता, चरित्र में दृढ़ता और हृदय में उत्साह प्राप्त होता है। अतः सामाजिक हित के लिए त्यागी, उदार, तेजस्वी, अन्याय का विरोध करने वाले तथा जिनमें समाज के नेतृत्व के गुण हों, ऐसे व्यक्तियों के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला जाना चाहिए। उनके सभी कार्यों का पुरस्कार ही मिले यह उचित नहीं। आपत्ति, कठिनाई, विरोध, सभी उनके जीवन में आने चाहिए। इस प्रकार के चित्रणों से साहित्य उत्कृष्ट होता है और उच्च गुणों की समाज में प्रतिष्ठा होती है। ऐसे चरित्रों के साथ दुष्ट, कपटी, क्रूर पात्रों का भी चित्रण होना आवश्यक है। महाकाव्य में नायक के चरित्र को उदात्त गुणों से ओत-प्रोत माना गया है। उसके सामाजिक सत् प्रभाव की प्रतिष्ठा के हेतु **'क्वचिन्निन्दा खलादीनां, सतां च गुण कीर्तनम्'** अर्थात् दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा का भी विधान है। परन्तु यह सब चित्रण विश्वसनीय और स्वाभाविक होना चाहिए, भौंडा और हास्यास्पद नहीं। यह दूसरा पक्ष कला से सम्बन्ध रखता है।

सत्य के प्रसंग में ही यह कहा जा चुका है कि साहित्य सत्य को अपने समग्र रूप में प्रस्तुत करता है, वरन् उसके सुन्दर रूप का उद्घाटन करता है। सौन्दर्य का चित्रण ही साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को इतना मोहक और रमणीय बनाता है। अतः साहित्यकार जीवन के विशाल अगाध खारे समुद्र से हाहाकार, गर्जन-तर्जन के बीच भी रत्नों को प्रकाशित करता है। यह सौन्दर्य-चित्रण रूप का भी होता है और गुण का भी। साहित्य ने जो रूप और सौन्दर्य की सृष्टि की है, आज हम और हमारा समाज उसी से सौन्दर्यवान् हैं। साहित्य का सौन्दर्य तिहरा है—रूप का सौन्दर्य, गुण का सौन्दर्य और अभिव्यक्ति का सौन्दर्य। रूपात्मक सौन्दर्य-सृष्टि हमारे हृदय को कोमल और सुकुमार बनाती है तथा रूप को हम कोमलता एवं मृदुता के साथ देखने का संस्कार प्राप्त करते हैं। उसके प्रति कोमलता का भाव हमारे हृदय में जाग्रत होता है। सौन्दर्य की सहज प्रक्रिया यह है कि हम उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं और विकृत एवं नष्ट होने से बचाना चाहते हैं। यह हमारे हृदय को कोमल और दृष्टि को सूक्ष्म तथा कल्पना को प्रसन्न बनाता है। ये रूप-चित्र हमारे मन की धरोहर होते हैं। हम उन्हें संजोकर रखना चाहते हैं। पैर की ललाई और गति का गतिमय रूप-चित्र देखिए—

> पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन द्युति झूलि।
> ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूलि॥

इसी प्रकार मतिराम का एक रूप-चित्र है—

> कुन्दन को रंग फीको लगै, झलकै असि अंगन चारु गुराई।
> आंखिन में अलसानि चितौनि मैं मञ्जु विलासन की मधुराई।
> को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लखे अंखियान लुनाई।
> ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकसै ह्वै निकाई॥

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। रूप का प्रभाव तो हमारे हृदय पर पड़ता ही है। गुण का सौन्दर्य रूप-सौन्दर्य को पुष्ट करता है और हृदय पर प्रभाव डालता है। हम इस सौन्दर्य से युक्त व्यक्ति के प्रति स्नेह, प्रेम, सम्मान, श्रद्धा आदि के भावों से ओत-प्रोत हो जाते हैं और इस प्रकार हमारे सद्गुणों के संस्कार बनते हैं। अतः यह सौन्दर्य-चित्रण साहित्य का सामाजिक तत्त्व है, जिसका जितना ही विकास हो उतना ही अच्छा।

अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य वर्ण्य-विषय से नहीं, वरन् उसके प्रकाशन की कला से सम्बन्ध रखता है। साहित्य अभिव्यक्ति पर सबसे अधिक निर्भर है। अभिव्यक्ति ही तो साहित्य का असली रूप है। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य के बिना तो उत्तम-से-उत्तम विषय भी प्रभावहीन है। अभिव्यक्ति भी एक सामाजिक तत्त्व है। इसके द्वारा ही व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध है, व्यक्ति-व्यक्ति का सम्बन्ध है। यदि अभिव्यक्ति नहीं, तो हम अपने सुन्दर-से-सुन्दर भाव से भी किसीको प्रभावित नहीं कर सकते। अभिव्यक्ति सौन्दर्य ही अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के रूप में प्रकट होता है। अभिव्यक्ति चाहे जितनी सुन्दर और उत्कृष्ट हो, है साधन ही। अभिव्यक्ति को ही साध्य समझ लेने से साहित्य का उत्थान रुक जाता है। जब वह साधन है, तब उत्कृष्टता और सौन्दर्य के साथ पर-संवेद्यता का गुण भी उसमें होना चाहिए, अर्थात् दूसरे व्यक्ति उसमें कही हुई बात को भली भाँति सम्पूर्ण प्रभाव के साथ ग्रहण कर सकें यह आवश्यक है। इस प्रकार सरलता और सुगमता उसका प्रधान गुण है। गोस्वामी तुलसीदास के काव्य का आदर्श प्रकट करने वाली पंक्तियाँ इसी प्रकार की मान्यता प्रकट करती हैं। वे कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरल कवित कीरति विमल, सुनि आदरहिं सुजान ।
सहज वैर विसराय रिपु, जो सुनि करैं बखान ।।

इस प्रकार सरलता, अभिव्यक्ति की विशेषता और विमल कीर्ति वर्ण्य-विषय की विशेषता तुलसीदास के आदर्श के अनुसार ठहरती हैं। लोकहित तो समस्त साहित्यिक कृतियों का उद्देश्य होना ही चाहिए। यह गोस्वामीजी का निश्चित मत है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई । सुरसरि सम सब कहँ हित होई ।।

साहित्य रमणीय वाङ्मय है। कालिदास की उक्ति 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः' के अनुसार रमणीयता का स्वरूप नितनवता का है। जो सदैव नव्य हो, वही साहित्य है। इस नव्यता के लिए साहित्यकार भव्य कल्पना का प्रयोग करता है। कल्पना वस्तु, तथ्य या घटना के मनोरम चित्र प्रस्तुत करती है और इन चित्रों में ही नवता और रमणीयता का निवास है। अतः भव्य कल्पना भी साहित्य का एक तत्त्व है, जो उसे श्रोता या पाठक के लिए ग्राह्य बनाता है। भव्य कल्पना द्वारा प्रस्तुत वस्तु, तथ्य आदि हमारे मानस में घर कर लेते हैं, जैसे—

उमगि हिये ते आयो प्रेम को प्रवाह, ताते लाज गिरी परी तरुवर तीर को।—मतिराम

× × ×

लोग मेरे नीर में सावन समझ कर डूबते हैं।
डबडबाती आँख के मोती चुराकर गा रहा हूँ।
लोग मेरे दीप को सूरज समझकर जागते हैं।
मैं सभी के स्नेह में बाती डुबोकर गा रहा हूँ।—वीरेन्द्र मिश्र

× × ×

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीन की लौ रोती है।
अरी हृदय को थाम महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है।

× × ×

छिलके उठते जा रहे, नया अंकुर मुख दिखलाने को है।
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा आकाश नया आने को है।

यह भव्य कल्पना साहित्य के उत्थान के लिए अपेक्षित है। इस भव्य कल्पना के साथ-साथ दूसरी वस्तु जो समाज को प्रभावित करती है और हमारे मर्म पर प्रहार करती है, वह है भावुक व्यंग्य। बौद्धिक व्यंग्य में तो प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है और हम थोड़ी देर के लिए प्रेरित होकर रह जाते हैं, परन्तु भावुक व्यंग्यों की मार रह-रहकर कसकती रहती है। हमारे लोकगीत इन भावुक व्यंग्यों से भरे पड़े हैं, जिनमें प्रकृति की संक्षिप्त पृष्ठभूमि में बड़े मार्मिक चित्र हमारे सामने आते हैं और उनमें सामाजिक विषमता, दुर्व्यवहार, गरीबी, अनैतिकता, कर्कशता आदि व्यंग्य से प्रकट रहती हैं। यह भावुक व्यंग्य, जो लोकगीतों की निधि है, यदि कविता में हमारे कविगण उतार सकें तो वास्तव में आज के काव्य में मार्मिकता स्वतः आ सकती है। कुछ कवि लोकगीतों के उन्नयनशील तत्त्वों को अपनी रचनाओं में उतार भी रहे हैं। ये दो बातें अभिव्यक्ति सौन्दर्य से सम्बन्धित थीं।

एक और सामाजिक तत्त्व का उल्लेख करके हम यह वक्तव्य समाप्त करते हैं। यह है लोकानुभव या लोकनीति का तत्त्व। संस्कृत काव्य की अनेक सूक्तियाँ सूत्र-मंत्रवत प्रचलित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घाघ की कहावतें हमारे ग्राम-समाज के घर-घर में घर कर बैठी हैं। तुलसीदास, कबीरदास आदि की सूक्तियाँ जन-जिह्वा पर नाचती रहती हैं। इन सूक्तियों में लोकानुभव व्यक्त हुआ है। ये लोक-नीति का काम करती हैं। ये कवि के जीवनानुभव का निचोड़ हैं। ये हमारा मार्ग प्रशस्त करती हैं और विविध प्रकार के अनुभव से हमें लाभान्वित कराती हैं। अतः साहित्य में लोकानुभव और लोकनीति का भी प्रकाशन होना चाहिए। ये सूक्तियाँ उपदेशात्मक, व्यंग्यात्मक होती हुई भी सरस हैं, जैसे—

चाह गई चिन्ता मिटी मनुआ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिए सोई साहंसाह॥
पात पात को सींचिबो, बरी बरी को लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहंके कहु कौन॥
तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन॥
तुलसी तृण जलकूल को, निरबल निपट निकाज।
कै राखै कै संग चलै, बाँह गहे की लाज॥

तीसरे दोहे में तो ऐसा भावुक व्यंग्य है कि वह मर्मस्पर्शी प्रभाव डालता है। ये लोकानुभव कवि के अनुभव के रूप में अभिव्यक्ति पाकर साहित्य के जगमगाते रत्न बन जाते हैं। ये सूक्ति-मुक्तावलियाँ किसी भी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य के उत्थान के लिए प्रेरक उसका सामाजिक दृष्टिकोण है और उसके सहायक सामाजिक तत्त्व हैं, सत्य, मानवता, निर्मल चरित, सौन्दर्य, भव्य कल्पना, भावुक व्यंग्य और लोकानुभव की अभिव्यक्ति। भावुक व्यंग्य और निर्मल चरित्र-चित्रण के भीतर रस का समावेश स्वतः हो जाता है। इन सामाजिक तत्त्वों से युक्त होकर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। ऐसा साहित्य समाज का भी उत्थान करता है। इस प्रकार के साहित्य-सृजन के लिए साहित्यकार को साधना, तपस्या और अनुभव अर्जन करने की अपेक्षा होती है। यह साहित्य समाज में समभाव का प्रसार करता है। इसी प्रकार के साहित्य की तुलना देव-मंदिर से करते हुए हमारे एक कवि ने कहा है—

जय देव मंदिर देहली,
समभाव से जिस पर चढ़ी।
नृप हेम मुद्रा और रंक बराटिका।
मुनि सत्य सौरभ की कली,
कवि-कल्पना जिसमें खिली।
फूले फले साहित्य की यह वाटिका।

कवि के स्वरों में स्वर मिलाकर हम भी इस साहित्य की वाटिका के फूलने-फलने की कामना करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो० विष्णुप्रसाद र० त्रिवेदी

रस, सौन्दर्य और आनन्द

साहित्य के सभी प्रकार—गीतिकाव्य हो या प्रबन्धकाव्य, कहानी हो अथवा उपन्यास—सभी में अभीष्ट रूप में जीवन के उपादान प्राप्त हैं। जीवन को हम एक निश्चित समयावधि में ही देख सकते हैं, इसलिए उसमें हम सप्रयोजन आकृति, स्वरूप या केन्द्र का पता नहीं पा सकते। स्वरूप तो हम संवेदना से, बुद्धि से, दृष्टि से और कल्पना से रचते हैं। जीवन को प्रवाहरूप कहने का तात्पर्य इतना ही है कि इसमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष गति है, किन्तु इस गति की दिशा या सार्थकता स्पष्टतया ज्ञात नहीं होती। जीवन एक असीम सागर है; शतसहस्र उप-सागरों को और छोटे-बड़े नालों को तथा अनेक नदियों को अपने अन्दर समाहित करने वाला महासागर है। उसमें अपार लहरें, ज्वार और भाटा तथा ऊपर दृश्यमान गति के अतिरिक्त अनेक अदृश्य प्रवाह हैं। केवल हमारी दृष्टि या प्रतिभा ही इसमें रूप का दर्शन कर सकती है।

हमारे दृष्टिबिन्दु से सतत गतिशील काल में फैले हुए जीवन को रूप (Design) या आकार मिलता है। संस्कार, शिक्षा और कल्पना की सिद्धि से युक्त सर्जक बुद्धि या प्रज्ञा से जीवन में अर्थ और रूप (रूप का अर्थ है सहेतुकता, सार्थकता) देखता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक विशेष दृष्टिबिन्दु से की गई कल्पना अयथार्थ है; ऐसा रूप स्थापित कर सकने की क्षमता, सम्भावना इस अनन्त जीवन में विद्यमान है, ऐसा माना जाना चाहिए। एक सापेक्ष आकृति, विशेष दृष्टिकोण से देखा हुआ रहस्य, समग्र जीवन का प्रतिनिधित्व भी कर सकता है। अन्यथा ऐसे दर्शनों में सच और झूठ की हमारी कसौटी अपर्याप्त है। फुल्लकुसुमित बबूल काँटों से युक्त होता हुआ भी सुन्दर है। सायंकालीन सुषमा में उसे देखकर कवि नर्मद (गुजराती का एक सुप्रसिद्ध कवि) आनन्द में विभोर हो गया था। प्रातः या सायंकाल इसका छायाचित्र कभी-कभी मनोरम बन जाता है। इस रमणीयता को यथार्थ क्यों नहीं कहा जा सकता ? फिर भी इसके द्वारा वृक्ष की पूर्णता का ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है। मानव-जीवन का प्रश्न भी ऐसा ही विकट और जटिल है।

जीवन की सामग्री को अनायास रूप दे देने वाले प्रसंग व्यक्ति के जीवन में बार-बार आते हैं। किसी स्थान से या मित्र से दीर्घकाल के लिए बिछुड़ते हों, तो वह क्षण भूतकाल की कई बातों को आकृति देने वाला साधन बन जाता है। स्मृति में जड़ीभूत बने हुए संस्कार जाग्रत होते हैं, अपनी तीव्रता के अनुसार वे प्रभावपूर्ण होते हैं। इन संस्कारों के प्रकाश और छाया के मिश्रण से किसी रूप की आकृति मन में बन जाती है। इस प्रक्रिया का स्वाभाविक अन्त मिलन, विरह या मृत्यु ही है और इस अन्त को रहस्यमय बनाने वाली, अनिवार्य बनाने वाली, समझाने वाली अथवा एक प्रश्नचिह्न होकर भी सार्थक करने वाली घटनाओं को कल्पना अनुभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में से चुन लेती है। तात्पर्य यह है कि वास्तविक जीवन में भी विशेष प्रसंगों पर पात्र, परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से मन में विशेष आकृति उपस्थित हो जाती है।

सर्जक ऐसी वास्तविक घटनाओं की प्रतीक्षा के लिए बैठा नहीं रहता। उसकी जीवनदृष्टि या तो निश्चित होती है और ऐसा होने पर अपने अनुकूल जीवन-सामग्री को वह ले लेता है, अथवा उसे ऐसा मोड़ दे देता है। निश्चित जीवनदृष्टि के अभाव में बुद्धि उदार होने पर भी कभी-कभी किसी रहस्य को सूचित करने वाली प्रसंग-परम्परा दिखाई पड़ जाती है। वास्तविक जीवन में नियामक तत्त्वबिन्दु अनायास ही प्राप्त हो जाता है। सर्जक के पास जीवन-सामग्री अंशतः अथवा पूर्णतः रूपविहीन आकृति में विद्यमान है। दीवार पर की लकीरों में अथवा भूमि पर पड़े हुए पानी में से जिस प्रकार गौतमबुद्ध, नटराज या अजन्ता की अप्सराओं की आकृति दिखाई देती है, उसी प्रकार जीवन के उपादानों के कुछ प्रकार प्रतीत होते हैं। फिर जैसे कोई निठल्ला कलारसिक उन रेखाओं को दृढ़ कर देता है, उसी प्रकार साहित्यसर्जक अपनी कल्पना के अनुसार रूपयोजना निश्चित कर देता है। जीवन से प्राप्त उपादानों के तात्पर्य की कल्पना में सर्जक का मन वैज्ञानिक की भाँति काम करता है। परन्तु वैज्ञानिक वस्तु-तथ्य को बदल नहीं सकता, उसे विशेष स्वरूप देने के लिए काट-छाँट नहीं कर सकता; इतना ही नहीं, अपितु कोई बात कल्पना के अंशतः भी बाधक हो जाय तो अपनी ऊहा (Hypothesis) या कल्पना ही बदलनी पड़ती है। इसमें कोई दूसरा उपाय है ही नहीं। साहित्यकार अधिक स्वतन्त्र है। जिसकी केवलमात्र झाँकी ही मिली है, ऐसे अन्त या तात्पर्य को भी निश्चित मानकर तदनुकूल जीवन का स्वरूप गढ़ लेता है। तात्पर्य ही उसका प्रयोजन है और वह तात्पर्य सहज ही प्रकट हो सके, ऐसे अंश उसे इष्ट होते हैं तथा उन्हीं को वह अंगीकार करता है। अतः प्रत्येक घटक में सप्रयोजनता रहती है। सर्जन-व्यापार में इसका अर्थ यह हुआ कि आकृति की प्रत्येक कल्पना में सर्जक की बुद्धि अव्यवस्थित और सार्थकताविहीन जीवन-उपादान में से अर्थ और रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न करती है। उस रहस्य या अर्थ को निश्चित करके तदनुकूल पूर्वोक्त उपादान को व्यवस्थित करती है, परिष्कृत करती है, आवश्यकतानुसार परिवर्तित भी करती है। इस प्रकार उसकी चेतना में समग्र विभावना या कल्पना उपस्थित हो जाती है, जो शब्दों में मूर्त होने का प्रयत्न करती है, अर्थात् कल्पना के पूर्व और कल्पना के अभिव्यक्त होने तक इस व्यापार में आरम्भ से अन्त तक और अन्त से आरम्भ तक क्रिया-प्रतिक्रिया चलती ही रहती है।

अन्तःउपादान की अनुनेयता (Flexibility) और रूपक्षमता के कारण सर्जक की जीवनदृष्टि साहित्यिक रचना-विधान में एक नियामक तत्त्व बन जाती है। जिसकी दृष्टि संस्कारक्षम है, जो आँख-कान खोलकर रहस्य को ढूँढने के लिए विचरता है, वह विशेष तटस्थ साहित्यकार हो सकता है। उसके सर्जन का हेतु केवल सौन्दर्य हो और तात्पर्य या रहस्य केवल उसी के अधीन रहे, ऐसे लेखक की भिन्न-भिन्न कृतियों में प्राप्त जीवन-दर्शन कहीं पर संगत और कहीं पर असंगत प्रतीत होता है। किसी वाद के अनुयायी या निश्चित जीवनदृष्टि वाले सर्जक में ऐसा नहीं होगा। साहित्य का सौष्ठव और औचित्य तथा रसतत्त्व की रक्षा करते हुए भी वह ऐसे रूपविधान की रचना करेगा, जिसमें अभीष्ट विचारों की पूर्ण अथवा आंशिक सुसंगत अभिव्यक्ति प्राप्त होगी। पूँजीवादी, समाजवादी या सर्वोदयवादी, नियतिवादी, मांगल्यदर्शी, असारदर्शी या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य किसी निश्चित विचारसरणी का अनुयायी अपनी अभीष्ट व्यंजना अनुमोदन करने वाला रूपविधान ही बहुधा प्रस्तुत करता है। वह कुशल कलाकार नहीं होगा तो उसकी कृति में कृत्रिमता आ जायगी, उसका प्रतिपादन शिथिल और अविश्वसनीय होगा। महान् लेखकों ने भी जब ऐसे निश्चित विचारों का वरण करके स्वाभाविकता और सौन्दर्य का त्याग किया है, तो फिर मध्यम सर्जक का, अभीष्ट विचारों का कला द्वारा प्रतिपादन करते हुए, कृत्रिम बन जाना असम्भव नहीं।

चाहे उपन्यास हो, नाटक हो या कहानी—ऐसी कृतियों में प्रारम्भ, मध्य और अन्त तक, कथाप्रवाह की विविध सम्भावनाओं में से लेखक अपनी कल्पना के अनुसार किसी एक को चुन लेता है। प्रारम्भ अथवा मध्य की घटना में अनेक प्रकार के अन्तों की सम्भावना निहित है। लेखक इनमें से एक अन्त को चुन लेता है। किसी वाद का प्रचारक या प्रस्थापक होने पर वह उसे सचेष्ट रूप से चुनता है, अन्यथा संस्कार, परम्परा या लोकरुचि के अनुसार अन्तों का चुनाव अपने-आप हो जाता है। महाभारतकार ने सुयोग्य चुनाव कर लिया है, कालिदास ने शाप और शाप के निवारण की योजना का चुनाव कर लिया है। कथावस्तु को इसी रूप में रखते हुए भी यूरोपीय कलाकारों ने शायद इस अन्त को बदल दिया होता। 'सरस्वतीचन्द्र' (एक गुजराती उपन्यास) की कथा की भूमिका बदले बिना व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी कोई लेखक कुमुद और कुसुम की कथा का अन्त भिन्न प्रकार का बना देता। कुशल कथाकार इसमें परिणाम की स्वाभाविकता दिखा सकता था। परन्तु मौलिक ग्रन्थ के अन्त और इस अन्त के सम्बन्ध में कला-सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठता का प्रश्न बना ही रहेगा। जहाँ तक कथा की भूमिका एक ही प्रश्न को प्रस्तुत करती है, वहाँ तक दो भिन्न दृष्टि वाले सर्जक भी उसे एक समान रख सकते हैं। भिन्न-भिन्न कथाओं में मुख्य प्रश्न भिन्न-भिन्न स्थान पर आ सकता है। किसी में अन्त के समीप हो सकता है, तो किसी में लगभग बीच में। यह सच है कि छोटी कहानियों में प्रारम्भ और अन्त के समीप होने से उनमें परिवर्तन की सम्भावना कम है, किन्तु असम्भव नहीं है। खण्डकाव्यों में तथा गीतिकाव्यों में भी वही भूमिका रखकर अन्त की भिन्नता सम्भव है। मणिशंकर भट्ट ने अपनी कुछ कविताओं का अन्त परिवर्तित करके उसकी मूल संवेदना को ही बदल दिया है। रामनारायण भाई को 'वैशाखनो बपोर' (वैशाख का मध्याह्न) में मानवता के पुरस्कार के स्थान पर नियति की क्रूरता दिखानी होती, तो मजदूरों की मण्डली ने भी भूखे पिता-पुत्र का तिरस्कार किया होता—मजदूर लोग पिता-पुत्र के साथ अपना खाना बाँटकर खा लेते हैं, यह अन्त अनिवार्य नहीं है, परन्तु असम्भव भी नहीं है। सभ्य समुदाय में से भी रोटी देने वाले की सम्भावना थी, किन्तु कवि को यह सम्भावना इष्ट नहीं और न काव्य-प्रयोजन के लिए अनुकूल।

यह चर्चा कृति के सौष्ठव और रसतत्त्व के चिन्तन के सम्बन्ध में समीचीन है। कृति छोटी हो या बड़ी, कहानी हो या उपन्यास, उसका उपादान संगुम्फित और रूपविधान सुनिश्चित होना चाहिए। परिस्थिति, पात्र, घटनाओं तथा कथोपकथन में जितनी ही सुसम्बद्धता हो उतना ही उसको रूप-सौष्ठव प्राप्त होता है। सम्पूर्ण योजना अन्त के साथ जितनी अपरिहार्य रहेगी उतनी ही उसकी कलात्मकता की सफलता विशिष्ट मानी जायगी। हो सकता है कि कोई कृति किसी विशेष दृष्टि का, अथवा शृंगार आदि किसी रस का प्रतीक बन जाय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामग्री के नियोजन पर ही रस के स्वरूप तथा आनन्द की सूक्ष्मता का आधार रहता है। कृति का प्रारम्भ प्रणय से हो और अन्त भी प्रणय-सुख में हो तो उस कृति का प्रधान रस शृंगार होगा, परन्तु कृति का अन्त करुण होने पर प्रारम्भिक शृंगार केवल उसका पोषक होगा और कृति की भावना करुण रस की ही होगी। सर्जन के पूर्वापर अंश सप्रयोजनता के साथ कार्य-कारण की शृंखला में आबद्ध हैं। इस परम्परा में कार्य का प्रभाव कारण पर नहीं पड़ता, परन्तु रसास्वादन में वैसी बात नहीं है। अन्त सम्पूर्ण कृति को उठा सकता है, या बिगाड़ भी सकता है, सम्पूर्ण कृति के रसतत्त्व को सार्थक अथवा निरर्थक बना सकता है। कभी मन अन्त जानने की उत्सुकता में व्यग्र हो करुण को विलीनकर हास्य या हर्ष की निष्पत्ति करता है, किसी उलझन को अनुकूल बनाने की इच्छा रखते हुए भी उसका अन्त अतिशय करुण बन जाता है और यह अन्त समस्त सौन्दर्य तथा रस में व्याप्त हो जाता है। परन्तु यह ज्ञान सम्पूर्ण कृति का आनन्द लेने के बाद ही सम्भव हो सकता है। सम्पूर्ण भावों का और सभी सुखद संवेदनों का आकलन होकर कृति के हृदयंगम करने से अन्त में तल्लीन करने वाली किसी विशिष्ट अवस्था का साक्षात् अनुभव होता है। यही सौन्दर्यबोध है। यह सच है कि कर्ता द्वारा लोकप्रसिद्ध वस्तु ली जाने पर रस की विशिष्टता के आस्वाद की अनुकूलता मन को पहले से ही प्राप्त रहती है, परन्तु जहाँ हम निष्पत्ति के कारणों की क्रमबद्धता का विचार कर रहे हों वहाँ यह बात समीचीन नहीं है।

इस विषय में भारतीय संगीत के रागों के आस्वादन और साहित्य-कृति के आस्वादन में बड़ा भेद है। राग के प्रारम्भ होते ही आप उसे पहचानकर उसकी लीला में प्रकट होने वाले भावों की कल्पना कर सकते हैं, अथवा उस भाव का आस्वादन आप पहले से ही ले सकते हैं। काव्य में यह सम्भव नहीं है और इस हद तक तो सम्भव ही नहीं है। भारतीय रागों में भी रस-निष्पत्ति की अपेक्षा चेतना की आह्लादक वृत्तियों का ही अनुभव किया जाता है। चित्त का विकास या उत्कर्ष, चित्त की प्रसन्नता, चित की आर्द्रता—अर्थात् ओजस, प्रसाद या माधुर्य जैसे गुणानुभवों—का साक्षी हो सकता है। ये सब मन की ऐसी साधारण अवस्थाएँ हैं कि उन्हें रस का नाम नहीं दिया जा सकता। किसी राग की पीठिका में कोई पंक्ति मीरा या सूरदास की हो और उसकी पुनरावृत्ति में अपनी कल्पना को भाव से मिलाकर रसानुभव करें तो यह एक अलग बात है। इसमें भी इतना तो स्पष्ट ही है कि 'मेरे रघुवीर' के आवर्तन की अपेक्षा 'सुनी मैं हरि आवन की आवाज' के आवर्तन में रसोत्पादक भूमिका अधिक मात्रा में है। रागों में प्रयुक्त गीत-पंक्ति का इस दृष्टि से विचार होना चाहिए। कला के आस्वादन में तटस्थ मन सब द्वारों को खुला रखकर अनेक संस्कारों को अन्दर बहने देता है, हृदय की विशालता एक कला के आस्वादन में दूसरी कलाओं का भी आस्वादन करती है। गीतिकाव्य में संगीत का और संगीत में गीतिकाव्य का अनुभव होना एक सामान्य तथ्य है। जो कलाभावक काव्य के विषय में यह मानते हैं कि उनका कर्त्तव्य तो किसी विशिष्ट रमणीय स्थिति में चित्त को पहुँचा देना है, शेष कार्य चित्त ही अपनी स्मृति और संस्कार से कर लेगा, उनकी यही गलती है। ऐसे काव्यों में वस्तुतः संगीत का तत्त्व काव्य के तत्त्व में मिल जाता है। काव्य में शब्द और अर्थ का साहित्व समान रूप से इष्ट है। शब्द के बिना अर्थ का आश्रय नहीं, वैविध्य नहीं, विशिष्टता या निश्चितता नहीं है। शब्द की गति के बिना अर्थ की गति नहीं, उसका नियमन नहीं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकार नहीं है। इसलिए काव्य को 'शब्दार्थो' से पहचानते हैं। यदि शब्द और अर्थ में तारतम्य करना ही हो तो काव्य को अर्थ की कला कहेंगे, शब्द की, लय की या भौतिक ध्वनि की नहीं।

इस प्रकार सर्जन और आस्वादन व्यापार की परीक्षा करें तो साहित्य के मुख्य प्रयोजन आनन्द के विषय में भी विचार उत्पन्न होते हैं। यह सच है कि आह्लाद और आनन्द का कोई उत्कृष्ट स्वरूप साहित्य-परामर्श में अनुभव किया जाता है, परन्तु किस साहित्य में और कहाँ होता है इसकी जाँच की जानी चाहिए। किसी भी कृति के आस्वादन के सम्पूर्ण स्वरूप का विचार करें तो भी उसके विशिष्ट तत्त्व कहीं से तो आते ही हैं और उस विशिष्ट तत्त्व का आधार, कवि का लक्ष्य तथा उसकी उपलब्धि पर आश्रित है। 'मध्य रात्रि में कोयल' काव्य का आनन्द-तत्त्व, 'सुदामा चरित' का आनन्दतत्त्व, 'शाकुन्तल' और 'ऑथेलो' का आनन्दतत्त्व क्या एक ही है? एक ही मात्रा का है? इस आनन्द का मूल कर्ता के अभीष्ट और सिद्ध किये हुए अन्त में है, वस्तु के निरूपण में है, विषय को दिये गए घुमाव में है।

रमणीयता या सामान्य अर्थ में सौन्दर्य (रमणीयता में भव्य और रौद्ररम्य (Sublime), सुन्दर (Beautiful) और चारु (Pretty, graceful) का समावेश होना चाहिए) और भिन्न-भिन्न तत्त्व के रूप में रस की स्वीकृति होनी चाहिए। रस आस्वाद रूप है, काव्य के प्रवाह के साथ यह आस्वाद कम या अधिक आह्लादक हो सकता है; परन्तु रस में क्रम है, यह कृति के साथ काल में ही प्रवृत्त होता है। रस का सम्पूर्ण कृति के साथ सम्बन्ध होते हुए भी उसमें कृति के अवयवों के साथ रहने वाला एक विशिष्ट क्रम है। इस क्रम के प्रत्येक बिन्दु पर उससे पहले होने वाले कृति-अनुभवों के संस्कार एकत्र होते हैं और इस प्रकार रसानुभव में संस्कारों का विशिष्ट वहन चलता रहता है। किन्तु रमणीयता या सौन्दर्य में क्रम नहीं है। कृति का सौन्दर्य कृति के अवगाहन के अन्त में होने वाली तत्काल अनुभूति है, इसमें कालक्रम नहीं है, काल की मर्यादा या अवधि भी नहीं है। उपर्युक्त कथन के अनुसार सौन्दर्यबोध कृति का समग्र अनुशीलन है, मन को तल्लीन करने वाली विशिष्ट अवस्था है, जिसमें कृति-सम्बन्धी सर्व-संवेदनों की अन्विति होती है। सौन्दर्यबोध एक अखण्ड, क्रमहीन, सम्पूर्ण समन्वित अवस्था है। रमणीयता रसतत्त्व को पचाकर उत्पन्न होने वाली स्थिति है।

'योऽर्थः तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयतत्त्वमश्नुते।'

रमणीयता एक विशेष व्यापक तत्त्व है और रस के बिना भी इसकी स्थिति सम्भव है। रमणीयता के लिए रस के आश्रय की अनिवार्यता नहीं है। रस के होने पर वह उसका घटक या विशिष्ट तत्त्व हो सकता है, परन्तु रस का अभाव होने पर भी वहाँ रमणीयता सम्भव है। ऐसा समझ लेने पर छोटे-छोटे मुक्तकों में, जिनमें वस्तुतः कोई रसतत्त्व नहीं है, हम रस ढूँढ़ने का मिथ्या प्रयास नहीं करेंगे। उसकी चारुता से ही प्रसन्नता अनुभव करेंगे। यह कहना कठिन है कि सौन्दर्य में किस तत्त्व या तत्त्वों के साथ हमारी चेतना का अनुसन्धान होता है। इसमें रसबोध भी हो सकता है जो बहुधा होता ही है। इसमें वातावरण की विशिष्टता और समता भी हो सकती है। इसमें रेखाओं की ललित लीला या रंग की आभा सुयोजित भी हो सकती है। आचार्य कुन्तक के कथन के अनुसार इसमें छोटे-बड़े घटकों का, समुदायों का, शोभा और आकर्षण में परस्पर स्पर्धा करने वाला संयोजन किसी स्थापत्यकृति की भाँति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मी हो सकता है। अर्थात् प्रकृति में लालित्य, चारुता, सौन्दर्य और भव्यता की विविध तथा अनर्गल सम्पत्ति भरी हुई है। ऐसी ही विविध, अनर्गल और नियमों के बन्धन से रहित सम्पत्ति रमणीयता की भी है। इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन सबमें चेतना की किसी सूक्ष्म अवस्था तथा बाह्य पदार्थ (यहाँ कलाकृति से तात्पर्य है) के तत्त्वों का योग होता है। यह अवस्था अन्दर थी और प्रकट हुई अथवा न थी और बाह्य पदार्थ के सम्पर्क से उत्पन्न हुई, या किसी रूप-विशेष की थी और अन्य रूप में प्रकट हुई, इसका पता लगाना रसनिष्पत्ति के सदृश ही एक गूढ़ प्रश्न है।

अन्य कलाओं से साहित्य की प्रमुख भिन्नता यह है कि साहित्य में मानव-व्यवहार की सामग्री का प्रवेश रहता है। मनुष्य की भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्ति और अच्छे-बुरे कार्य उपादान के रूप में आते हैं। पात्रों की वृत्ति अच्छी-बुरी, पात्र अच्छे-बुरे, कार्य अच्छे-बुरे, इन सबका विवेक विचार-साहित्य में अपरिहार्य है और लगभग उसी भाँति अपरिहार्य है जिस प्रकार स्वर की कोमलता या रंजकता का विचार संगीत में, अथवा पत्थर की जाति का विचार स्थापत्य में अनिवार्य है। कभी-कभी साहित्य शुद्धाशुद्ध, शुभाशुभ कार्यों और वृत्तियों का संयोजन है और ऐसे संयोजनों में से कोई जीवन-रहस्य स्फुरित हो जाता है या उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार आकाश के रंग, नीति-विचार से निरपेक्ष चित्र में उतर आते हैं और उसे देखकर हम आह्लादित होते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार साहित्य की सीमा में आए चित्रों का नहीं होता। प्रजा की भावना या परम्परा में व्याप्त नीति के स्फुट या अस्फुट विचार व्यावहारिक कार्यों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित हैं और इन्हीं संस्कारों से युक्त जीवन-व्यवहार साहित्य में कला-स्वरूप को धारण करता है। साहित्य के सौन्दर्यबोध में स्फुट या अस्फुट रूप से जीवन के मूल्य प्रविष्ट होते हैं, प्रविष्ट हुए बिना रह ही नहीं सकते और किस भाँति के जीवन-मूल्य स्फुरित होते हैं उस पर भी इसके मूल्य का आधार रहता है। यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जीवन-मूल्य का अर्थ किसी समाज-विशेष या काल-विशेष के पारस्परिक मूल्य ही नहीं हैं, पारम्परिक मूल्य से सर्वथा भिन्न या विरुद्ध मूल्य भी हो सकते हैं; और जीवन के मूल्य सौन्दर्य के घटक-तत्त्वों के रूप में तथा सौन्दर्यरूप में उपस्थित होने चाहिए।

उच्चजीवन की कतिपय भावनाएँ सार्वजनीन हैं। प्रेम, मैत्री, समभाव, करुणा, दया, क्षमा, विनम्रता, आर्जव, धृति, सत्यकामना, सत्यनिष्ठा, कर्त्तव्यबुद्धि, अनासक्ति, समत्व, त्याग, इनमें से किसी एक का या अनेक का असाधारण दर्शन—कथनमात्र नहीं, उसका साक्षात्कार और प्रतिभान—हृदय के लिए अत्यन्त आह्लादक होता है।

अब हम विचारें कि साहित्य का स्वरूप, जीवनमूल्यों के स्फुरण और आह्लाद की उच्चावचता किस प्रकार एक साथ ग्रथित हो सकते हैं। 'शाकुन्तल' के प्रथम अंक में मुग्धा यौवना के दर्शन से तथा सखियों के परिहास से सामाजिकों का मन अत्यधिक आकर्षित होता है और राजा के रीति-रस्मों से परिचित पुरुष कुछ प्राकृत आकर्षण को प्राप्त करता है। इस अंक के दर्शन में आनन्द-प्राप्ति होती है, किन्तु इसकी समग्र नाटक के सौन्दर्य-विमर्श के आनन्द के साथ समरूपता नहीं दिखाई जा सकती। कोई नाटककार शकुन्तला के प्रत्याख्यान में ही नाटक का अन्त दिखाये, अथवा दोनों पक्षों से त्यक्ता शकुन्तला आत्महत्या करे, और तत्पश्चात् दुष्यन्त को पूर्व स्मरण हो, ऐसे संविधान की रचना करे, तो नाटक के रस में तो परिवर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा ही, साथ ही[1] मेरे मतानुसार उसके आनन्द तत्त्व में भी परिवर्तन आ जायगा। इस आनन्द में ग्लानि या व्यथा का मिश्रण होगा। मनुष्य मनुष्य रूप में दृढ़ और पराक्रमी होता है या केवल नियति की ही जय होती है, इस पर भी आनन्द के स्वरूप का आधार रहता है और कदाचित् यह आनन्द पराकोटि का न भी हो। नाटककार प्रहसन या फारस लिखता है तो इसमें आकर्षण होता है, आनन्द भी होता है और कदाचित् हर्ष का उद्रेक भी होता है। नाटककार पूर्वोक्त शाकुन्तल के विषय में एक गूढ़ प्रश्न या जीवन-वैषम्य को मूर्त करे तो उसमें भी सामाजिकों का चैतन्य विशालता और गूढ़ता का अनुभव करके नये ज्ञान के बारे में—चाहे वह केवल प्रश्नरूप ज्ञान हो—विस्मित होता है; परन्तु उलझन में पड़कर, कलाकार के सुझाव से, जीवन के किसी अन्तिम या सनातन मूल्य की स्फुरणा से सच्चे स्वरूप में छूटने का अनुभव करने में ही वास्तविक आनन्दमय विश्रान्ति है। शाकुन्तल जैसी कृति में कारुण्यसंमार्जित प्रणय-दर्शन के आह्लाद के तत्त्व शुद्ध होते हुए सूक्ष्म होकर स्थिर मुदारूप में अनुभव किये जाते हैं। चेतना असाधारण चेतनमयता, व्यापकता और विश्वमैत्री का दर्शन कराती है, यही उत्कृष्ट आनन्दानुभव का रहस्य है। विश्व-योजना में आध्यात्मिक ऋत के दर्शन से उसे परितोष होता है। करुण कृति में भी आर्द्रता के संवेग से व्यक्तिगत रागद्वेष और अन्य मानसिक रुकावटें दूर हो जाती हैं तथा आत्मशुद्धि के आनन्द का अनुभव होता है। उदारता, वीरत्व, त्याग, आत्मभोग आदि के साक्षात्कार में जीवन के अप्रत्यक्ष मूल्यों में श्रद्धा प्रकट होकर उदात्त जीवन की कृतार्थता की सूक्ष्म तृप्ति उपलब्ध होती है। अ-पूर्व संवेदना के उदय का विस्मय और प्रेमतत्त्व का विस्तार, अर्थात् प्रकाश, प्रीति और माधुर्य, उत्तम आनन्द के आधार हैं। कोलाहल, व्यग्रता, विह्वलता, आतुरता, आवेग आदि के बाद की शान्ति, प्रसन्नता, मुदा, मैत्री, प्रीति, भक्ति जैसे जीवन-तत्त्वों का समावेश करता हुआ सूक्ष्म और मानों स्थिर आनन्द प्रशिष्ट कृति के समग्र सौन्दर्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान है। इसे पहचानना, इसका प्रत्यभिज्ञान करना, इसके लिए आतुर रहना और इसकी प्रतिपत्ति होने पर सहृदयों से निवेदन करना ही विवेचक का कार्य है।

---

१. चुन्नीलाल गांधी, विद्याभवन, सूरत की अगस्त १९५६ की बुलेटिन में प्रकाशित गुजराती लेख का अनुवाद; अनुवादक प्रो० ए० एम० देसाई, एम० टी० बी० कॉलेज, सूरत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदर्श और यथार्थ : हिन्दी कथाकार

मनुष्य-समाज में व्याप्त विकृतियों का निराकरण आदर्शवाद के अनुसार उन्हें जानकर दूर करना नहीं है, वरन् उन विकृतियों से परे ऐसे काल्पनिक रूप को सामने रखना है, जिससे व्यक्ति को आध्यात्मिक तुष्टि मिले; अर्थात् आदर्शवादी यह मानते हैं कि भौतिक जगत् से उद्भूत कठिनाइयाँ या पीड़ाएँ किन्हीं अलौकिक शक्तियों या जगत् से सम्बन्ध रखती हैं। वे सदा इस दुःखमय संसार और 'वर्त्तमान' से भागते हैं, क्योंकि उन्हें इससे विलग एक सुखी संसार की आशा रहती है। यह जीवन ही दुःख का मूल है और उससे मुक्ति पाने का उपाय इस जीवन-जगत् से दूर दूसरे जगत् की अवस्थिति को स्वीकार कर उसके ध्यान में मन को रमा देना है। व्यक्ति और समाज की पीड़ा का कारण किसी परा शक्ति में मान लेने से भौतिक जीवन को गौण मान लेना स्वाभाविक है। कोरे आदर्शवादियों ने सदा यही किया, इसी कारण मनुष्य के सम्मुख 'दिव्य' का रूप बड़ी तड़क-भड़क के साथ खड़ा करने पर भी वे उसकी पीड़ाओं को नहीं कम कर सके।

जीवन भौतिक तत्त्वों के द्वन्द्व के कारण सम्भव है। मनुष्य जहाँ एक ओर प्रकृति से जन्म पाता है वहीं वह उसके स्वरूप में परिवर्त्तन भी करता है। इस कारण भौतिक जगत् से असन्तुष्टि का अर्थ है जीवन के आधार को मानने से इन्कार करना। व्यक्ति के जीवन में उपस्थित 'क्यों' या 'क्या' का उत्तर इसी भौतिक जीवन से पाया जा सकता है। किन परिस्थितियों में मनुष्य किस तरह का व्यवहार करता है, एक ही परिस्थिति में रहने वाले व्यक्ति क्यों एक ही ढंग से विचार नहीं करते तथा यदि समाज का ढाँचा बदलता जाय तो मनुष्य की क्रियाओं और विचार-शक्ति में किस प्रकार का परिवर्त्तन होगा, ये सारी बातें मनुष्य के अन्तःकरण और बाहरी उपकरणों के उन पर प्रभाव का ढंग जान लेने पर ही अंशतः ज्ञात हो सकती हैं। पश्चिम में भौतिक जीवन के महत्त्व को पूरी स्वीकृति मिलने के कारण इन समस्याओं पर अधिक विस्तार से विचार होता रहा। इसी भौतिकता की स्वीकृति के बाद ही मनुष्य ने साहित्य में केवल 'दिव्य' का गुण-गान न करके स्वयं की पीड़ा की व्याख्या प्रारम्भ की। आज वह अनुभव करता है कि समाज की प्रणाली में भरे दोषों को विनष्ट करने का मार्ग समाज से अलग दूसरे पारलौकिक समाज की कल्पना में तल्लीन होना नहीं है, वरन् समाज की प्रणाली का ही आमूल परिवर्त्तन है।

कथा-साहित्य में यथार्थवाद का मूल खोजने के लिए हमें बोकेचियो (Beccacio १३१३-७५) के 'डीकेमराँ' (Decameron) तक जाना पड़ेगा। वही पहला कथाकार था, जिसने समाज की समस्याओं को व्यंग्यात्मक रीति से चित्रित किया। उसके व्यंग्य और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यथार्थ से घबराकर कुछ देशों के नैतिकवादी उसकी कथाओं में 'कुत्सा' घोषित कर उसकी कृतियों को अवैध कराने का यत्न कर रहे हैं। बोकेचियो के तात्कालिक यथार्थवाद और वर्त्तमान यथार्थवाद के बीच कितनी ही सीढ़ियाँ बन गई हैं। अँग्रेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ लिगुई और कजामयाँ का तो यहाँ तक कहना है कि "तर्कपूर्ण ढंग से कला को अभिव्यक्त कर सकने वाला हर प्रयत्न किसी-न-किसी यथार्थवादी स्वरूप से ही सम्बन्धित होता है।"

साहित्य में यथार्थ के दो रूप मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों के पश्चात् प्रचलित हुए। इन दोनों सिद्धान्तों ने जिस भाँति मनुष्य-समाज की पिछली मान्यताओं को ग़लत साबित किया, उसी प्रकार साहित्य के कोरे आदर्शवादी रूप को भी धक्का दिया। मार्क्स ने इतिहास के वर्ग-द्वन्द्व को सिद्ध किया। उन्होंने इस वर्ग-युद्ध के परे के मार्ग की ओर भी संकेत किया था, यानी उन्होंने वर्ग-युद्ध को कोई चिरन्तन नियम नहीं माना था। वास्तव में उस द्वन्द्व को वे समाप्त करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त प्रकृति या सौर-मण्डल के कार्य और प्रभावों का कारण भी उन्होंने समझने का यत्न किया और अन्त में भौतिकवाद को ठीक मार्ग माना। एक ओर जहाँ उन्होंने समाज के वर्ग-युद्ध को समाप्त करने की बात कही, वहीं व्यक्ति का विकास अबाध रीति से हो सके इसके प्रति भी सचेत रहे; किन्तु उनके सिद्धान्तों को कम्युनिस्ट सरकारों के बनने के बाद ग़लत ढंग से मान लिया गया। फल यह हुआ कि व्यक्ति को नहीं, महत्त्व राज्य को दिया जाने लगा और राज्य ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को काफ़ी क्षति पहुँचाई। राज्य का शक्तिवान होना जरूरी है, किन्तु ऐसा नहीं कि व्यक्ति का विकास रुक जाय। मार्क्स के दर्शन को अधूरा ही समझने के कारण कम्युनिस्ट साहित्य-शास्त्र आगे चलकर राजनीति से अपना सम्बन्ध ज्यादा रखने लगा, किन्तु यह निर्विवाद है कि समाज के दुःख-दर्द को और दलित की पीड़ा को समझने में मार्क्सीय दर्शन ने अभूतपूर्व योग दिया।

फ्रायड ने मनुष्य-जीवन के कुछ ऐसे सत्य प्रमाणों सहित बताये कि नैतिकता की दुहाई देकर समाज-सुधार में विश्वास करने वाले लेखक उन्हें तरह-तरह की गालियों से विभूषित करने लगे। पहले फ्रायड की किताबों को जलाया गया, उन्हें अवैध और अनैतिक ठहराया गया, किन्तु धीरे-धीरे उनकी सत्यता का रहस्य जानने पर ग़लती मानी गई। मानी किसने नहीं—यान्त्रिक मार्क्सवादियों या कुत्सित समाज-शास्त्रियों ने। उन्होंने समझा कि फ्रायड 'पशुवाद' के प्रचारक हैं, किन्तु फ्रायड ने सिद्ध कर दिया कि ऊपर से चाहे जितनी सफेदपोशी आदमी ने कर ली हो, वह अन्दर-ही-अन्दर घुट-घुटकर जी रहा है और उसका कारण है उसकी कामनाओं की अतृप्ति। व्यक्ति की तुष्टि के लिए 'काम' की तुष्टि ही एकमात्र मार्ग है। यहाँ तक तो ठीक था, किन्तु जब उन्होंने समाज को भी व्यक्ति के विकास में बाधा माना तो उनका दृष्टिकोण एकांगी हो गया। समाज स्वयं व्यक्ति के विकास को हानि नहीं पहुँचाता, वरन् समाज की व्यवस्था पहुँचाती है। जरूरत समाज से विद्रोह की नहीं, बल्कि समाज की मौजूदा प्रणाली से है। फ्रायड ने इसे अस्वीकार किया, इसी कारण उनके शिष्यों तक ने उनसे मत-वैभिन्न्य प्रकट किया। किन्तु मनुष्य की मनःस्थिति को समझने में उन्होंने महान् योग दिया, उसके उपचेतन को खोलने का यत्न कर मनुज की पीड़ा का कारण बतलाया। साहित्यकारों ने भी जहाँ फ्रायड के सत्य को अपनाया, वहीं उनकी कमजोरी से भी वे न बच सके और इसीलिए समाज और व्यक्ति का सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित करने के बदले व्यक्ति के अवचेतन को टटोलना ही अनेक साहित्यकारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

REFERENCE BOOK

का धन्धा हो गया ।

प्रेमचन्द किसी 'वाद' में नहीं बँधे । उन्होंने जन के दुःख-दर्द की अनगिन कहानियाँ कहकर मनुष्य में अपनी अपार आस्था प्रकट की थी । 'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' तक के आदर्शवाद को अपना मार्ग मानते थे, वैसे इन उपन्यासों में भी युग-सत्य का जो चित्रण हुआ है वह यथार्थवादी है । हाँ, वे जोला या मोपासाँ की तरह सत्य को नहीं देख सकते थे, क्योंकि वह उनका रास्ता ही नहीं था । इससे कला और यथार्थ दोनों को क्षति पहुँची है, किन्तु मनुष्य के देवत्व में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए यही मार्ग भी है । 'कफ़न' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी कहानियाँ जीवन के सत्य को चीख़-चीख़कर कहती हैं, लेकिन वे यह भी बतलाती हैं कि उनका लेखक केवल सत्य को ही नहीं देखता, यदि उस सत्य से मनुष्य को क्षति होती है तो वह उनसे आगे की बात भी सोचता है और वह है मनुष्य की महानता । 'मन्त्र' और 'सुजान भगत' इसके प्रमाण हैं । 'गोदान' के पात्र भी केवल आदर्शों के लिए नहीं जीते, वे मनुष्य की अच्छाई-बुराई को अपने में समोकर जी रहे हैं ।

प्रसादजी का क्षेत्र दूसरा था, किन्तु 'कंकाल' और 'तितली' में उन्होंने अपनी जनता का साथ दिया था, यहाँ तक कि अपने ऐतिहासिक पात्रों के मुख से अपने युग के जीवन में सुधार और देश-प्रेम का भाव व्यक्त कर उन्होंने अपने भीतर की छटपटाहट को ही प्रकट किया । गुलेरीजी की कहानी 'उसने कहा था' कला की दृष्टि से ही नहीं जीवन-सत्य की दृष्टि से भी सदा स्मरण की जायगी । प्यार, त्याग और शौर्य जैसी वृत्तियों को लहना के चरित्र में पिरोकर कहानीकार ने एक अमर पात्र की रचना की थी ।

प्रेमचन्द के समय तक उनका व्यक्तित्व समूचे कथा-साहित्य पर इस प्रकार छाया हुआ था कि अनेक अन्य श्रेणियों के कथाकारों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हो सका था । नग्न यथार्थवाद के समर्थक उग्र, चतुरसेन, सर्वदानन्द वर्मा और ऋषभचरण जैन उनके समय से ही लिख रहे हैं । नग्न यथार्थवादियों ने जो कुछ लिखा वह समाज में व्याप्त घृणित यथार्थ का पूरा या सही चित्र नहीं बन सका था (सचाई उससे कहीं ज्यादा थी), पर उनकी 'नग्नता' के प्रति उतनी ही प्रीति साहित्यिक सीमा को लाँघ गई थी । अब भी उग्र और चतुरसेन लिख रहे हैं और 'जीजी जी' में उग्र अपनी पूर्व-परम्परा से कुछ हटे प्रतीत होते हैं । चतुरसेन ने अपने पास 'वर्तमान' से 'वस्तु' को खोज सकने का झंझट छोड़कर इतिहास या पौराणिकता की ओर रुख कर लिया है । 'वैशाली की नगर वधू' और 'वयं रक्षामः' जैसे भारी-भरकम उपन्यास लिखकर उन्होंने इतिहास की 'प्रामाणिक' घटनाओं को कलाबद्ध करने के प्रयत्न में अनेक कल्पित और श्रुत घटनाओं से ही उन्हें भर दिया है ।

जैनेन्द्र का मार्ग अलग था । उन्होंने पारिवारिक जीवन में व्यक्ति की मनःस्थिति को समझने का यत्न किया । उनका एक आदर्श भी रहा जो अद्वैतवाद और गाँधीवाद को मिलाकर खड़ा किया गया था । नारी के जीवन की पीड़ा को निखारने का आरम्भ जैनेन्द्र ने ही किया और वह ढंग प्रेमचन्द से भिन्न था । प्रेमचन्द की पद्धति समाज-शास्त्रीय थी, जैनेन्द्र की भावनामयी । उन पर रवि बाबू के पात्रों का प्रभाव भी पड़ा; किन्तु एक तो इस कारण कि उनकी भाषा सरल दीखने पर भी वक्र रेखाओं की भाँति घूम गई थी, दूसरे गाँधीवादी प्रभाव से भी उनके पात्रों में वह शक्ति नहीं आई जो रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में थी । जीवन के प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

NOT TO BE ISSUED

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनास्था भी जैनेन्द्र में कहीं-कहीं मिलती है।

जैनेन्द्र के व्यक्तिवाद को अज्ञेय ने ठीक मार्ग माना है। वे समाज के बन्धन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे पश्चिम के दार्शनिकों, विशेषकर फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषणवादियों तथा बर्ट्रेंड रसेल से प्रभावित हैं, जिनका खयाल है कि समाज का बन्धन व्यक्ति के विकास को रोकता है। उनके लिए समाज-व्यवस्था से व्यक्ति के नैतिक स्तर या व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'शेखर : एक जीवनी' तक तो गनीमत थी कि वे दुःख-दर्द को मिटाने के लिए, वैयक्तिक विद्रोह ही सही, चाहते थे, पर 'नदी के द्वीप' में समाज को बिल्कुल अलग करके व्यक्ति का असली 'विकास' दिखाया गया है। कुछ कहानियों में अवश्य, विशेषकर "जय दोल' और 'शरणार्थी' में, समाज से रिश्ता कायम रखा गया है, किन्तु अधिकतर वे शून्य (Vaccum) में ही अपनी कला की पैंतरेबाजी दिखाते रहे हैं। बिना समाज-गठन को परिपार्श्व में रखे व्यक्ति को समझ सकने का दम भरना मात्र अहम् है। अज्ञेय इसके शिकार हैं।

इलाचन्द्र भी फ्रायडियन दृष्टिकोण को उचित मानते हैं, किन्तु उन्होंने अपने को एक बाड़े में बन्द नहीं कर लिया है और यही कारण है कि जहाँ 'काम' को समस्या के रूप में मान कर उन्होंने उसका विश्लेषण किया वहीं वे जन-जीवन के प्रति भी आँख मूँदकर नहीं रह सके। वे देखते हैं कि समाज में बड़ी पीड़ा है, पर उससे निस्तार पाने का मार्ग क्या है यह वे नहीं कहते। शायद वे सोचते हैं कि यह पीड़ा तो चिरन्तन है। यह लगभग उसी तरह का विचार है जैसे मायावादी कहते हैं कि यह तो भगवान् की लीला है, मनुष्य इस जंजाल से नहीं छूट सकता। यदि वस्तुस्थिति को उसके असली रूप में चित्रित कर देना ही सब-कुछ मान लिया जाय तो 'जहाज का पंछी' एक महान् कृति है, किन्तु वही कलाकार का अन्तिम दायित्व नहीं है। मार्ग की ओर संकेत जरूरी है। हाँ मार्ग का प्रच्छन्न होना और भी जरूरी है। पर अगर मार्ग की ओर संकेत न हो तो 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के लेखक भगवतीचरण वर्मा की भाँति उसे कोई मार्ग दीखेगा ही नहीं। भगवती बाबू एक कुशल शिल्पी हैं, किन्तु जहाँ तक वस्तुस्थिति या मनःस्थिति का विश्लेषण कर मौन हो जाने का प्रश्न है वे जोशीजी के ही समान हैं। भगवती बाबू ने 'चित्रलेखा' में कहा—पाप और पुण्य कुछ नहीं है, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में वे बोले—जितने भी रास्ते हैं सभी बेकार हैं, और 'आखिरी दाँव' में सिनेमा-जगत् का नक्शा खींचकर मौन साध लिया गया है। प्रश्न यह नहीं है कि ये लेखक बड़ी-तड़क-भड़क के साथ क्रान्ति की आवाज क्यों नहीं उठाते, पर इतना जरूर है कि वे पाठक को कोई सन्देश क्यों नहीं दे पाते।

'बिदा' और 'विजया' के यशस्वी लेखक प्रतापनारायण श्रीवास्तव भी समय के साथ नहीं बढ़ सके। उन्होंने पूर्व-जन्म और आत्मवाद को ही अपनी उपन्यास कला का साध्य माना। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द-काल के लेखकों और उसके बाद के कथाकारों में भी वे ही थे जिन्होंने हिन्दू-ईसाई हृदयों को प्रेम-सूत्र में बाँधने की ओर ध्यान दिया था। 'विसर्जन' उनकी पहले की मान्यताओं में कोई फर्क नहीं डालता।

समाज या व्यक्ति के यथार्थ को दृष्टि में रखकर कुछ लेखकों की कृतियों का मूल्यांकन सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्होंने इतिहास से अपने कथानक चुनकर उनमें नये आदर्शों को खड़ा किया है। ऐसे लेखकों में वृन्दावनलाल वर्मा का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। वर्माजी की कलम ने पिछले दो सौ वर्षों के बुन्देलखण्ड को नवीन और जीवन्त रूप देकर अमर कर दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उनकी लक्ष्मीबाई, कचनार, निन्नी, लाखी, हेमवती और कुमुद बुन्देलखण्ड की धरती की उपज होती हुई भी भारतीय संस्कृति के गौरव की प्रतीक हैं। इतिहास के प्रति उनका जो दृष्टिकोण है उससे सहमत होना कठिन है, किन्तु उनके पात्रों में जीवन के प्रति जो आस्था और उनके व्यक्तित्व में प्रकृति के बीच में जीने के कारण जो आकर्षण है वह हिन्दी के लिए ही नहीं समूचे भारतीय साहित्य के लिए आदर्श की चीज है। हजारीप्रसाद की 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' उनकी विद्वत्ता और बहुज्ञता को तो प्रकट करती ही है, काफी सीमा तक बाणभट्ट के युग का चित्र भी बड़ी सफलता से पेश करती है। द्विवेदीजी यदि भारतीय संस्कृति की महानता को स्वीकारते हैं तो उसकी दुर्बलताओं से भी इनकार नहीं करते।

इन लेखकों के अतिरिक्त समाज के सुख-दुःख को अपने साहित्य का माध्यम बनाने वाले लेखक मार्क्सवादी वर्ग से उठे। उन्होंने सामाजिक प्रणाली की विकृतावस्था को पहचानकर उसके बदले एक नई व्यवस्था की कामना प्रकट की। व्यक्ति को समाज से अलग काटकर देखने की गलती भी उनसे नहीं हुई और अध्यात्मवाद तथा रहस्यवाद को भी वे नहीं अपना सके। इसका फल यह हुआ कि भौतिक जीवन को अधिक निकट से देखने के कारण उन्होंने मनुष्य से प्यार किया, उसको पशु नहीं माना, न ही इसके लिए बहुत चिन्तित हुए कि 'व्यक्ति का हक' मारा जा रहा है। जन-साधारण की विपत्ति और पीड़ा को, जिसे प्रेमचन्द ने असाधारण ढंग से व्यक्त किया था, इन्होंने और भी निखारा तथा युग के दर्द से भी अपना सम्बन्ध बनाए रखा। मार्क्सवादियों की इस देन को स्वीकार करना ही होगा।

मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों ने जन-समाज के सङ्कटों के प्रति तो ध्यान दिया, पर सड़े-गले मौजूदा समाज के बदले उन्होंने जो आदर्श रखा वह रूस का था। सभी ने ऐसा नहीं किया, पर अधिकांश इसी पद्धति पर सोचते रहे कि रूसी समाज ही एकमात्र नियति है। ऐसा सोचने के कारण अपनी संस्कृति के स्वस्थ तत्त्वों को भी अनदेखा करना लाजिमी था। प्रत्येक देश या समाज अपनी प्राचीन संस्कृति से नाता तोड़कर कभी जीवित नहीं रह सकता, वर्तमान और अतीत का एकसूत्रीय गठन उतना ही आवश्यक है जितना वर्तमान और भविष्य का। दूसरी गलती मार्क्सवादियों ने यौन-सम्बन्धी विषय में की। यहाँ तक तो उचित था कि परम्परागत विकृत यौन-धारणा पर प्रहार करते, झूठी नैतिकता का पर्दा उठा देते, धार्मिकता और सफेदपोशी की आड़ में होने वाले कदाचार के प्रति जन में घृणा उपजाते; किन्तु यह और भी जरूरी था कि उन सब घृणित आचारों के स्थान पर एक नई स्वस्थ यौन-भावना और सम्बन्धों का रूप खड़ा करते, जो वे पूरी सफलता से नहीं कर सके। मार्क्सीय दर्शन से प्रभावित लेखकों ने मध्यवर्ग को भी सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखा। जरूरत मध्यवर्गीय घुटन और बनावटी जिन्दगी से संवेदना प्रकट करने की नहीं है, पर मध्य-वर्ग ही समाज के बुद्धिजीवियों का सबसे बड़ा खजाना है, जरू-रत यह सत्य भुला देने की भी नहीं है।

सबसे पहले राहुल सांकृत्यायन ने ही मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कहानी और उपन्यास लिखे। 'वोल्गा से गंगा' के प्रकाशन पर कई आलोचक तो बेतरह घबरा गए थे कि आर्यों के इस पवित्र देश में इस तरह की परम्परा-विरुद्ध पुस्तकों की क्या जरूरत? इस ग्रन्थ में राहुल ने बड़ी कुशलता से मनुष्य के इतिहास को कहानियों में लिखने का प्रयास किया था। कहानी इति-हास नहीं हो सकती, कल्पना का समावेश उसमें अवश्य रहेगा; 'वोल्गा से गंगा' में भी यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। पर भगवतशरण उपाध्याय इसलिए नाराज हो गए कि उसमें 'साहित्य नहीं था और इतिहास भी सर्वथा गलत था' और रामविलास इसलिए कि उसमें ब्राह्मणों के प्रति रिआयत नहीं की गई थी। उसके बाद ही रामविलास ने राहुल के विरुद्ध सम्प्रदायवादी होने का ग़लत आरोप लगाया था। 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' उनके दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास हैं। पर यह एक सत्य है कि कला की दृष्टि से राहुल बहुत ऊँचे नहीं उठ पाते।

मार्क्सवादी साहित्य-शास्त्र की गहराइयों में पैठकर समाज और व्यक्ति के प्रश्नों का हल खोजने में यशपाल एक समर्थ कलाकार हैं। उनके साहित्य को पढ़ने पर हमारे दिमाग में मार्क्स या मार्क्सवाद नहीं आते, आता है अपने इस देश की दरिद्रता का चित्र, घुटन और गलाजत। समाज के यथार्थ को प्रेमचन्द के बाद यशपाल और रांगेय राघव से अधिक समझने में अन्य कोई समर्थ नहीं हुआ। व्यंग्य और विद्रूप करने में यशपाल समूचे साहित्य में बेजोड़ हैं। 'पिंजरे की उड़ान' से 'उत्तमी की मां' तक कहानियों का ऐसा स्रोत है जो हमारे पराधीन और स्वाधीन भारत की उथल-पुथल को सामने रखता है। 'मंगला', 'हलाल का टुकड़ा', 'इसी सुराज के लिए' जैसी कहानियों का यथार्थ पाठक को भीतर-ही-भीतर कचोटकर रख देगा। पर 'मनुष्य के रूप' और 'देशद्रोही' न अपने-अपने युग का चित्र उपस्थित करते हैं, न हमें अनाचार से लड़ने की प्रेरणा देते हैं। यशपाल प्रकृतवादियों से भी बहुत प्रभावित हैं। उन्होंने सेक्स के प्रति वही दृष्टिकोण रखा है जो फ्रेंच प्रकृतवादियों का था। अपनी कहानियों में तो उन्होंने समाज और व्यक्ति की समस्याओं को बड़ी पैनी दृष्टि से देखा, किन्तु उपन्यासों में वे यौन-सम्बन्धों की विकृतियों का चित्रण करते करते-उसमें रस लेने लगे।

रांगेय राघव ने भरसक अपने को यशपाल की इस कमजोरी से बचाया। उनका 'घरौंदे' शिल्प की दृष्टि से हिन्दी के लिए नई चीज थी। भाषा और शैली के नयेपन ने पाठकों को मोह लिया था। रहमान के चरित्र में कमरे में बैठकर क्रान्ति की बात सोचने वालों पर व्यंग्य होने से एक मार्क्सवादी आलोचक नाराज हो गए, पर वह एक सत्य था, इसलिए सारे विरोधों के बावजूद उन्होंने जनता के जीवन को अपने साहित्य में सदा ही उतारा। 'विषाद मठ' में बंगाल की आकुल मानवता की छटपटाहट का एक भयंकर सत्य उन्होंने उपस्थित किया। स्वाधीनता के बाद लिखा गया 'हुजूर' लघु उपन्यास होने पर भी अधिक-से-अधिक समाज की यथार्थता को समोने का सफल प्रयत्न था। हिन्दी में तो नहीं ही, शायद भारतीय साहित्य में भी इतने कम में इतना अधिक कह सकने वाला कोई उपन्यास नहीं लिखा गया। वर्ग-द्वन्द्व के चित्र के कारण बौखलाए अहिंसा और समझौतावाद की दृष्टि से इतिहास को देखने वाले लोगों ने 'मुर्दों का टीला' उपन्यास का महत्त्व भरसक कम करने का नारा लगाया पर, सचाई यह है कि आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के मिलन को दिखलाने का बड़ा ही कुशल प्रयास इसमें था। इतना सब होते हुए भी रांगेय राघव ने अभी किसी ऐसे चरित्र का निर्माण नहीं किया जो सर्वयुगीन महत्त्व का हो।

नागार्जुन के उपन्यासों में स्थानीय रंग (Local clour) अधिक मिलता है, इसीलिए उनके पात्रों में ग्रामीण जीवन की उदासी और सुकून, प्रीति और डाह के जो दृश्य दिखलाई पड़ते हैं वे यथार्थता के इतने निकट होते हैं कि हम उन्हें पढ़ते समय उनके व्यक्तित्व में अपनी तस्वीर देखते हैं। पर यह स्थानीय तत्त्व हार्डी के उपन्यासों से भिन्न है। हार्डी ने कुछ पात्रों को लेकर यह दिखलाना चाहा कि नियति के नियम में बँधा जीवन अन्त में पीड़ा का कोष ही है, नागार्जुन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीड़ा को, नियति को भी मनुष्य के जीवन से ऊपर नहीं मानते, उनका ध्यान पीड़ा को देख सकने पर भी उसके कारण व्यवस्था पर सदा रहता है। मिथिला की ग्रामीण जनता के दुःख और पीर को नागार्जुन से अधिक शायद ही कोई जनता हो। नगर के जीवन का ज्ञान उनको कम है। इसके विपरीत यशपाल और रांगेय राघव का शहरी ज़िन्दगी का अध्ययन बहुत गहरा है।

मन्मथनाथ की कहानियाँ ही उनको यथार्थवादी सिद्ध करती हैं। वे एक ओर तो व्यक्ति को व्यवस्था की उपज मानती हुई उसके भीतरी भावों—प्रेम, ईर्ष्या—को भी कला के माध्यम से समझने का यत्न करती हैं, दूसरी ओर उनमें विद्रूप और तीतापन भी मिला होता है। इस दृष्टि से 'शिवादानी का अन्त' एक श्रेष्ठ रचना है।

'अश्क' से रामविलास बहुत नाराज़ रहते हैं और शिवदान अति प्रसन्न। 'गिरती दीवारें' को भी रामविलास कोई महत्व देने को तैयार नहीं, जबकि यह उपन्यास पंजाब के मध्यवर्गीय जीवन को काफी निकट से देखता है। कम्यूनिस्ट-दर्शन के अनुसार मध्यवर्ग प्रतिक्रियावादी है, इस कारण रामविलास इस वर्ग के जीवन के बारे में कुछ भी सुनना बरदाश्त नहीं कर सकते; पर यह भी एक सत्य है कि बावजूद अपनी कमज़ोरियों के मध्य-वर्ग समाज की बौद्धिक शक्ति है। लेकिन 'अश्क' गोर्की भी नहीं है, जैसा कि शिवदान का कहना है। गोर्की ने यदि अपने युग-यथार्थ को पहचाना था तो वह जीवन के यथार्थ को भी अधिक जानते थे।'अश्क' की 'बड़ी-बड़ी आंखें' तो वीणा और संगीत के क्रिया-कलापों को ही बखान कर रह जाती हैं। फिर 'नदी के द्वीप' की असामाजिकता से अश्क क्यों नाराज हैं?

'बया का घोंसला' में पहाड़ी ने भी पहाड़ी जीवन के दर्द को व्यक्त किया था। वे यदि मार्क्स से प्रभावित हैं तो फ्रायड से और अधिक। 'हिरन की आँखें' की कहानियाँ इसका प्रमाण हैं। उनके पास शिल्प की भी कमी है।

विष्णु प्रभाकर की दो कहानियाँ 'धरती अब भी घूम रही है' और 'नचिकेता' उनकी कहानी-कला के विकास की ओर स्पष्ट संकेत हैं। गांधीवाद से प्रभावित प्रभाकरजी के सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। नौकरशाही पर जैसा व्यंग्य 'धरती अब भी घूम रही है' में है वैसा इधर कई वर्षों से हिन्दी-कहानी में नहीं देखा गया था। 'नचिकेता' बाल-मनोविज्ञान और जीवन-सत्य का ऐसा घुला-मिला रूप है जो हमारे अन्तरमन को झकझोर देता है। सरल, सीधी भाषा में इतना तीव्र 'क्लाइमेक्स' हिन्दी-कहानीकारों में नहीं मिलता। अमृतराय की भाषा भी ललित विषयों से प्रेम रखने वाले कवि की भाँति सरस है, किन्तु 'बीज' में ऐसा लगता है जैसे भाषा की सरसता का लेखक ने अधिक ध्यान रखा है, समाज-सत्य की ओर कम। व्यक्ति के जीवन को घेरकर उसका गला घोंटने वाली समस्याओं की ओर ध्यान खींचा था कृष्णनन्दन सिन्हा ने। उनके 'हरदम आग' में शहरी जिन्दगी की छटपटाहट साफ़ तौर से नज़र आती है।

निर्गुण ने मनुष्य की उदात्त वृत्तियों को अपने पात्रों के माध्यम से मुखरित कर ऐसे आदर्श की सृष्टि की कि मनुष्य में हमारा विश्वास बढ़े। 'साबुन' कहानी का प्यार, भाभी और देवर का निश्छल सम्बन्ध इतना प्रभावशाली है कि पाठक पढ़कर सोचता है—अर्थ-संकट के चक्र में पड़ने पर भी जीवन कितना आनन्दमय है! पर निर्गुण में कहीं-कहीं अंधविश्वासों के प्रति भी आसक्ति दिखलाई पड़ती है। शिवप्रसादसिंह में गाँव का दुःख-दर्द कहने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी 'निर्गुण' की तरह मन्त्रों के बल पर खराब गले के तुरन्त ठीक हो जाने जैसे उदाहरण नहीं मिलते। यहाँ तक तो ठीक है कि शिवप्रसाद रेखाचित्र बनाते चलते हैं, पर उन रेखाचित्रों का 'लक्ष्य' क्या है यह साफ नहीं हो पाता। कला का लक्ष्य पूरी तरह से स्पष्ट नहीं होना चाहिए, मानता हूँ, किन्तु इतना तो होनी ही चाहिए कि पाठक उसे सोचकर पा ले। इस दृष्टि से देखने पर कमल जोशी भी शिवप्रसाद जैसे ही हैं। जोशीजी व्यक्ति के भीतर देख पाते हैं, उसकी बेचैनियों को भी बड़ी कुशलता से व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु वे व्यक्ति से उसकी वर्त्तमान स्थिति के बाद भी कुछ चाहते हैं यह स्पष्ट नहीं है। इसी कारण उनकी कहानियों को पढ़ने के बाद कुछ साफ़ तरह से नज़र नहीं आता, यदि आता है तो बस एक प्रश्नचिह्न! राजेन्द्र यादव की बात समझ में आती है, यानी अगर वे व्यंग्य के माध्यम से ही कहते हैं तो भी 'लक्ष्य' ऐसा प्रच्छन्न नहीं रहता कि वह कहीं मिले ही न। उनके साथ कठिनाई यह है कि अभी वे यह नहीं निश्चय कर पाए हैं कि प्रगतिवाद या प्रयोगवाद में कौन सही रास्ता है और यदि ये दोनों ही नहीं हैं तो क्या है? वैसे चेखव के यथार्थवादी दृष्टिकोण से वे प्रभावित हैं।

हाल के ही कथाकारों में रेणु और कृष्णा सोबती के नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। रेणु का 'मैला आँचल' प्रेमचन्द के उपन्यासों के बाद हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास है। एक ग्राम को केन्द्र बनाकर लेखक ने समूचे भारतीय जीवन के पिछले तीन दशकों की उथल-पुथल को जिस भाषा में लिखा है वह भारतीय साहित्य में अपना अलग स्थान रखता है। बिलकुल गाँव की भाषा, गाँव के ही पात्र और ग्रामीण जीवन में धीमे-धीमे होने वाले परिवर्तनों को रेणु ने एक कुशल शिल्पी की भाँति खड़ा किया है। लेखक की दृष्टि केवल वस्तुस्थिति को देखकर नहीं रह गई है, वह आदर्श की ओर भी देखती है और यही कारण है कि डॉक्टर का चरित्र अन्त तक पहुँचकर मानवीय तेज और त्याग का असाधारण पुञ्ज लगता है। उपन्यास के अन्त पर कलात्मक त्रुटि या कोरे आदर्शवाद का दोष लगाया जा सकता है, पर यह निर्विवाद है कि 'मैला आँचल' हिन्दी-कथा-साहित्य के इतिहास में एक कीर्ति-स्तम्भ की भाँति सदा रहेगा जैसे कि 'गोदान' है, 'शेखर' है, 'चित्रलेखा' और 'जहाज का पंछी' है। सोबती का क्षेत्र रेणु से तनिक भिन्न है। परिवार, उसका दुःख-दर्द, बिछोह, व्यक्ति की छटपटाहट को सोबती खूब जानती हैं। उनकी कहानियों की टीस हमें हार्डी और शरत् की याद दिलाती है। सोबती के लिए पीड़ा ही जीवन का सत्य है। उस सत्य को तीव्र अनुभूति और कुशल अभिव्यक्ति देकर लेखिका पाठक के अन्तरमन को गीला कर सकती है। बिखराव साधारणतया कहानियों में शक्ति नहीं हो पाता, किन्तु सोबती में वह है।

समाज-सत्य और यथार्थ को कथा-साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति देने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों में अमृतलाल नागर, बेनीपुरी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, मोहन राकेश, कमलेश्वर, ओंप्रकाश और कृष्णदास आदि हैं।

प्रयोगवादियों का अपना अलग अस्तित्व है। उन्होंने एक दूसरा ही मार्ग बनाया है और उसको सही सिद्ध करने के लिए उनका प्रगतिवादियों से वैचारिक द्वन्द्व जारी है। इसीलिए प्रगतिवादियों ने इन्हें बहुत गाली दी। कारण यह था कि इनमें ऐसे अनेक लेखक थे जो 'कम्युनिज़्म' का विरोध करते थे। विरोध काफ़ी हद तक ठीक था, यह मौजूदा पूर्वी यूरोप और सोवियत के संघर्ष से स्पष्ट हो गया है। प्रयोगवादियों ने भाषा, भाव और कला के क्षेत्र में जो एक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसता (stereotypedness) हो गई थी उसे नष्ट कर नयापन दिया, इसे न मानने का अर्थ है युद्धकालीन और युद्धोत्तर हिन्दी-साहित्य के सबसे बड़े सत्य से इन्कार करना। यहाँ तक ठीक है कि इन्होंने कम्यूनिज़्म का विरोध किया, क्योंकि किसी भी सिद्धान्त का विरोध करना ग़लत नहीं है, किन्तु उसके स्थान पर 'क्या होना चाहिए' यह न बता सकना ही ग़लत है। प्रयोगवादियों से यह ग़लती हुई। इस कम्यूनिज़्म-विरोध के स्वरूप ने धीरे-धीरे दलबन्दी का रूप ग्रहण कर लिया, इस तरह से जिस चीज के लिए कम्यूनिस्ट लेखकों से इनका विरोध आरम्भ हुआ था कि लेखक को पक्षधर (partisan) नहीं होना चाहिए (और जो ठीक भी था) वही चीज़ इन्होंने अपना ली। इसी कारण भाषा, शिल्प और भावों को इकट्ठा कर चुकने के बाद इनके यहाँ जिस चीज की कमी पड़ गई वह थी 'वस्तु', यानी इन सब चीजों के माध्यम से क्या कहा जाय ? जिस तरह कम्यूनिस्ट लेखकों के आदर्श गोर्की, शोलोकोफ, नरूदा और नाजिम हिक्मत थे, उसी तरह इनके लिए आदर्श यूरोप से ही लिये गए, जैसे ज्वायस, लारेन्स, प्रूस्त, ऑरवेल आदि।

धर्मवीर भारती के पास कवि का हृदय है, भाषा भी है; पर एक तो इसलिए कि मार्क्सवाद का विरोध करना वे अपना कर्त्तव्य मानते हैं, दूसरे मध्यवर्ग के अतिरिक्त वे अन्य किसी से अपना सम्बन्ध नहीं रखते, उनके यहाँ कमी हुई यथार्थ की। 'पृथ्वी और स्वर्ग' की कहानियों में जिस अजाने देश के पात्रों को गढ़ने जैसा प्रयास था, आगे चलकर उन्हीं का विकास हुआ। उनके पात्रों का व्यक्तित्व अंशतः तो इसी जगत् का लगता है पर अधिकांशतः वे हमारे बीच में नहीं लगते। जैसे बादल से कभी-कभी बड़े मनहर चित्र बन जाते हैं पर इनमें स्थायित्व नहीं होता उसी तरह भारती के पात्र हैं। वे मध्यवर्ग के सुख-दुःख को हमारे सामने रखना चाहते हैं, पर उसका भी चित्र अपनी समस्त पीड़ाओं सहित, जो हमें अपनी शक्ति से सोचने को मजबूर करे, कम ही दे पाते हैं। इसके लिए मार्ग है अत्यधिक रोमानियत या भावुकता से निस्तार पाना।

डॉ० देवराज ने भारी-भरकम उपन्यास 'पथ की खोज' लिखकर अपनी भीतरी उथल-पुथल को जाहिर किया था। तीसरे भाग के आने तक अन्तिम बात नहीं कही जा सकती, पर भाषा की नीरसता और प्रभाव डाल सकने की अशक्तता में 'पथ की खोज' बेजोड़ है। उन्होंने इसमें यत्न किया है कि वे निष्पक्ष होकर परिस्थितियों या सिद्धान्तों को देखें, लेकिन 'प्रजा शोस्लिस्टों' के सिद्धान्तों में उनका विश्वास छिपता नहीं। 'भीतर-बाहर' छोटा है इसीलिए सफल है, क्योंकि कुछेक चरित्रों को लेकर लेखक एक वातावरण को सजीव कर देता है। भाभी के पागल होने पर मध्यवित्त समाज की उत्पीड़ा पाठक को झकझोरकर जैसे कहती हो यह यथार्थ है, इस यथार्थ से मुँह चुराना असम्भव है, और सचमुच देवराज का यह लघु उपन्यास उनके मध्यवर्गीय जीवन के अध्ययन को प्रकट करता है।

प्रभाकर माचवे अपने उपन्यासों में मनोविश्लेषण की आड़ में अपनी बहुज्ञता को दिखाने या समझाने में सफल अवश्य होते हैं, पर कथानक दब जाता है और प्रश्न या समस्याएँ भी, जिन्हें लेखक उठाना चाहता है, नहीं उठ पातीं। 'परन्तु' और 'सांचा' कुछ जोड़े हुए कतरनों का संग्रह लगते हैं। मात्र प्रयोग कर सकने की लालसा कला और मनोविश्लेषण दोनों को कितनी क्षति पहुँचाती है, यह माचवेजी के उपन्यासों से स्पष्ट है। 'द्वाभा' इसका प्रमाण है।

इस दल से सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों में लक्ष्मीनारायणलाल, गिरधर गोपाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना हैं। सर्वेश्वरदयाल लगभग उसी धारा के उदीयमान लेखक हैं, जिसके कि ऑरवेल और कोयस्लर, अर्थात् जिनका एकमेव ध्येय कम्यूनिस्टों को जनता की नजर में गिराना है। 'सोया हुआ जल' बस इतना ही करता है। गिरधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर' ज्वायस की परम्परा में आता है। ओंकार शरद् का सम्बन्ध इस दल से टूट चुका है।

प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, किन्तु प्रयोगवादी दल से कोई सम्बन्ध न रखने वाला उपन्यास शिवसागर मिश्र का 'बहती गंगा' है। लगभग पिछले दो सौ वर्षों की घटनाएँ और जीवन को गंगा की लहरों के माध्यम से कहलाकर लेखक कुछ अमर पात्रों और मानवीय त्याग-शौर्य का रूप पेश करता है। बीसवीं सदी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, जैसे सत्याग्रह, अनशन और पंडा-जगत् की कारस्तानियों के प्रति लेखक का मौन अनुभव की कमी के कारण ही है। भूमिका में 'विश्व-साहित्य में विशिष्ट देन' का दावा भी उतना ही भ्रामक है जितना 'पथ की खोज' में प्रूस्त से तुलना। उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' किसी 'वाद' से अपना सम्बन्ध न रखते हुए भी बम्बई के निकट के बरसोवा-निवासियों का जैसा चित्र उपस्थित करता है, वह 'मैला आँचल' के घोर यथार्थ की भाँति ही प्राणवान् हैं, अन्तर केवल इतना है कि उसमें रेणु-जैसा व्यंग्य या विद्रूप नहीं है।

हिन्दी-कथा-साहित्य पर एक दृष्टि डालने से इतना स्पष्ट है कि यहाँ ईमानदार लेखकों की कमी नहीं है। व्यक्ति के अन्तरमन में चक्कर लगा सकना ही काफी नहीं है, अपने से परे को पीड़ा और निरन्तर होने वाले अन्याय के प्रति सचेत रहना और भी जरूरी है। कलाकार का काम यथार्थ से मुँह मोड़ना नहीं है, पर वह राजनीतिक सम्प्रदायों के लिए परचे तैयार करने वाला कारकुन भी नहीं है। वह कदाचार से लड़ता है, जीवन में आस्था दिलाता है और मनुष्य के 'मनुष्यत्व' को उभारता है। जब समाज-जीवन में विचार और आदर्श विरुद्ध होकर उसकी गति रोक देते हैं तो कलाकार नये आदर्श, नये मानों को स्थापित करता है। साहित्य या कला में यथार्थ का अर्थ निरुद्देश्य होकर जो है उसी का स्वरूप खड़ा करना होता तो वह अधिक मुश्किल काम नहीं था। मुश्किल काम है नये मार्ग की ओर संकेत कर सकना। जो लेखक वस्तुस्थिति में प्रवेश कर समस्याओं को देख सकने के साथ ही सड़े-गले तत्त्वों के स्थान पर स्वस्थ जीवन के निर्माण में सहायक तत्त्वों को समझ सकता है वही यथार्थ और आदर्श में समुचित समन्वय स्थापित करता है। आने वाले युग की जनता उसे ही याद रखेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन : भारतीय लेखक

अनन्त चतुर्वेदी

भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास में सामाजिकता का आग्रह प्रेमचन्द की रचनाओं से आरम्भ होता है। यह सच है कि प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यास सामाजिक परिवेश से प्रभावित होते हैं और उनकी कथावस्तु सामाजिक समस्याओं एवं समाधानों को इंगित करती है; परन्तु उनमें सामाजिक चिन्तन की न वह व्यापकता मिलती है, न सामाजिक समस्याओं के प्रति वह गहरी अनुभूति, जो प्रेमचन्द की विशेषताएँ हैं। प्रेमचन्द की सामाजिक अन्तर्दृष्टि अपूर्व थी और उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संघर्षों, अन्तर्विरोधों और व्यंग्यों को अपने उपन्यासों के माध्यम से मुखरित किया है। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक हम भारतीय नगर और ग्राम की एक अत्यन्त विशाल चित्र-पटी से परिचित होते हैं और इन रचनाओं के सैकड़ों चरित्रों के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्ग और उनकी समस्याएँ हमारे सम्मुख आ जाती हैं। किन्तु प्रेमचन्द के सामाजिक चिन्तन की भी अपनी सीमाएँ हैं। वह अधिकतः सामूहिक या समूहगत दृष्टि से बँधा हुआ है और मानव के चिरंतन प्रश्नों से उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया है। उसमें तथ्यवादिता की प्रधानता है और कभी-कभी ऐसा लगता है कि जिस जीवन का चित्रण प्रेमचन्द कर रहे हैं वह मात्र सतही बनकर रह गया है। इसका कारण केवल इतना ही है कि गहरी अन्तर्दृष्टि के होते हुए भी उनकी चित्रपटी इतनी विशाल है कि वह सब पर अपना समान ध्यान रखकर चलना चाहते हैं। दूसरे, कविता और कल्पना का संस्पर्श जिस औपन्यासिक सामाजिक चिन्तन को सप्राण बनाता है, वह प्रेमचन्द में अत्यन्त सीमित रूप में है। सन् १९२८ के लगभग इस स्थिति की प्रतिक्रिया हिन्दी-उपन्यास में परिलक्षित होती है और तटस्थ चित्रण का स्थान औपन्यासिक व्यंग्य तथा काल्पनिक चित्रण को प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप अभिव्यक्ति में बल आता है और उपन्यास-कार सामाजिक तथ्य को चिरंतन समस्याओं के साथ गूँथने लगते हैं। और ये चिरन्तन समस्याएँ होती हैं कि वास्तव में समाज को किस दृष्टिकोण से देखना चाहिए, वास्तव में समाज में पाप और पुण्य की क्या व्याख्या हो, प्रेम और विवाह का क्या स्वरूप हो, और समाज में व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य क्या माना जाना चाहिए, आदि। ये समस्याएँ अलग-अलग रूपों में उठती हैं और लेखक तटस्थ दर्शक की स्थिति से ऊपर उठकर इन पर अपना ठोस निर्णय देता है। नैतिकता और आदर्श के तत्त्व उसके इन निर्णयों में बाधक नहीं होते और इसीलिए चित्रण के क्षेत्र में संयम का स्थान अतिवादिता को मिलता है। प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों में सामाजिक चिन्तन की एक नई ही धरती उभरने लगती है और जीवन का सत्य कला का सत्य बनकर सामने आता है। 'निराला' और भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास इसी भाव के विकास की सूचना देते हैं। उनमें कवि-दृष्टि की प्रधानता है और भावना का उन्मुक्त विलास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। प्रेमचन्द के सामाजिक चिन्तन से उनके सामाजिक चिन्तन की प्रकृति ही भिन्न है। उसमें उतना दिक्व्यापी प्रसार भले ही न हो, उतनी क्रान्तिदर्शिता भी नहीं है—परन्तु एक नया बौद्धिक आधार अवश्य है। उनकी वैचारिकता भी प्रेमचन्द के उपन्यासों की वैचारिकता से अधिक पुष्ट है। प्रेमचन्द का साहित्य चित्रणमूलक कहा जा सकता है और इन उपन्यासकारों की रचनाएँ समस्यामूलक एवं तर्कमण्डित। उनमें मध्यवित्त समाज की द्वन्द्वात्मक स्थिति अधिक स्पष्ट रूप से उभरी है।

भगवतीचरण वर्मा हिन्दी के ख्यातिप्राप्त कवि, कहानीकार और उपन्यासकार हैं। उपन्यास-क्षेत्र में उनका आगमन 'पतन' के साथ हुआ, किन्तु उनकी प्रसिद्धि 'चित्रलेखा' के प्रकाशन और उनके सफल फिल्मीकरण से हुई। ये दोनों ही उपन्यास उस युग की प्रवृत्तियों से विभिन्न रूप में थे—विशेषकर 'चित्रलेखा' एक नवीन ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण लेकर आई थी, इसलिए वर्माजी का उपन्यास-क्षेत्र में स्वागत और मान हुआ। 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' और 'आखिरी दाव' उनके अन्य उपन्यास हैं जो विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गए हैं।

'तीन वर्ष'

विवाह और प्रेम दोनों में क्या सम्बन्ध है यह प्रश्न बहुत ही उलझा हुआ है और इसकी यह उलझन ही इसको विभिन्न व्यक्तियों के सामने विभिन्न रूप में रखती है। क्या विवाह के लिए प्रेम आवश्यक है, अथवा प्रेम का अन्त विवाह में ही होना चाहिए? हर व्यक्ति इस सम्बन्ध में अपनी अलग राय दे सकता है और हो सकता है कि उसकी राय उसके ढंग से सही हो। 'तीन वर्ष' की मूलाधार समस्या यही है।

'तीन वर्ष' का नायक रमेश प्रभा से व प्रभा रमेश से प्रेम करती है। दोनों सुन्दर हैं, दोनों युवक हैं, परस्पर प्रेम होना आश्चर्यजनक नहीं। आदर्शवादी रमेश प्रेम का अन्तिम परिणाम विवाह मानता है, यद्यपि उसका अधिक समझदार और दुनिया को परखे हुआ मित्र अजीत जानता है कि निर्धन रमेश व विलास में पली ऐश्वर्य की अभ्यस्त प्रभा के मध्य विवाह-सम्बन्ध असम्भव है। प्रभा स्वीकार करती है कि रमेश से उसे प्यार है, किन्तु विवाह के लिए वह राजी नहीं। उसके अनुसार प्रेम का सम्बन्ध वासना-भोग से है, यौवन की उन्मुक्त लालसा से है, विवाह का सम्बन्ध है जीवन-यापन अर्थात् धन की सुविधाजनक स्थिति से। रमेश की सामर्थ्य इतनी नहीं कि वह प्रभा की आवश्यकताओं को, जो काफी बढ़ी हुई हैं, पूरी कर सके। अतः विवाह का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

दुनिया से भागा हुआ, शराब की बेहोशी में अपने ग़म को गलत करने में सचेष्ट रमेश का अनायास सरोज से परिचय होता है और दुनिया को चाँदी से तोलने वाली 'हृदयहीन' वेश्या निरुद्देश्य जीवन को ढकेलने वाले इस लापरवाह नवयुवक की ओर आकर्षित हो जाती है। उस वेश्या के यहाँ, जहाँ प्रेम का मूल्य अर्थ की सीमा से नापा जाता है, रमेश सच्चा प्रेम पाता है। मदहोशी के आलम के साथ जीवन की कोमल अनुभूति का उसके जीवन में समन्वय हो जाता है। किन्तु उस समय तक वह प्रेम को परखने की शक्ति ही खो चुका था, अतएव वह पत्थर-हृदय व्यक्ति सच्चे प्रेम की उपेक्षा कर पतन के मार्ग की ओर, पशुता की ओर बढ़ता जाता है, दुनिया और स्वयं से बेखबर। सरोज के त्याग से उसका जमा हुआ हृदय पिघलता है किन्तु होश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आकर देखता है कि उसने सरोज को खो दिया है, उसकी अपनी निष्ठुरता से हत्या कर दी है। इसे हत्या ही कहना उचित होगा। उस समय प्रथम बार उसे ज्ञात होता है कि प्रेम में केवल पाना ही पाना नहीं है, त्याग भी होता है, कुछ देना भी होता है। प्रेम का चरम उत्कर्ष त्याग है। सरोज का त्याग उसके मोह के नशे को तोड़ देता है और वह लाखों की सम्पत्ति का स्वामी बनकर, किन्तु हृदय की निधि लुटा निर्धन बन, उठने के लिए फिर संसार में आ जाता है, क्योंकि सरोज ने मरते समय उठने का आग्रह जो किया था। लखपती रमेश से विवाह करने में प्रभा को अब कोई आपत्ति नहीं है, वरन् वह उसके लिए उत्सुक है; किन्तु सरोज को खोकर रमेश सीख गया है कि विवाह आत्माओं का सच्चा सम्बन्ध है और उस दृष्टि से उसका सरोज से वास्तव में विवाह हो चुका है।

तब अन्त में प्रश्न उठता है कि प्रेम क्या है? क्या प्रभा का लेन-देन, शारीरिक विलास का नाम प्रेम है, अथवा सरोज का मौन त्याग? लेखक का मत है कि विवाह का आत्मिक सम्बन्ध प्रेम है। किन्तु लेखक का यह कथन भी बहुत अस्पष्ट-सा है। वस्तुतः "**प्रेम की परिभाषा करना असम्भव है। हम प्रेम को समझ सकते हैं, उसको अनुभव कर सकते हैं, पर उसकी परिभाषा करना हमारी शक्ति के बाहर है।**" प्रेम के दो रूप—एक तो जो प्रभा का आदर्श है और दूसरे की साधना सरोज में दिखाई देती है—सामने आते हैं। दोनों रूप विभिन्न हैं। कौनसा रूप सत्य है इसका अन्वेषण रमेश द्वारा कराया गया है। 'चित्रलेखा' के लेखक ने 'तीन वर्ष' में उठाई गई समस्या को उसी ढंग से हल करने के लिए इस बार केवल एक ही पात्र चुना, अतएव उत्तर भी अब की बार अधिक स्पष्ट मिल गया है।

सरोज रमेश से प्रेम करती है व उसके लिए जीवन का बलिदान भी करती है, किन्तु उसके निःस्वार्थ प्रेम की—ऐसे प्रेम की जो धन के बंधन से मुक्त है—सच्ची परीक्षा उस समय होती जबकि सरोज निर्धनता को स्वीकार कर, अभाव की चपेटों को बरदाश्त करते हुए भी रमेश से बिना शिकायत किये हुए अपने प्रेम में अडिग रहती। प्रेम की महत्ता उसी समय प्रकट होती जबकि ऐश्वर्य में पली सरोज अभावों से भी विचलित न होती। बहुत से मनुष्य प्राण दे सकते हैं, किन्तु अभावों को बरदाश्त नहीं कर सकते। सरोज के पक्ष में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसके सामने ऐश्वर्य को त्यागकर निर्धनता को अपनाने का प्रश्न ही नहीं आया जैसा कि प्रभा के सामने आया था, अतः उसको प्रेम प्रदर्शित करने का पूरा अवसर ही नहीं दिया गया। जहाँ अवसर मिला है उसका निश्छल प्रेम सागर के समान अथाह व गम्भीर ही दिखाई देता है। रमेश के सभी अत्याचारों, क्रूर व्यवहारों व अपमानों के बाद भी वह शिकायत-भरी उफ़ तक नहीं निकालती।

रमेश व सरोज का विवाह-सम्बन्ध सम्भव था। वह वेश्या की पुत्री थी तो क्या? जबकि यह सम्भव है कि एक बिलकुल देहाती किस्म का युवक, जिसकी टोपी से चोटी बाहर की हवा खाने को स्वतन्त्र है, कुछ ही महीनों के छोटे-से अरसे में एक बड़े वकील की पाश्चात्य फैशन में पली नवयुवती को आकर्षित कर सकता है; जबकि यह भी सम्भव है कि वेश्याएँ किसी व्यक्ति में दार्शनिकता की बू पाकर विचित्र भाव से देखें और शीघ्र ही यह भाव एक निःस्वार्थ व निश्छल प्रेम का रूप धारण कर सकता है; जबकि यह भी सम्भव है कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने पहले शायद शरबत, सोडा भी न चखा हो, अनायास ही पक्का शराबी बन बैठता है और 'नीट' ह्स्किी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के गिलास-के-गिलास उँडेलकर भी होश कायम रखकर पुराने शराबियों को चकित कर सकता है (शराब पीना अपने हाथ में है, किन्तु उसके बाद होश न खोना नहीं), तब बहुत-कुछ सम्भव है। उस हालत में वेश्या के साथ विवाह-सम्बन्ध भी सम्भव हो सकता है (कम-से-कम इससे वह समाज में एक आदर्श उपस्थित करने की प्रेरणा दे सकता था)। किन्तु अच्छा हुआ कि उपन्यासकार इस आदर्श को प्रस्तुत करने के चक्कर में न पड़कर अपने रास्ते पर सीधा ही बढ़ता गया है। 'प्रेम क्या है ?' यही समस्या लेकर वह बढ़ा है और उसी के हल में उसे हम प्रयत्नशील पाते हैं।

'तीन वर्ष' के पात्र

वर्माजी के इस उपन्यास में नायक रमेशसहित कुल चार पात्र हैं—रमेश, अजित, सरोज तथा प्रभा। गौण पात्र भी बहुत अधिक नहीं हैं, गिने-गिनाए हैं। इस प्रकार दो प्रमुख पुरुष हैं व दो नारी। ये पात्र दो विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। रमेश व सरोज आदर्शवादी पात्र हैं और प्रेम के आत्मिक पक्ष को स्वीकार करते हैं। अजित और प्रभा प्रेम को यथार्थवादी (भौतिकवादी) दृष्टिकोण से देखते हैं। इस प्रकार एक पुरुष व एक नारी-पात्र एक दृष्टिकोण—आदर्शवादी दृष्टिकोण—के पोषक हैं तो दूसरे दृष्टिकोण—यथार्थवादी दृष्टिकोण—को लेकर आगे बढ़ने के लिए भी एक पुरुष व एक नारी दिखाई पड़ते हैं।

रमेश प्रेम के आत्मिक पक्ष में आस्था रखता है। वह प्रेम को अनादि, अनन्त, मनुष्य का प्राण और जीवन मानता है। यह आदर्शवादी नवयुवक प्रेम का अन्त विवाह में स्वीकार करते हुए आशा करता है कि उसकी प्रेमिका प्रभा उससे प्रेम करने के नाते बिना हिचकिचाहट के जीवन-संगिनी बनना स्वीकार कर लेगी। आशा को ठोकर लगती है और अपनी आस्था को बिना खोए ही रमेश अपने जीवन को बदलना चाहता है, पुराने जीवन को भुला देना चाहता है। इस प्रयास में वह विक्षिप्त-सा हो जाता है और लापरवाही के साथ पतन की ओर बढ़ता जाता है। किन्तु न वह पुराने जीवन को ही खो पाता है और न पुरानी आस्था को ही। यही कारण है कि वह जीवन की नई आस्था ले नये सिरे से प्रारम्भ नहीं कर पाता और जीवन यों ही अस्त व्यस्त चलता रहता है, उस समय तक जबकि उसको एक दूसरी ठोकर द्वारा, सरोज के त्याग द्वारा, होश नहीं आ जाता।

प्रेम के आत्मिक पक्ष पर पूर्ण आस्था सरोज के हृदय में भी मिलती है। वह वेश्या है, शरीर एवं रूप का सौदा करती है। पैसे का उसके लिए विशेष अर्थ नहीं, चाँदी के टुकड़ों की कीमत इतनी ही है कि उससे शरीर खरीदा जा सकता है। वह एक ऐसे समाज का अंग है जो घृणित माना जाता है, जिस पर किसीको सहानुभूति नहीं, जहाँ सौदा चाँदी के टुकड़ों पर होता है। वह उस समाज में ढकेल दी गई है जहाँ सम्बन्ध क्षणिक होते हैं। सच्चे प्रेम, सहानुभूति-भरे दो शब्दों और ऐसे सम्बन्ध कि जिनमें चाँदी के टुकड़ों का दखल न हो और जो स्थायी हों—वह तरसती रहती है। जीवन में प्रथम बार एक व्यक्ति ऐसा आता है जो उसके रूप और यौवन को चाँदी के बल पर नहीं खरीदना चाहता, जिसको उसके रूप की ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं। वह झुक जाती है, उसे पहली बार सच्ची मानवता का, पीड़ित मानवता का, परिचय मिला है। हृदय की पीड़ा एक पीड़ित हृदय के सम्पर्क में आकर पिघलने लगती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है और पहली बार सरोज मानवता के गुणों से अपने हृदय को छलकता हुआ पाती है। पैसे की उसे परवाह नहीं, उसके पास आवश्यकता से अधिक धन है। उसको तो सच्चे प्रेम की चाह है और वह उस प्रेम की स्निग्ध किरण से रमेश के हृदय को प्रकाशित या अपनी पूर्ण निधि सहित उस पर न्यौछावर हो गई। सरोज को प्रेम के अलावा और कुछ नहीं चाहिए। प्रेम का आत्मिक पक्ष मात्र ही उसे पर्याप्त है। शारीरिक प्रेम तो एक ऐसी वस्तु है कि वह चाहे जहाँ से प्राप्त की जा सकती है। उसने तो अनमोल रत्न पा लिया और उस रत्न को वह प्राण देकर भी रखने में सचेष्ट है।

अजित यथार्थवादी है। उसने दुनिया देखी है। भौतिक सुखों का उसने पूरा उपयोग किया है और वह जानता है कि भौतिक सुखों को महत्त्व देने वाले व्यक्ति की किस अवसर पर क्या प्रतिक्रिया होगी। अजित के पास पैसा है और उसने उसके बल पर सब तरह का आनन्द लूटा है। उसके लिए उनमें कोई नवीनता नहीं और न उस वर्ग के प्रति कोई आकर्षण है जो भौतिकवादी पक्ष का है। प्रभा आदि तितलियाँ केवल खिलवाड़ की वस्तुएँ हैं, उनसे आत्मिक प्रेम सम्भव नहीं—इस तथ्य का उसे पूर्ण ज्ञान है, क्योंकि वह स्वयं न जाने कितनी तितलियों के साथ खिलवाड़ कर चुका है। भौतिकवादी सुखों में उसे कोई आकर्षण नहीं रह गया है। इसीलिए तो वह अपने वर्ग से अलग वर्ग के व्यक्ति रमेश से मित्रता जोड़ता है। रमेश का आदर्शवादी प्रेम उसके लिए एक नवीन वस्तु है, यद्यपि उसके प्रति उसके हृदय में अनास्था का भाव नहीं है। रमेश की असफलता से अजित को धक्का नहीं लगता क्योंकि उसे पहले ही प्रभा की मनोवृत्ति का ज्ञान है। किन्तु उसे वास्तविक धक्का तब लगता है जबकि वह देखता है कि असफल होकर भी रमेश अपनी अवस्था से डिगा नहीं, आस्था को मिटाकर नवीन आस्था—खेलने-खाने की आस्था—को ग्रहण करने के स्थान पर वह (रमेश) स्वयं अपने को मिटाने पर तुला हुआ है। अजित ने दुनिया देखी है, वह यथार्थवादी है और उसके विचार तर्क पर आश्रित होने के कारण एक हद तक सही होते हुए भी प्रेम का ऐसा पक्ष उसके सामने आया जिसकी उसे कम सम्भावना थी और इसका धक्का उसको जबर्दस्त बैठा। उसने अनुभव किया कि रमेश की इस अवस्था की जिम्मेदारी उस पर है। भौतिकवादी आस्था के प्रति आकर्षण तो पहले ही न रह गया था, इस धक्के ने उसे भौतिकवादी सुखों को लात मारकर कहीं चले जाने की प्रेरणा दी। अन्त में प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में रमेश द्वारा लेखक ने जो मत प्रकट किया है उसमें अजित व रमेश दोनों के विचारों का समन्वय है। प्रभा के प्रति भौतिकवादी पक्ष को अवश्य गर्हित माना है। अजित विवाह के लिए प्रेम इसलिए आवश्यक नहीं मानता क्योंकि प्रेम रूप के आकर्षण की उपज होने से अस्थायी है। इस प्रकार वह प्रेम के भौतिकवादी स्वरूप को नहीं स्वीकार करता—यही कारण है कि वह यथार्थवादी होते हुए भी बहुत-कुछ आदर्शवादी है, विवाह के बाद प्रेम के आदर्श पर जोर देता है।

प्रभा ऐश्वर्य में पली है, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हैं। प्रेम को वह पेट-भरे का विलास मानती है। धन प्रमुख है, उसके पश्चात् अन्य वस्तुओं पर ध्यान दिया जा सकता है। इस दृष्टि से वह भौतिकवादी यथार्थ पक्ष को ग्रहण किये हुए है। प्रेम और धन में उसको धन महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। वह प्रेम के यौनपक्ष (Sexual side of love) को ग्रहण करती है। जहाँ सरोज के प्रेम में त्याग का चरम उत्कर्ष है, वहाँ प्रभा के प्रेम में प्राप्ति की चरम लालसा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह का यौनिक प्रेम कोई अलभ्य वस्तु नहीं, वह तो उसे चाहे जहाँ मिल जायगा। अधिक कठिन है धन पाना, इसीलिए वह धन पर विशेष अनुराग रखती है। त्याग की आवश्यकता ही क्या है, जो कुछ रमेश से उसे मिलता है वह तो वह कहीं भी पा सकती है। हाँ, सरोज को रमेश से जो कुछ मिला है वह एक दुर्लभ वस्तु है, यही कारण है कि दोनों के दृष्टिकोण अलग हैं। एक सब-कुछ लुटाकर रमेश से प्रेम करती है, दूसरी धन के पीछे रमेश को ठुकरा देती है।

अजित और प्रभा दोनों यथार्थवादी हैं, अन्तर केवल यही है कि अजित भौतिक वातावरण में रहकर भी लिप्त नहीं है, उसे ही सब-कुछ स्वीकार नहीं करता और प्रभा भौतिक सुखों को ही चरम उद्देश्य मान लेती है। एक ही प्रकार के वातावरण में रहते हुए भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न होने का मूल कारण यही है। इसीलिए प्रभा की प्रेम और विवाह की व्याख्या में यान्त्रिकता है, जो आत्मिक सम्बन्ध को कहीं भी स्वीकार नहीं करती—न विवाह से पूर्व, न विवाह के पश्चात्। अजित प्रेम को बिलकुल त्याज्य न मानते हुए केवल उसकी परिस्थिति में अन्तर-भर चाहता है। वह प्रेम का मूल्य विवाह के पश्चात् मानता है।

लेखक ने अपना निष्कर्ष उपन्यास के अन्त में दिया है। विवाह के दो पहलू हैं—पहला आत्मिक, जिसे प्रेम कहते हैं व दूसरा आर्थिक—जीवन-यापन से सम्बन्धित। प्रभा का प्रेम भोग-विलास तक सीमित था व विवाह का अर्थ था धन के बदले में शरीर का सौदा। प्रेम और विवाह में वह सम्बन्ध नहीं मानती, इसीलिए एक व्यक्ति से वह प्रेम करते हुए उससे विवाह को राजी नहीं होती। जब वही व्यक्ति धनाढ्य हो जाता है तब वह उससे विवाह को उत्सुक हो जाती है। इस प्रकार प्रभा विवाह का कारण धन मानती है, प्रेम नहीं। वह उसके शारीरिक एवं आर्थिक पहलू मात्र को स्वीकार करती है। वह पुरुष का धन लेती है, अपना शरीर देने के बदले में और यह वेश्यावृत्ति है। उपन्यासकार ने जो हल रखा है उसने आर्थिक पहलू पर विशेष ध्यान न दे आत्मिक पहलू को स्वीकार किया है। इस पहलू की स्वीकृति के परिणामस्वरूप ही रमेश सरोज के साथ अपने इस बन्धन को स्वीकार करता है।

उपन्यास एक समस्या को लिये हुए है जो तार्किक शैली में लिखा गया है। वर्माजी की भाषा संयत और प्रांजल है, उसमें ललचाऊपन नहीं है।

'चित्रलेखा' के प्रभाव से उपन्यासकार मुक्त नहीं हो सका है। कुछ सीमा तक यही शैली पकड़े हुए है। 'तीन वर्ष' का अजित 'चित्रलेखा' के बीजगुप्त की भाँति रमेश को अभावों की दुनिया से उठाकर ऐश्वर्य के प्रासाद में लाकर छोड़ देता है, विभिन्न प्रकार के त्याग करने को प्रस्तुत है, यद्यपि वह बीजगुप्त की भाँति महान् नहीं हो सका है, न यह उपन्यास ही उतना ऊँचा उठ सका है जितना 'चित्रलेखा'।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते'

समाज में दो प्रकार के वर्ग हैं—एक वह जो पुराने विचारों में पला है व वे विचार उसके रग-रेशे में इस तरह समा गए हैं कि वह नवीनता का समर्थन नहीं कर पाता और समय के साथ बढ़ने में असमर्थ हो अपने स्थान पर ही अड़े रहना चाहता है। इस प्रयास में वह प्रगतिशील विचारों का विरोध करते हुए अपने साथ ही समय को भी रोकने की चेष्टा करता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु इस चेष्टा में वह स्वयं भी घिसटता चलता है।

दूसरा वर्ग है उस समाज का जो नवोदित भावनाओं का स्वागत करता है, उनके विकास तथा प्रसार में सहायक होता है। अधिकांशतः नवयुवक इस वर्ग में ही शामिल हैं। इस वर्ग में विभिन्न उपवर्ग हैं; यथा साम्यवादी, समाजवादी, क्रान्तिकारी, कांग्रेसी आदि।

प्रथम वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि हैं—पूँजीवादी व साम्राज्यवादी तथा सामाजिक क्षेत्र के पूरक हैं प्राचीन रूढ़िवादी।

द्वितीय वर्ग में भी दो भेद हो गए हैं—१. हिंसावादी, २. अहिंसावादी। क्रान्तिकारी तथा साम्यवादी दल हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास करते हैं, यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास में साम्यवादी दल ने हिंसा का आश्रय नहीं लिया है। कांग्रेस तथा गांधीजी से प्रभावित व्यक्ति अहिंसा में विश्वास करते हैं।

वस्तुतः संघर्ष सबल एवं निर्बल के बीच है। साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध गुलामों का, पूँजीवादियों के विरुद्ध गरीब मजदूरों का, जमींदार के विरुद्ध शोषित किसानों का तथा अपनी इच्छा लादने वाले परिवार के मुखिया के विरुद्ध परिवार के स्वतन्त्र-चिंतक सदस्यों का विरोध है। इस प्रकार समस्या आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार की है।

आलोच्य उपन्यास में सबल वर्ग के प्रमुख प्रतिनिधि हैं पं० रामनाथ तिवारी। वे जमींदार हैं और इस हैसियत से किसानों पर उनका कोड़ा चलता है व पिता तथा परिवार के मुखिया की हैसियत से छोटे भाई व पुत्रों पर शासन अपना अधिकार समझते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति, जिसके पुलिस, फौज, विशम्भरदयाल सरीखे व्यक्ति पुर्जे हैं, सारे देश के शासन को हाथ में रखने में प्रयत्नशील है। इस प्रयत्न में बाधक शक्तियों का दमन करने में प्रथम वर्ग पूर्णतया दृढ़ है। पं० रामनाथ पुत्र से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और किसानों का दमन कठोरता से करते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति भी दमन करने में पूरी तौर पर कठोर व निर्भय है, यद्यपि यह बात दूसरी है कि अहिंसात्मक आन्दोलन को कुचलते समय प्रयत्न करने पर भी बहुत निर्दय नहीं हो पाती।

प्रस्तुत उपन्यास में निर्बल और सबल का संघर्ष तो है ही, साथ ही सबल का सबल से भी संघर्ष हो पड़ता है। शक्ति का पुजारी सबल दल अहं में आस्था रखता है और इस अहं की रक्षा हर कीमत पर करना चाहता है। रामनाथ व विशम्भरदयाल के बीच इसी अहं की भावना ने संघर्ष का बीज रोपा। विशम्भरदयाल तथा रामनाथ दोनों ही शक्ति व अहं के नशे में मदहोश हैं, धन की उन्हें चिन्ता नहीं और इसीलिए एक ही दल—सबल दल के होते हुए आपस में जूझ जाते हैं। पराजय दोनों की होती है। प्रभानाथ को सरकारी मुखबिर बनाने में विशम्भरदयाल असमर्थ रहते हैं और बेटे को मौत से बचाने में रामनाथ असफल हो जाते हैं। सबल की आपसी लड़ाई में ही तो निर्बल को अवसर मिलता है कि सबल की इस निर्बलता का लाभ उठाकर अपनी शक्ति बढ़ाई जाय, सबल को करारी चोट दी जाय।

विरोधी निर्बल दल का प्रतिनिधित्व पं० रामनाथ के तीनों लड़के करते हैं। यह एक मजे की बात है कि उनके तीनों लड़के तीन अलग दलों में सम्मिलित होते हैं व करीब-करीब उच्चतम नेता का पद पा जाते हैं। दयानाथ कांग्रेस का माना हुआ नेता बनता है, उमानाथ साम्यवादी दल के देश के सबसे बड़े नेता का पद संभालता है और प्रभानाथ क्रान्तिकारी दल का नेता न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने पर भी हीरो (Hero) बन जाता है। इस प्रकार असाधारण पिता के तीनों पुत्र असाधारण निकलते हैं। पिता एक वर्ग का प्रतिनिधि है तो तीनों पुत्र तीन अलग दलों में विशेष स्थान रखते हैं।

पिता व पुत्रों की विचारधाराएँ सर्वथा भिन्न हैं। सबका दृष्टिकोण अलग है, सबके रास्ते अलग हैं। सवाल उठता है कि आखिर कौन सही रास्ते पर है और किनका मार्ग गलत है? सब अपने-अपने ढंग से सोचते हैं व उसी ढंग से अपने मार्ग पर चलते हैं। हरेक अपने ढंग से ईमानदारी के साथ अपने मार्ग को ठीक समझकर उस पर बढ़ता है। लेखक ने सबका दृष्टिकोण यथासम्भव तटस्थ की भाँति स्पष्ट कर दिया है। अन्त तक उसकी चेष्टा रही है कि वह किसी एक मार्ग को सही व सीधा मानकर उसके प्रचार में न शामिल हो जाय। सभी मार्ग उसके लिए टेढ़े-मेढ़े हैं, आसान उनमें से कोई नहीं है। तब भी उसकी सहानुभूति गांधीवादी अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रति है। साम्यवादी दल के प्रति उसकी सहानुभूति कम है। कुछ-कुछ वह उसे अराष्ट्रीय मानता है, रूस का चलाया आन्दोलन स्वीकार करता है। क्रान्तिकारी आन्दोलन को भी वह सही नहीं मानता, किन्तु राष्ट्रीय होने के नाते उसकी सहानुभूति का यह भागी अवश्य है। यही कारण है कि वह एक प्रमुख क्रान्तिकारी द्वारा मरते समय आतंकवाद को गलत कहलाते हुए भी अपने मार्ग पर ईमानदार प्रभानाथ व वीणा के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार कायम रखता है और प्रभाकर का चरित्र उज्ज्वल चित्रित करता है। दूसरी ओर गांधीवाद व कांग्रेस का समर्थन करता है और रामनाथ सरीखे दकियानूसी के मुँह से अहिंसा की शक्ति की प्रशंसा व गांधी के प्रति श्रद्धा प्रकट कराते हुए निजी स्वार्थ में लीन दयानाथ की कुछ फजीहत भी करा देता है।

पात्र

प्रत्येक काल में, प्रत्येक राष्ट्र में, समयानुकूल प्रगति के अनुसार नई पीढ़ी बढ़ती है, सम्पूर्ण सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्थाओं एवं मानव की मान्यताओं में क्रमानुसार परिवर्तन होते चलते हैं और पुरानी पीढ़ी भी परिवर्तनों का विरोध करते हुए उनकी बढ़ती धारा को रोकने में असफल हो धीरे-धीरे उनके अनुरूप ढलती चलती है। इस प्रकार नई पीढ़ी तथा पुरानी पीढ़ी में सतत बौद्धिक संघर्ष चलता रहता है, भले ही यह संघर्ष संकटपूर्ण परिस्थिति न उत्पन्न करता हो।

कभी-कभी ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं कि देश व समाज में होने वाले इन बाह्य एवं वैचारिक परिवर्त्तनों की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है और पुरानी पीढ़ी की मन्द गति इनका साथ न दे सकने के कारण उपर्युक्त संघर्ष विकट रूप धारण कर लेता है। प्रस्तुत उपन्यास में ऐसा ही अवसर प्रस्तुत हुआ है। पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि एवं उपन्यास के सम्भवतः सर्वप्रमुख पात्र रामनाथ की मनोदशा इन शीघ्र परिवर्त्तनशील परिस्थितियों के कारण ही असन्तुलित हो गई है। वे उलझन में हैं कि अचानक सभी कुछ नवीन और अनजाना-सा क्यों होता जा रहा है। पुराने युग के सुशिक्षित एवं तर्कशील प्रतिनिधि रामनाथ अपने को नये युग का समझते हैं,[1] क्योंकि वे पुरानी रूढ़ियों एवं परम्पराओं के बिना तर्क की कसौटी पर कसे स्वीकार करने को तैयार नहीं, किन्तु जब वे देखते हैं कि वे तो समय से काफी पिछड़ गए हैं अथवा नया माने जाने वाले युग का स्वरूप उनकी समझ के परे है तो उनकी अहम्मन्यता की भावना को ठेस

१. पृ० १५२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगती है। सारी समस्या यही है कि वे अपने को पिछड़ा मानने को तैयार नहीं। यहीं उनका नये युग से विरोध है। वे नये युग को स्वाभाविक एवं कल्याणकर मानने से ही इन्कार कर देते हैं। दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी का अल्पशिक्षित एवं तर्कबुद्धि से प्रायः रहित पुरातनपंथी झगड़ू मिसिर में अहम्मन्यता का अभाव होने से हठधर्मिता नहीं है और परिणामस्वरूप वे नई पीढ़ी के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में, उसके साथ कदम मिलाकर चलने में, सफल हैं। उनकी रूढ़िवादिता एवं उनका बौद्धिक पिछड़ापन अज्ञान का परिणाम है, रामनाथ की भाँति वह हठधर्मी के साथ जान-बूझकर नई रोशनी का विरोधी नहीं है। रामनाथ का व्यक्तित्व जितना प्रखर एवं शक्तिशाली है, यदि उनमें उपयुक्त कमी न होती तो उसके अनुसार उनमें सारे पात्रों की विचारधारा को संचालित करने की शक्ति सम्भव थी। क्रान्तिकारी प्रभाकर भी इस व्यक्तित्व की प्रखरता से भयभीत है,[1] किन्तु पण्डित रामनाथ का स्वयं अपने से ही संघर्ष है। वे जिस बात को तर्क द्वारा समझते हैं उसको स्वीकार करने में उनके हृदय में हिचक है। अपनी इसी दुर्बलतावश वे अपनी शक्ति बहुत-कुछ खो बैठते हैं। वे ऐसे शक्तिशाली नेताओं के समान हैं जिनमें नेतृत्व की क्षमता, प्रबल क्षमता है, किन्तु जो गलत पक्ष का समर्थन कर रहे हों तथा साथ ही स्वयं भी इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। उनकी अहम्मन्यता ने एक ऐसे पुतले का निर्माण किया है जो ऊपर से फौलादी है और हर परिस्थिति में अडिग रहने वाला है, किन्तु जिसके भीतर मानवीय भावनाएँ भी भरी हैं (दबी हुई ही सही) तथा इन भावनाओं की आग इस कठोर फौलादी ढाँचे को भीतर-ही-भीतर जलाकर खोखली करती चली जा रही है। बाहर से अब भी भले ही कठोर फौलादी ढाँचा खड़ा है, किन्तु वस्तुतः उसकी बरदाश्त करने की शक्ति व्यय हो चुकी है।

वास्तव में समस्त जीवन-भर रामनाथ की कोशिश यही रही है कि वे कहीं पराजित न हों। ब्रिटिश शासन के आगे भी वे इसी दृष्टि से सिर नहीं झुकाना चाहते हैं। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन तथा जमींदार वर्ग एक-दूसरे के सहारे टिके हुए हैं और इस दृष्टि से उनमें बराबरी का-सा सम्बन्ध है। लड़कों द्वारा प्रतिपादित नवीन विचारों के आगे अपने विचारों एवं धारणाओं की अवहेलना उनको पुत्रों से जुदा कर देती है। वे अपने विचारों को, अपने व्यक्तित्व को ही, सर्वोपरि मानते हैं। छोटा लड़का प्रभानाथ कहीं झुक न जाय, इसकी चिन्ता है, क्योंकि बच्चों की दुर्बलता में भी वे अपनी पराजय देखते हैं। दोनों बड़े लड़कों को अपने पथ से भ्रष्ट होने से (उनके पथों के विरोधी होते हुए भी) वे बचाते हैं। छोटे लड़के को भी उनसे शक्ति मिलती है कि दृढ़ रहे, किन्तु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि यह दृढ़ता शंकास्पद है। रामनाथ विकल हैं, बेबस हैं। उनकी सारी शक्तियाँ इन परिस्थितियों के सम्मुख निरर्थक हो गई हैं कि वीणा इस कार्य में आगे बढ़ती है। वीणा द्वारा प्रभानाथ को दुर्बलता प्रदर्शित करने से रोकने का कार्य यद्यपि रामनाथ के अहं की रक्षामात्र के लिए नहीं था, किन्तु इससे रामनाथ की पराजय अवश्य बच गई। रामनाथ की पराजय होती है स्वयं के साथ युद्ध में और इस युद्ध में वे इतने जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं, इतने अशक्त हो जाते हैं कि एक अबोध बालक के सहारे के लिए ही व्याकुल हैं। जिस व्यक्ति ने सदैव सब पर शासन करना ही सीखा हो उसका अन्त में एक अबोध बालक को निपटा लेना उसकी मनोदशा का द्योतक है। स्पष्ट ही रामनाथ भयभीत हैं कि सब-कुछ लुट

१. पृ० २६३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया, कहीं यह सहारा भी न छिन जाय। उनकी सारी शक्ति का महल अब इस छोटे-से सहारे पर ही टिका रह गया है। वस्तुतः यह उस व्यक्ति का अत्यन्त दीन स्वरूप है—उस प्रखर व्यक्तित्व का जो सबको झुलसा देता है, जिसके आगे प्रभाकर सदृश क्रान्तिकारी भी दहलते हैं। तथापि सम्भवतः पहली बार रामनाथ यहाँ हाड़-माँस से बने मानव के रूप में स्पष्ट रूप से प्रकट हो सके हैं, इससे पहले उनके मानवस्वरूप पर अहम्मन्यता का आवरण सदैव ढका मिलता है।

नई पीढ़ी के पात्र अनेक हैं। उनके मार्ग अनेक हैं। रामनाथ के तीन लड़के दयानाथ, उमानाथ तथा प्रभानाथ तीन विविध मार्गों के प्रतिनिधि अनुयायी हैं, शेष पात्र इनके राजनीतिक सिद्धान्तों का न्यूनाधिक पालन करते हैं। उदाहरणार्थ ब्रह्मदत्त को लेने पर ज्ञात होता है कि वह साम्यवादी मजदूर-आन्दोलन का समर्थक होते हुए भी कांग्रेस-दल का सदस्य है।

दयानाथ कांग्रेस का सदस्य एवं प्रमुख नेता है। कांग्रेस के कार्य के हेतु वह अपने पिता के रोष का सामना करता है। उसमें जहाँ एक ओर देश-प्रेम की भावना कूट-कूटकर भरी है और उसके कारण वह विदेशी शक्ति के समर्थक जमींदार वर्ग (पिता सहित) का विरोधी है, वहीं उसमें अहम्मन्यता की पैतृक सम्पदा कूट-कूटकर भरी है। उसमें अपने पिता से स्वभावगत कोई भिन्नता नहीं है। केवल वह कुछ दुर्बल है तथा बौद्धिक तर्क-वितर्कों से परे है। उसका व्यक्तित्व भी उतना प्रखर नहीं है, केवल कठोरता एवं दर्पभाव उसमें है। वह जनता के लिए लड़ता है, किन्तु जनता से, कांग्रेस के अपने अधिकांश साथियों से, भी समान भाव से नहीं मिल सकता है। यह पैतृक अहम्मन्यता उसकी पराजय का कारण बनती है और वास्तव में यह पराजय उसके लिए आवश्यक है। तथापि उसके चरित्र की दुर्बलता इतने से ही प्रदर्शित हो जाती है कि वह पराजित होते ही मार्ग से डिग जाता है और यदि उसके पिता ने, जिन्होंने निर्ममता के साथ अपने इस बागी पुत्र को 'त्याज्य' घोषित कर दिया है, उसको सही दिशा का निर्देश नहीं किया होता तो उसका चारित्रिक पतन तो हो ही चुका था।

उमानाथ भारत के बाहर से अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठन एवं आन्दोलन का प्रशिक्षण प्राप्त करके भारत आया है। उसकी पश्चिम-भक्त दृष्टि में भारत रूढ़िवादियों और जाहिलों से भरा हुआ जंगली देश है। भारत के बुद्धिजीवी वर्ग की हालत उसको और भी परेशान करती है। यदि वह चकित होता है तो अशिक्षित और 'गावदी' ब्रह्मदत्त की तर्कबुद्धि एवं सूझ-बूझ से। अन्तिम धक्का लगता है महालक्ष्मी के प्रेमपूर्ण त्याग एवं अटूट श्रद्धापूर्ण व्यवहार द्वारा। उसकी सारी पश्चिमी विचारधारा आस्था की इस प्रबल आँधी में सूखे पत्ते की भाँति उड़ गई। पश्चिमी तर्कवाद यहाँ भारतीय श्रद्धा के आगे घुटने टेक देता है। उमानाथ के माध्यम से मानो उपन्यासकार ने विदेशी साम्यवाद को भारत से निकाल फेंका है, भारत की भूमि इस पौधे के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती है। यह सम्भव है कि साम्यवाद भारत में आए, किन्तु यह निश्चय है कि वह अपने विदेशी स्वरूप को त्यागकर विशुद्ध भारतीय बनकर ही आ सकता है। उपन्यासकार साम्यवादी धारणा के विपरीत नहीं ज्ञात होता है, किन्तु उसको राष्ट्रीयता-विरोधी साम्यवाद किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है। उमानाथ में भी अहम्मन्यता का बीज विद्यमान है, भले ही पाश्चात्य वातावरण में रहने के कारण उसके हृदय में यह पनप नहीं पाया है। प्रारम्भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वह ब्रह्मदत्त के प्रति जो उपेक्षा भाव प्रकट करता है[1] उसमें दूसरों को तुच्छ समझने की भावना कार्य कर रही है, तथापि उसमें अपनी भूल को स्पष्ट स्वीकार करने का भारी गुण विद्यमान है। अहम्मन्यता के विरोध में यह विशेषता उसके व्यक्तित्व को आकर्षक बना देती है। पश्चिमी स्वच्छन्दता उसकी कमजोरी है जिसके अन्तर्गत वह अपने जीवन में अनेक परिवर्त्तन ले आता है—यथा एक पत्नी के होते हुए भी दूसरा विवाह करके प्रथम पत्नी को तलाक देने का विचार करता है, अपनी दूसरी पत्नी हिल्डा के साथ स्वच्छन्द व्यवहार आदि—किन्तु वह शीघ्र ही अपेक्षाकृत संयत एवं भारतीय वातावरण के अनुकूल होता जाता है।

प्रभानाथ सरल स्वभाव का सीधा-सच्चा नवयुवक है। मानवता के विकृत स्वरूप को देखकर उसका हृदय हिल उठता है, जीवन के प्रति आस्था तक की नींव हिल जाती है और वह अनायास ही उग्र क्रान्तिकारी दल में जा पड़ता है। जीवन की अपेक्षा मानवता के प्रति उसका प्रेम उस समय पूरी तरह प्रकट होता है जबकि वह जीवन पर भीषण संकट की अवस्था में भी अपने घायल साथी प्रभाकर को नहीं छोड़ना चाहता है। प्रभाकर के माध्यम से उपन्यासकार ने हिंसक-क्रान्ति के मार्ग को 'बड़ा गलत रास्ता' बताया है तथा यह भी संकेत किया है कि इस मार्ग को उन लोगों ने अपनाया है 'जो निराश हो चुके हैं'।[2] प्रभानाथ की आयु अधिक नहीं है, अतएव उसमें जीवन के प्रति गम्भीरता का दृष्टिकोण नहीं बना है।

उपन्यास के प्रमुख नारी-पात्रों को दो वर्गों में रख सकते हैं—(१) स्वतन्त्र व्यक्तित्वरहित नारी, तथा (२) स्वतन्त्र व्यक्तिगत सत्तायुक्त नारी। प्रथम वर्ग में महालक्ष्मी तथा राजेश्वरी आती हैं तथा दूसरे में वीणा। तीनों नारी-पात्र प्रेम में त्याग एवं समर्पण को स्वीकार किये हुए हैं। इसके विपरीत एक अन्य नारी हिल्डा का तुलनात्मक चरित्र प्रस्तुत किया गया है। हिल्डा पाश्चात्य समान अधिकार का दावा करने वाली दुर्बल नारी का स्वरूप प्रकट करती है—ऐसी नारी का स्वरूप जो स्वच्छन्दतापूर्ण व्यवहार को प्रगति एवं बौद्धिक चेतना का आधार मानती है। उपन्यासकार ने इस प्रकार पश्चिम तथा भारत के वैवाहिक सम्बन्धों का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है। पश्चिमी दाम्पत्य-जीवन केवल एक आर्थिक समझौता-मात्र है, पति-पत्नी के सम्बन्ध उतने गहरे नहीं हैं जितने भारतीय जीवन में होते हैं। भारतीय दाम्पत्य-जीवन का आधार आत्माओं का मिलन है। उपन्यास के तीनों भारतीय नारी-पात्र भारतीयता के इस विशेष पहलू को प्रकट करते हैं। राजेश्वरी तथा महालक्ष्मी का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है ही नहीं। उनके व्यक्तित्व तो उनके पतियों के साथ ही हैं। सुशिक्षित एवं सबला नारी वीणा का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वह सोच सकती है, स्वयं के निर्णय करती है, किन्तु प्रेम का त्यागमय तथा गहरा स्वरूप उसके चरित्र में भी प्रकट होता है। प्रभानाथ उसका पति नहीं है, किन्तु प्रेम के नाते उसने यह सम्बन्ध मान लिया है और वह काल्पनिक सम्बन्ध भी इतना गहरा है कि उसके निर्वाह-हेतु वीणा स्वयं अपने प्राणों के महत्त्व को खो देती है। भारतीय नारी का जो आदर्श माना गया है वह इन तीनों नारियों के चरित्रों में भरपूर प्रकट हुआ है। रामनाथ सदृश संस्कारी, कठोर तथा जिद्दी व्यक्ति भी, जिसके लिए किसी विजातीय कन्या को पुत्रवधू स्वीकार करना अकल्पित था, इस बंगाली लड़की के दृढ़ एवं आदर्श विश्वास के आगे डिग जाता है

१. पृ० १७४।
२. पृ० ३८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और धार्मिक अनुष्ठानों सहित विधिवत् विवाह-संस्कार के अभाव में भी, केवल एक भावना की शक्ति के सन्मुख नत होकर, इस भावना के सम्बन्ध को चुनौती देने का भी विचार नहीं कर पाता। वह वीणा से पूछता है, 'क्या पत्नी के कर्तव्य जानती हो?' मानो वह चुपचाप वीणा के इस अधिकार को कि वह प्रभानाथ की पत्नी है, स्वीकार कर लेता है। भावना की इस शक्ति के सन्मुख इस दर्पयुक्त तथा प्रखर व्यक्तित्व का यह आत्मसमर्पण जहाँ एक ओर रामनाथ की पराजय नहीं प्रकट करता (क्योंकि यह आत्मसमर्पण ही अधिक स्वाभाविक है) वहीं वीणा का चरित्र इससे अधिक निखर आया है। केवल इसी शक्ति के आधार पर यह दुर्बल-सी लड़की उस पराजयपूर्ण परिस्थिति को विनष्ट कर देती है, जिसके आगे रामनाथ का व्यक्तित्व, धन-सम्पदा आदि, श्यामनाथ का उच्च-शासकीय पद एवं भाग-दौड़, सभी असफल सिद्ध हुए थे। इस दृष्टि से वह रामनाथ की सहायिका ही कही जा सकती है।

'आखिरी दाँव'

आज के भौतिकवादी युग में, चमचमाती सभ्यता के इस युग में, सबसे शक्तिशाली है पैसा। पैसा ही मानव का भगवान् है, उसका इष्ट है। पैसे में वह शक्ति है कि उससे शरीर क्रय किया जा सकता है, आत्मा क्रय की जा सकती है। मानव का मूल्य चाँदी के सिक्कों से निर्धारित किया जाता है। वर्माजी के 'आखिरी दाँव' उपन्यास में यही प्रतिपाद्य है।

इस पैसे के साधन द्वारा समाज में ऊँचा स्थान मिलता है। यह पैसा कैसे मिले? कोई भी आदमी बिना बेईमानी के, बिना आत्मा को बेचे, धनवान नहीं बन सकता। रामेश्वर, जोकि इस तथ्य को जान गया है, पूरी तौर पर पैसा पैदा करने में लग जाता है। रामेश्वर को चमेली से प्रेम है और वह जानता है कि पैसे के न होने से ही उसकी चमेली उससे पैसे वाले छीने ले रहे हैं। चमेली को पाने के लिए ही वह पैसा पैदा करने के लिए हर कदम उठाने को तैयार है। रामेश्वर से चमेली को भी प्रेम है। वह रामेश्वर की सच्चे अर्थों में है। किन्तु परिस्थितियाँ उसे दूर ढकेल रही हैं। चमेली के पतन का मुख्य कारण अपने को समझकर रामेश्वर इतना अमीर होना चाहता है कि फिर कोई उसकी चमेली को न छीन सके। जिस पैसे के कारण चमेली को वह पतन के गर्त में ढकेलने को विवश हुआ, उसके प्रति एक प्रकार का रोष-सा उसके हृदय में समा जाता है। वह उस शक्तिशाली पैसे को भी गुलाम बनाने के लिए पागल-सा हो उठा है। दुनिया की कोई शक्ति, चमेली तक में शक्ति, नहीं कि उसकी गति को रोके। दुनिया का कोई तर्क, धर्म व आत्मा की पुकार भी उसके बढ़े कदम को नहीं रोक पाते। जिस भाग्य ने उसको निर्धनता देकर लूटा था उस पर वह हँसना चाहता है, किन्तु भाग्य की अन्त में विजय होती है। अपनी पाप की कमाई वह हार जाता है। यह विजय मंगल की नहीं, भाग्य की है। मंगल तो एक साधन-मात्र है, भाग्य का एक अस्त्र-मात्र है, जिसके रूप में भाग्य रामेश्वर को लूटने आया है। सारा धन तो रामेश्वर हार ही जाता है, किन्तु साथ ही वह आखिरी दाँव, जिसमें उसने बची-खुची पूँजी भी लगा दी थी, हार जाता है। मंगल के सामने तो आखिरी दाँव में वह थोड़े-से चाँदी के टुकड़े ही हारता है, किन्तु नियति के विरुद्ध लगाये गए इस आखिरी दाँव में वह स्वयं अपने और अपनी चमेली को भी हार जाता है। यह उसकी आखिरी हार है। अब हारने को उसके पास कुछ नहीं है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीतने का कोई प्रश्न ही नहीं। इस अवस्था में एक निराशा-मिश्रित विरक्ति (Resignation) के साथ वह झुक जाता है, आत्मसमर्पण कर देता है। अब उसमें कोई विरोध शेष नहीं रहा।

'आखिरी दाँव' में समस्या है पैसे की, किन्तु समस्या को प्रधानता न मिलकर परिस्थितियाँ प्रमुख हो गई हैं। वे नाटकीय तथा फिल्म के ढंग की उतार-चढ़ावयुक्त हैं।

वर्माजी मुख्यतः समस्या-प्रधान उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों में समस्या प्रधान होती ही है। आलोच्य उपन्यास सम्भवतः फिल्म के लिए लिखा गया था। उपन्यास के गठन से तो यही प्रतीत होता है। फिल्म के लिए लिखा जाने के कारण परिस्थितियों को महत्त्व देना पड़ा और इस प्रकार समस्या दब गई, परिस्थितियाँ प्रबल हो उठी हैं। फिल्म-व्यवसाय के क्षेत्र में पूँजीवादी संस्कारों ने कितनी अनैतिकता और भ्रष्टाचार पैदा किया है, उसके चित्रण करने का प्रयास भी इस उपन्यास में है।

जिस प्रकार वर्माजी ने 'चित्रलेखा' में पाप-पुण्य का, 'तीन वर्ष' में प्रेम और विवाह का, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का द्वन्द्व दिखाया था, उसी भाँति 'आखिरी-दाँव' में पैसे और नैतिकता का संघर्ष है, जिसमें अर्थ की ही विजय है, नैतिकता को बार-बार उसके सन्मुख झुकना पड़ता है। पूरा उपन्यास परिस्थितियों क एका चक्र-सा है जिसमें फँसा मनुष्य विवश-सा है, वह उसमें पराजित होता है।

पात्र

रामेश्वर प्रमुख पुरुष पात्र है। उसमें पौरुष है और इसीलिए वह चमेली के धन पर जगमोहन की भाँति आश्रित होने को तैयार नहीं। स्वयं अपने पाँव पर खड़े होने का आत्मविश्वास उसमें है। यही कारण है कि उपन्यास के प्रारम्भ में ही जुए में सब धन हारने पर उसमें विवशता व भविष्य के प्रति आशंका व आंतक का भाव नहीं है। अपने पर उसे आत्मविश्वास है, इसलिए वह भविष्य से निश्चिन्त है। उसके दृढ़ व्यक्तित्व का ही प्रभाव है कि जल्द ही वह भयङ्कर-कर्मा व्यक्तियों का नेता बन जाता है। रामेश्वर की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह गहरी किस्म का व्यक्ति है, शीघ्र ही बह जाने वाला कच्ची किस्म का नहीं। अपने पर उसे संयम है, यही कारण है कि चमेली को सेठ शीतलप्रसाद के साथ शराब पीते देखकर उत्तेजित हो उठता है अवश्य, किन्तु जल्दी ही वह अपने पर काबू पा लेता है। उसकी यह दृढ़ता, पौरुष व शक्ति सब उसके उस व्यक्तित्व के अंग हैं, जिसके आगे चमेली परास्त है और सब नत हैं, हतप्रभ-से हैं। उसमें कमजोरी है तो केवल एक। वह यह है कि वह जुए के मोह को नहीं छोड़ पाता। अन्त में भाग्य के साथ जुए में वह जिन्दगी का आखिरी दाँव लगाता है जिसमें वह स्वयं अपने को व चमेली को भी हार जाता है। पहली बार वह परास्त होता है। यह पराजय अपनी हार पर नहीं वरन् चमेली को भी खो बैठने पर ही स्वीकार करता है। चमेली के प्रति उसके हृदय में जो सच्चा प्रेम है, उसके ऊपर विश्वास है वे उसके चरित्र को बहुत उज्ज्वल बना देते हैं। चमेली के पतन पर भी रोष प्रकट नहीं करता और न चमेली को पतित स्वीकार करता है। उसके पतन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है। इस प्रकार वह असफलताओं व पाप की जिम्मेदारियाँ दूसरों के माथे पर पटककर मुँह चुराने वाला पलायनवादी नहीं है, वरन् सबको स्वीकार करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए भी पराजय स्वीकार न कर जीवट वाला पुरुष है। चमेली को खोकर वह अवश्य टूट जाता है, यदि न टूटता तो वह आदमी नहीं रह जाता। उसका पतन भी हमारी दृष्टि में उसे गिराता नहीं और अन्त में उसकी पराजय हमें विषाद में डाल देती है।

चमेली प्रमुख नारी पात्र है। परिस्थितियाँ उसे पतन के गढ़े में ढकेलती हैं जिसमें वह गिरती ही जाती है, प्रयत्न बहुत करती है कि सँभाल जाय। उसके पतन के बावजूद रामेश्वर के प्रति उसके हृदय में सच्चा प्रेम है, वह उसे बहुत ऊँचा उठाए रखता है और वह हमारी सहानुभूति की पात्र रहती है। अन्त में सेठ शीतलप्रसाद की हत्या कर वह आत्महत्या करके अपने कलंक को धो डालती है।

इस उपन्यास में भी नारी दुर्बल है, पुरुष का आश्रय चाहती है। चमेली को धन से बढ़कर रामेश्वर की आवश्यकता है।

इस उपन्यास के चरित्रों की यह विशेषता है कि उनमें अन्तर्द्वन्द्व पर्याप्त मात्रा में है। पात्र यथार्थ की भूमि से कहीं अलग नहीं हैं, उन्हें वह स्थिति स्वीकार करनी पड़ती है जिसमें वे फँसे हुए हैं। वे सब परिस्थितियों के शिकार हैं और उनसे हार मान भी लेते हैं। वे बार-बार गिरते हैं और बार-बार उठने का प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु वे पराजित होते हैं—लेकिन यह पराजय बाह्य-जगत् की है, अन्तरंग की नहीं, अन्यथा चमेली पतन के गर्त में गिरकर भी फिर एक बार उठने का प्रयत्न न करती, न रामेश्वर ही अपने जीवन को बदलने की बात को विचारता। इस दृष्टिकोण से उपन्यास अपना विशेष महत्त्व रखता है।

उपन्यास में समस्या परिस्थिति के आगे दब अवश्य गई है, किन्तु बीच-बीच में वह सिर उठा लेती है। गुपचुप परिस्थितियों को प्रभावित तो वह कर ही रही है। परिस्थितियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं। रामेश्वर से सम्बन्धित परिस्थितियाँ तो मुख्यतः पैसे की समस्या से ही प्रभावित हैं। रामेश्वर प्रमुख पात्र है, इसलिए उसके कार्य सब परिस्थितियों पर असर डालते हैं। इस प्रकार समस्या का अस्तित्व व अप्रत्यक्ष महत्त्व तो रहता ही है।

विचार-पक्ष

वर्माजी के उपन्यास समस्या-प्रधान हैं। 'चित्रलेखा' में आध्यात्मिक, 'तीन वर्ष' में सामाजिक, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में राजनीतिक, 'आखिरी दाँव' में नैतिक समस्या उपस्थित की गई है। समस्या उपस्थित करते समय लेखक तटस्थ रहने का प्रयास करता है और हर दृष्टिकोण को तार्किक शैली में प्रस्तुत करता है। इस प्रयत्न में वह प्रत्येक पक्ष को पूर्णतया विकसित या प्रकट होने का अवसर देता है। इनकी कला की पकड़ एक वैज्ञानिक की भाँति है जो प्रत्येक वस्तु को परखकर ही अपना निर्णय देने का यत्न करता है, इसलिए उपन्यासों के अन्त में अपना मत भी कहीं-कहीं दिया है। 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', 'आखिरी दाँव', प्रायः सभी में उनका अपना दृष्टिकोण है।

वर्माजी की विचारधारा का मूल आधार केवल अनुभव और तर्क हैं, कोई तात्विक सिद्धान्त नहीं। वे किसी भी मत को मानने वाले नहीं हैं। वे अज्ञेय की भाँति बौद्धिक हैं, जैनेन्द्र की भाँति भावुक और विचारक तथा प्रेमचन्दजी की भाँति विश्लेषण करने वाले हैं; किन्तु वे इन सब कलाकारों की रूढ़िवादिता से अलग हैं, उनसे विशिष्ट हैं। उन्होंने समाज की विभिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारधाराओं को देखा है, उन्हें तर्क पर कसा है और जो निष्कर्ष निकले हैं उन्हें ही उन्होंने तटस्थ दृष्टि से रखा है। वर्माजी ने स्वयं एक स्थल पर लिखा है—"जो कुछ मैं लिखता हूँ, तर्क करने को नहीं लिखता। मैं तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूँ जिन पर मैं अपने उन तर्कों द्वारा पहुँचा हूँ जो अनुभवों और अनुभूतियों पर अवलम्बित हैं। बहुत सम्भव है जो बातें आज मैं कह रहा हूँ वे आगे चलकर मेरे भावी अनुभवों की कसौटी पर गलत उतरें और मुझे स्वयं अपने इन निर्णयों को बदलना पड़े। पर इसके ये अर्थ नहीं कि मैं निर्णय करना ही छोड़ दूँ। मुझे अपने जीवन के लिए कुछ आदर्श तो चाहिए ही।"[1] उनके इन आदर्शों का स्पष्टीकरण उनके एक अन्य लेख से होता है—"जो भी साहित्यकार इस प्रकार के साहित्य का सृजन करता है, जिसमें अप्राकृतिक चीजों का समावेश हो, वह साहित्यिक सफल न हो सकेगा ऐसा मेरा विश्वास है। आज का विकसित मस्तिष्क कल्पना के पेंच-ताव की सहायता नहीं चाहता—रुपयों से उसे विशेष रुचि नहीं है; वह चाहता है सीधी-सादी बातें, जीवन की वास्तविक घटनाएँ, जिन्हें वह रोज देखता है और कलाकार को जो कुछ लिखना हो, उसे वह वास्तविक जीवन से ही लेना पड़ेगा।......आज हमें जिस साहित्य का सृजन करना है वह वास्तविक मानवीय विकास के आदर्शों को ही सामने रखेगा और उन आदर्शों का प्रचार करने के लिए हमें अपनी कला की नीति भी बदलनी होगी।....मैं फिर कहता हूँ कि हमें, हम साहित्यिकों को, अपने चारों ओर देखना है, दूसरों के दुःख-दर्द को, दूसरों की कमज़ोरियों को अनुभव करना है। हमें मनुष्य को देखना है, उसके कर्मों से सरोकार है। मनुष्य की उपेक्षा करके उसके कर्मों पर अपना निर्णय देना मानवता के लिए हितकर नहीं है।"[2]

कला-पक्ष

वर्माजी के उपन्यासों की कथावस्तु की यह विशेषता है कि वह व्यक्तियों के चारों ओर लिपटी है, उसमें घटनाओं का महत्त्व, बल्कि चरित्र की विशेषताओं का उद्घाटन अधिक है। उन्होंने प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासकारों की घटना-परकता और प्रेमचन्द की वर्णन-शैली तथा आधुनिक वार्तालाप को लेकर विचार-प्रधान शैली के साथ मिलाकर सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। फलतः उपन्यास न तो शुष्क हुए हैं और न बौद्धिकता से बोझिल। उन्होंने सही रूप से प्रेमचन्दीय-कथावस्तु रखने की परम्परा में चमत्कारपूर्ण योग दिया है और उसमें आवश्यक परिवर्तन किया है। प्रेमचन्द की भाँति उनके उपन्यासों में न तो कई कथाएँ-उपकथाएँ चलती हैं और न उनकी भाँति वर्माजी में एकता का अभाव है। उनकी कथावस्तु तो एक शृंखला में जुड़ी हुई कड़ी-सी है और यह कथा की शृंखला बहुत सावधानतापूर्वक जोड़ी जाती है, कहीं भी अव्यवस्था का अंश नहीं होता।

प्रेमचन्दजी की ही भाँति वर्माजी के उपन्यासों की कथावस्तु में प्रत्येक वस्तु, पात्र,

1. भगवतीचरण वर्मा, 'हमारी उलझन' (लेख-संग्रह), 'विचार-विनिमय' नामक लेख से, पृ० ३०।
2. भगवतीचरण वर्मा 'हमारी उलझन' (लेख-संग्रह), 'एक साहित्यिक दृष्टिकोण' नामक लेख से, पृ० १६ से २४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटना का वर्णन विस्तार और सूक्ष्मता से हुआ है। उनकी दृष्टि में कोई भी बात छूटने नहीं पाती है। घटनाएँ भी प्रत्यक्ष जीवन से ली जाती हैं।

पात्र

(१) वर्माजी के पात्रों की अपनी विशेषता है। वे वर्ग के प्रतीक होते हुए भी अपनी व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं को समाहित किये हुए हैं, दूसरे रूप में कहा जाय तो उनका व्यक्तित्व ही प्रधानतया उपन्यास में उभर आता है। इस रूप से देखा जाय तो वर्माजी के पात्र व्यक्तिवादी उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। उनके उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के साथ व्यक्तियों का निर्माण हुआ है, व्यक्तित्व में टक्कर हुई है और व्यक्ति की समस्या ने समाज की समस्या का रूप धारण कर लिया है, इसलिए व्यक्तिवादी पात्र रखते हुए भी उनके उपन्यास व्यक्तिवादी नहीं हैं और न वर्माजी व्यक्तिवादी कलाकार ही। पाप-पुण्य, प्रेम और विवाह, विभिन्न राजनीतिक मतमतान्तर के संघर्ष, अर्थ और नैतिकता का सम्बन्ध, व्यक्ति की अपनी समस्या होते हुए भी समाज की समस्याएँ हैं और उनका हल भी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से न दिया जाकर सामाजिक दृष्टिकोण से ही दिया गया है। इसीलिए उनके पात्र किन्हीं अर्थों में अपने व्यक्तित्व से पूर्ण होते हुए भी वर्ग के प्रतीक भी हैं। रमेश, प्रभा, अजित, रामनाथ, दयानाथ, उमानाथ, प्रभानाथ, शीतलप्रसाद, चमेली और रामेश्वर—इस बात के उदाहरण-स्वरूप हैं।

(२) वर्माजी के सभी पात्र परिस्थितियों के शिकार हैं और परिस्थितियाँ ही उनके जीवन के उत्थान-पतन को निर्देशित करती हैं। किन्तु इस क्षेत्र में भी इन पात्रों की अपनी व्यक्तिगत विशेषता यह है कि वे परिस्थितियों के बाह्य रूप से पराजित होते हैं, लेकिन उनका अन्तरंग उनसे पूर्णतया पराजित नहीं होता। उनके पात्रों में अन्तरंग और बाह्य जीवन में संघर्ष चलता रहता है और अन्त में प्रायः अन्तरंग के द्वन्द्व की ही विजय होती है। चित्रलेखा, बीजगुप्त, रमेश, रामनाथ, चमेली और रामेश्वर के जीवन का अध्ययन इस तथ्य का उदाहरण है। वे बाह्य परिस्थिति के सम्मुख झुकते हैं, किन्तु अन्तरंग द्वन्द्व उनके चरित्र को ऊँचा उठा देता है। वर्माजी के चरित्रों की यह विशेषता उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की विशेषता को प्रकट करती है।

(३) वर्माजी के उपन्यासों में मानव की कमजोरी पर विजय पाने का प्रयास है। प्रायः हर पात्र अपनी दुर्बलता से लड़ रहा है, लेकिन केवल इच्छा-शक्ति मात्र से वह ऊपर उठ नहीं पाता, बाहरी सहायता की आवश्यकता होती है। बाहरी सहायता प्रत्यक्ष हो सकती है, जैसे प्रभानाथ व दयानाथ कमजोरी को रामनाथ से व रामनाथ वीणा की सहायता से जीतते हैं। रमेश सरोज की व अजित रमेश की प्रत्यक्ष सहायता पाते हैं। बीजगुप्त अपने सहकारी श्वेतांग द्वारा यशोधरा से विमुख कराया गया है। अप्रत्यक्ष रूप से घटनाएँ भी सहायक होती हैं। चमेली शीतलप्रसाद के शिकंजे से रामेश्वर की गिरफ्तारी की सम्भावना की बात सुनकर छूट जाती है। अन्तर्द्वन्द्व पहले से विद्यमान रहता है, केवल ज़रा-से सहारे की आवश्यकता है।

(४) वर्माजी के पुरुष पात्र प्रायः तर्क अधिक करते हैं। वे स्वयं अपने बारे में अधिक-से-अधिक बता देते हैं, जो कुछ रह जाता है वह परिस्थितियों के चक्र और उनके अन्तर्द्वन्द्व से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट हो जाता है।

(५) वर्माजी के नारी-पात्र विशेष हैं। उनके सभी उपन्यासों में नारी पुरुष पर आश्रित व त्यागमयी है। उसका यह त्याग ही उसको पुरुष से ऊपर उठा देता है और पुरुष को उसके आगे नत हो जाना पड़ता है। 'तीन वर्ष' की वेश्या सरोज रमेश को पतन से अपने व्यक्तित्व द्वारा बचाती है और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में महालक्ष्मी के त्यागपूर्ण व्यक्तित्व के आगे तर्कवादी उमानाथ नत हो जाता है। 'चित्रलेखा' की चित्रलेखा और 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' की राजेश्वरी देवी भी त्यागमयी नारियाँ हैं। 'आखिरी दाँव' की चमेली रामेश्वर के लिए स्वयं पतन के गर्त में गिरती है और अन्त तक उसे बचाने का यत्न करती है। पाश्चात्य शिक्षा पाई हुई प्रभा सदृश तितलियाँ अवश्य अपवाद हैं।

शैली

वर्माजी की शैली तार्किक है और भाषा साफ-सुथरी। वह केवल तर्क करने के लिए तर्क नहीं करते, वरन् तथ्य प्रस्तुत करने के लिए तर्क करते हैं। सही रूप से वे टेकनीक के क्षेत्र में एक प्रयोगवादी कलाकार की भाँति हैं जो इस दिशा में बहुत हद तक सफलता पा चुका है।

उपसंहार

वर्माजी के उपन्यासों में प्रेमचन्दजी की भाँति व्यापक जीवन-दृष्टि नहीं है, उनके उपन्यास एक सीमित क्षेत्र और वर्ग की कुण्ठाओं और समस्याओं से सम्बन्धित हैं। प्रेमचन्द के सम्मुख एक विशाल संसार था; उन्होंने उसे अपनी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखा था—किन्तु वर्मा-जी ने जीवन के किन्हीं अंशों को लिया है और प्रेमचन्द की भाँति ही सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से उठाया है। प्रेमचन्द की ही भाँति उनका दृष्टिकोण भी मानवीय रहा है, मानव को उन्होंने दुर्बल माना है और इस दुर्बलता से छूटने का उसका प्रयत्न ही उनके उपन्यासों के मूल में है। कथा की ऐकान्विता के क्षेत्र में वे प्रेमचन्द से आगे हैं और उन्होंने गाँव एवं नगर की कथावस्तु को साथ-साथ नहीं उठाया है। उन्होंने केवल नगर के जीवन की ओर ही अपनी दृष्टि रखी है और उसमें भी प्रायः उच्च-मध्यमवर्ग की ओर। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने एक लेख में वर्माजी के विषय में लिखते हुए कहा है—**"स्वर्गीय श्री प्रेमचन्दजी ने अपनी सरल, सुबोध भाषा में लोगों का ध्यान समाज की ग्रामीण तथा निम्न श्रेणी की अवस्था की ओर पहली बार दिलाया था, भगवतीचरण जी ने अपनी आकर्षक शैली में पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान जीवन के आदर्शों के सम्बन्ध में उनके उलझे हुए मस्तिष्क की ओर आकर्षित किया है।"**[1]

---

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, 'विचारधारा' (लेख-संग्रह), पृ० १७०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन : विदेशी लेखक

गंगाधर झा

मैक्सिम गोर्की

हिन्दी-जगत् में गोर्की निर्विवाद रूप से संसार के एक श्रेष्ठ कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्हें जब हम टाल्सटाय की समकक्षता में रखते हैं तब यह बहुत स्वाभाविक प्रतीत होता है। गोर्की की यह प्रतिष्ठा प्रधानतः उनके 'माँ' नामक उपन्यास पर आश्रित है। इस कृति को हम विश्व के उपन्यास-साहित्य में बहुत उच्चस्थ मानते हैं। इसके अतिरिक्त गोर्की की अनेक कहानियाँ भी हिन्दी में अनूदित हैं। किन्तु गोर्की के समस्त कृतित्व का यह एक इतना सूक्ष्म अंश है कि उसके आधार पर उनकी कलाकारिता का उपयुक्त मूल्यांकन सम्भव नहीं। सच तो यह है कि हमारे यहाँ उनकी मान्यता किसी भिन्न ही वस्तु पर आश्रित है। भारत में वे निःस्व और निपीड़ितों के मसीहा, क्रान्ति के अग्रदूत तथा मानव-मात्र की मुक्ति के अमर स्वर-संधानक के रूप में प्रसिद्ध हुए। जिस समय यह देश अपने सामाजिक बन्धनों तथा विदेशी शासन से स्वतन्त्र होने के लिए संघर्षरत था, उसी समय ज़ारशाही से निपीड़ित रूसी जनता भी क्रान्ति की सफल साधना करके एक अभिनव सुखमय समाज के निर्माण में अग्रसर हो रही थी। जो मार्ग दोनों देशों ने अपनाए वे नितान्त भिन्न थे, किन्तु उन्मुक्त और भव्यतर जीवन की आकांक्षा और साधना में वे हमराही थे। टाल्सटाय के आदर्शवादी विचार भारत में सहज प्रविष्ट हुए तथा रूस का किसान भारतीय किसान के बहुत आत्मीय बन्धु के रूप में प्रस्तुत हुआ। ऐसी भावुक पृष्ठभूमि ने भारत के हृदय को समस्त रूसी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण, कोमल और आत्मीय बना दिया था। अतएव गोर्की जब क्रान्ति और साम्यवाद के प्रमुख प्रचारक के रूप में उपस्थित हुए तब गांधीवाद के अनुगामी भारत ने उन्हें भी प्रभूत समादर के साथ स्वीकार किया।

गोर्की के अनुशीलन का उत्साही समीक्षक प्रकाश की आशा में स्वभावतः विदेशी विद्वानों की ओर मुड़ता है। प्रकाश उसे सम्भवतः कुछ मिलता है, किन्तु अनेक जटिल समस्याएँ भी उसके समक्ष उपस्थित होती हैं। मैक्सिम गोर्की मार्क्सवादी एवं बोल्शेविक पार्टी के एक सदस्य थे। इस तथ्य के अनुकूल एक ओर उन्हें एक महान् जनवादी कलाकार और समाजवादी यथार्थवाद का अग्रणी उन्नायक घोषित किया जाता है तो दूसरी ओर एक ऐसी प्रतिभा के रूप में, जिसने राजनीति की वेदी पर अपनी कला को बलि चढ़ा दिया। अनेक विद्वानों द्वारा कलाकार से अधिक प्रचारक घोषित किये जाते हैं। इसी प्रकार रूस के विषय में पश्चिमी धारणा भी अनेक जटिलताएँ उत्पन्न करती है। यह धारणा सदा एकसी नहीं रही और परिस्थितियों के अनुसार बदलती गई। यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि इस धारणा के विकासक्रम में पूर्वग्रह और स्वार्थ तथा अन्ततः साम्यवाद का विरोध मुख्य प्रेरक हैं। रूसी साहित्य और विशेषतः गोर्की के मूल्यांकन में इस तथ्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। ऐसी जटिलताओं के समक्ष गोर्की का निष्पक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वस्तुपरक अनुशीलन बहुत सरल नहीं प्रतीत होता। आरम्भिक आवश्यकता यह है कि हम गोर्की के समस्त कृतित्व का सामान्य परिचय प्राप्त करें तथा उन तथ्यों पर ध्यान दें जो उनके निष्पक्ष अनुशीलन को आच्छादित करते हैं। यही प्रस्तुत निबन्ध का प्रयोजन है।

गोर्की ने जिस समय साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, मिर्स्की के अनुसार उसके कुछ वर्ष पूर्व ही रूसी उपन्यास का स्वर्णयुग सम्पन्न हो चुका था। बीच में कुछ समय रूस के लेखक उपयोगितावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया में कलात्मकता की ओर अग्रसर हुए। इसी समय में मार्क्स-वाद को रूस में प्रचलित अन्य सिद्धान्तों के ऊपर प्रमुखता प्राप्त हो चली। किन्तु सभी लेखकों और कलाकारों ने उसे नहीं अपनाया। मिर्स्की अपने रूसी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—"सन् १६०० और १६१० के बीच रूसी साहित्य दो स्पष्ट और परस्पर-अभेद्य भागों में विभक्त था। एक ओर गोर्की-एण्ड्रीव सम्प्रदाय था और दूसरी ओर प्रतीकवादी और उनके अनुगामी थे। आरम्भ में गोर्की-एण्ड्रीव समूह ने प्रतीकवादियों को आच्छादित कर दिया···किन्तु आज वह अवधि हमें प्रतीकवाद-युग के रूप में दिखाई देती है।" दोनों दलों का मुख्य अन्तर प्रतिभा के अन्तर पर नहीं, किन्तु सांस्कृतिक धरातल पर आश्रित है—"गोर्की-एण्ड्रीव दल पुराने बुद्धिजीवियों का उत्तराधिकारी है, जो पुराने प्रगतिशीलों की नैतिक शिक्षा के अधिकांश से वंचित थे और जिसके बदले में निराशावाद और अनास्था के एक 'तृषित शून्य' के अतिरिक्त जिन्होंने कुछ प्राप्त नहीं किया। प्रतीकवादी एक नई संस्कृति के अग्रदूत थे, जो यद्यपि एकांगी और अपूर्ण थी तथापि जिसने रूसी मानस को अधिक व्याप्ति और समृद्धि दी तथा बुद्धिजीवियों को एक साथ अधिक यूरोपीय और अधिक राष्ट्रीय बना दिया।" संस्कृति से मिर्स्की का क्या अर्थ है तथा उनके उपयुक्त वक्तव्य के साथ कितने लोग सहमत हो सकते हैं यह निर्णय हम दूसरों पर छोड़ते हैं, किन्तु हमारे प्रयोजन के लिए जो अर्थ उसमें सन्निहित हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं—गोर्की की प्रतिभा विवाद्य नहीं है, रूसी साहित्य के इतिहास में उनका स्थान सीमित है तथा कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ देते हुए भी उन्होंने कोई ऐसा प्रवर्तन नहीं किया जो रूसी साहित्य के भविष्य विकास को प्रेरित करे। इस अन्तिम कार्य की भूमिका दूसरों द्वारा निर्मित हुई।

अभाव की अन्यतम गहराइयों से उठकर गोर्की ने यश और सफलता के चरम शिखर का चुम्बन किया। उनका जन्म सन् १८६८ में निज़नी नोवोगोरोड नामक स्थान में हुआ। उनका मूल नाम ए० एम० पेश्कोव है। गोर्की उपनाम है जिसका अर्थ पीड़ित अथवा विपन्न है। उनका आरम्भिक जीवन उत्पीड़न और अभाव की एक विलक्षण कहानी है। उनके बाल्य-काल में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई और उनकी माँ उन्हें लेकर अपने पिता के यहाँ रहने लगी। गोर्की को जीवन-यापन के लिए बचपन से कार्य करना पड़ा। मोची के काम से लेकर ऐसा कोई धन्धा नहीं जो उन्होंने न किया हो। एक समय जब वे वोल्गा नदी के एक जहाज पर काम करते थे तब जहाज के शराबी रसोइये ने उन्हें पढ़ना-लिखना सिखाया। उनके आरम्भिक अध्ययन में जनप्रिय मारकाट, साहसिकता और रोमांच की पुस्तकों की बहुलता थी। इसका प्रभाव गोर्की की आरम्भिक कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है। पन्द्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने काज़ान की एक पाठशाला में प्रविष्ट होने का प्रयत्न किया, किन्तु धनाभाव के कारण अपने उद्देश्य में वे विफल हुए। यही नहीं, उदरपोषण के लिए वे एक भूगर्भ में स्थित रोटी के कारखाने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम करने के लिए विवश हुए, जिसका 'छब्बीस मनुष्य और एक लड़की' नामक कहानी में उन्होंने मार्मिक वर्णन किया है। काजान में ही वे विद्यार्थियों के सम्पर्क में आए और क्रान्तिकारिता की आरम्भिक शिक्षा उनसे प्राप्त की। १८६१ में वे रूस के पर्यटन के लिए निकल पड़े। इस समय अपने निर्वाह के लिए जो काम मिल गया वही वे करते थे। अन्त में वे टिफ़लिस पहुँचे और वहाँ मजदूरों के एक क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गए। वहीं मार्क्सवादियों से उनका परिचय हुआ और उनकी विचारधारा की गतिविधि निर्धारित हो गई।

टिफ़लिस में ही ए० एम० कालूज़्नी नाम के एक प्रगतिशील विचारों वाले व्यक्ति ने गोर्की को अपने समस्त अनुभवों को लिखने के लिए प्रेरित किया। फलस्वरूप १८६२ में एक स्थानीय दैनिक में उनकी प्रथम कहानी 'माकर शुद्रा' प्रकाशित हुई। १८६५ में प्रथम बार एक प्रसिद्ध मासिक पत्रिका में उनकी 'शेलकश' नामक कहानी का प्रकाशन हुआ। यश के आगमन में देर नहीं लगी और गोर्की बहुत शीघ्र देश-विदेश में प्रसिद्ध हो गए। सन् १८६८ में उनकी कहानियों का संग्रह दो भागों में प्रकाशित हुआ।

गोर्की की आरम्भिक कहानियों में स्वच्छन्दतावाद की प्रधानता है। 'माकर शुद्रा', 'ओल्ड इज़रगिल', 'सौंग ऑफ द फाल्कन' आदि कहानियाँ इसी कोटि की हैं। 'माकर शुद्रा' बर्बरता की समस्त तीव्रता से युक्त एक दुःखान्त प्रेम की कहानी है। 'ओल्ड इज़रगिल' एक ऐसी कहानी है जिसमें एक जर्जर वृद्धा संस्मरण के रूप में अपने यौवनकाल के बहुसंख्यक प्रेम-प्रसंगों का वर्णन करती है। एक समय आता है जब वह ढल चलती है और पुरुषों को अपना खिलौना बनाकर खेलने की क्षमता से वंचित होकर स्वयं एक पुरुष के प्रेम में उन्मत्त हो जाती है। स्वयं को किसी भी संकट में डालकर उसके हृदय को जीतने का वह प्रयास करती है, किन्तु सफल नहीं होती। रूप-रचना की दृष्टि से इस कहानी में यह विलक्षणता है कि उसके आरम्भ और अन्त में क्रमशः 'लारा' और 'द हार्ट ऑफ डेन्को' की कपोल-कथाएँ संयुक्त हैं। 'सौंग ऑफ द फाल्कन' में फाल्कन सब-कुछ दाँव पर रखकर नये आदर्शों की ओर बढ़ने वाले क्रान्तिकारी का प्रतीक है।

गोर्की की अनेक कहानियों में ऐसे पात्रों को प्रमुखता मिली है जो आवारा तथा समाज से बहिष्कृत हैं। 'शेलकश', 'कोनोवालोव' और 'द ओर्लोव्स' इस कोटि में प्रमुख हैं। गोर्की के आवारे अपनी बाह्य विरूपता के नीचे मानवीयता छिपाये हुए हैं। एक ओर उनमें स्वयं को बहिष्कृत करने वाले समाज के प्रति घृणा भरी हुई है और दूसरी ओर स्वतन्त्रता और प्रकृति के लिए अपार प्रेम के साथ वे जीवन का अर्थ समझने के लिए उत्सुक हैं।

१८६७ से गोर्की की कृतियों में यथार्थवाद की प्रमुखता हो चलती है। उनकी 'एक्स-पीपुल' नामक कृति में यह स्पष्ट लक्षित होता है। 'ट्वेन्टीसिक्स मैन एण्ड ए गर्ल', 'मिस्चीफ-मेकर', 'द ओर्लोव्स' और 'फॉर वाण्ट ऑफ समथिंग बैटर टु डू' इत्यादि कहानियाँ इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं।

मिर्स्की ने जिन कहानियों का विशेषता के साथ उल्लेख किया है वे क्रमशः 'शेलकश', 'माइ फैलो-ट्रैवलर' और 'ट्वेन्टी-सिक्स मैन एण्ड ए गर्ल' हैं। 'शेलकश' में चरित्रांकन बहुत स्पष्टता से किया गया है। इस दृष्टि से मिर्स्की 'माइ फैलो-ट्रेवलर' को सर्वोत्तम मानते हैं। वे ट्वेन्टी-सिक्स मैन एण्ड ए गर्ल' को सर्वोपरि सम्मानित स्थान प्रदान करते हैं—"कहानी क्रूरता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ यथार्थवादी है। उसमें काव्य का एक ऐसा प्रबल प्रवाह है, सौन्दर्य, स्वतन्त्रता और मनुष्य के मूलभूत औदात्य के प्रति ऐसी विश्वसनीय आस्था है, और उसी समय इतनी सूक्ष्मता और अनिवार्यता के साथ उसे कहा गया है कि एक सर्वोत्कृष्ट कृति के नाम से उसे वंचित करना बहुत कठिन है। गोर्की को वह हमारे साहित्य के सच्चे महानों की मंडली में प्रतिष्ठित करती है। किन्तु अपने चरम सौन्दर्य में वह अकेली है—और गोर्की के आरम्भिक उत्तम कार्य में अन्तिम है।"

इस युग में पश्चिमी पूँजीवाद अपने स्वर्ण-युग की तन्द्रा में मग्न था। वहाँ उदारवाद की प्रधानता थी। अपने प्रजातांत्रिक आदर्शों में वे देश स्वयं मुग्ध थे और उन पर गर्वित थे। रूसी शासक उन्हें इन आदर्शों के चरम शत्रु प्रतीत होते थे और उनके प्रति उन्हें कोई सहानुभूति न थी। उनकी सहानुभूति उन विचारकों, कलाकारों और क्रांतिकारियों के साथ थी जो इस शासन को मिटाकर नई व्यवस्था के आवाहक थे। रूसी साहित्य उनमें बहुत विचित्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करता था और दस्तोएवस्की के उपन्यासों की 'आध्यात्मिक गहराइयों' में डूबकर वे उल्लसित और पूत होते थे। मानवीय मनोवृत्ति के इस विचित्र अभिनय-काल में उस स्वयं-प्रशंसित, गर्वोन्नत भूमि-खंड ने गोर्की को भी बहुत सहज वृत्ति के साथ स्वीकार किया।

१८९९ से १९१२ तक गोर्की अपने रचनाक्रम के द्वितीय सोपान पर आरूढ़ रहते हैं। इस काल में उन्होंने अनेक उपन्यासों और नाटकों तथा कतिपय सामान्य कृतियों की सृष्टि की। उनके उपन्यास क्रमशः 'फोमा गोर्दयेव' (१८९९), 'थ्री ऑफ देम' (१९००–१), 'द मदर' (१९०७), 'ए कॉन्फेशन' (१९०८), 'ओकरोव सिटी' (१९०९) और 'मात्वी कोजेम्याकिन' (१९१०) हैं। 'द पैटी बूर्जुआ' (१९०१), 'द लोअर डैप्थ्स' (१९०२), 'सबर्बन्स' (१९०४) 'द चिल्ड्रन ऑफ द सन' (१९०५), 'द बर्बेरियन्स' (१९०६), 'एनीमीज़' (१९०६) और 'वारसा जैलेज्नोवा' (१९१०) इस काल में विरचित उनके नाटक हैं। सृजन का यह परिमाण अत्यन्त विपुल है, किन्तु इन समस्त रचनाओं को मिर्स्की गोर्की के कृतित्व का सबसे कम महत्त्व-पूर्ण अंश मानते हैं।

गोर्की के उपन्यास प्रचार-मूलक और स्पष्ट रूप से सामाजिक संदेश को लेकर चलने वाले माने जाते हैं। मिर्स्की की धारणा है कि गोर्की के सामान्यतः सभी उपन्यास बहुत उत्तम ढंग से आरम्भ होते हैं, किन्तु आगे चलकर वे अशक्त और प्रभावहीन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ "......'द थ्री ऑफ देम' और 'ए कॉन्फेशन' के आरम्भिक कुछ पृष्ठ कथा के अबाध और प्रयत्न विकास द्वारा पाठक को मन्त्र-मुग्ध रखते हैं, किन्तु तब वह अंतहीन और थका देने वाली 'जिज्ञासा' आरम्भ हो जाती है, पर जब वह अपने लक्ष्य के समीप पहुँचने लगती है और नायक सोचता है कि समाज के लिए उसने रामबाण पा लिया है तब वह और अधिक उबाने वाली हो जाती है।" यही समीक्षक 'फोमा गोर्दयेव' को गोर्की का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास मानते हैं। "आरम्भिक अध्याय....गोर्की की कलासृष्टि के सर्वोत्तम अंश का भाग है। उसकी रचनात्मक और पौरुषपूर्ण वृत्ति उसे एक ऐसी विशेषता प्रदान करती है जो रूसी साहित्य में दुर्लभ है।"

गोर्की के उपन्यासों पर जो आरोप लगाए जाते हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं। सर्वप्रथम उनकी प्रचारवादिता उन्हें दुर्बल बनाती है। द्वितीयतः गोर्की ने अपनी कृतियों में दार्शनिक विवादों का विपुल योग किया है। स्थान-स्थान पर जीवन के अर्थ को लेकर बहस छिड़ जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणामतः कृतियों का संगठन नष्ट हो जाता है और वे शिथिल हो जाती हैं। कृतियों की शैली प्रभावहीन वार्तालाप की शैली में बदल जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोर्की केवल कलाकार बनकर संतुष्ट नहीं थे, वरन् एक नेता और शिक्षक बनने की आकांक्षा भी उनमें थी। किन्तु उनके दार्शनिक विचार कभी स्पष्ट नहीं रहे और उनके धुँधलेपन के कारण कृतियों में एक ऐसी विशेषता आ जाती है जो निराशावाद के समान प्रतीत होती है तथा उनके मूलभूत आशावाद को आच्छादित कर देती है। १६०८ के आसपास 'ईश्वर-निर्माण' नाम से अभिहित एक विचित्र धार्मिक धारणा उन्होंने निर्मित की। इसका सारांश यह है कि जनता की आस्था से ईश्वर का निर्माण होना चाहिए। इस मत का विरोध स्वयं लेनिन ने अत्यन्त विनम्रता किन्तु स्पष्टता के साथ किया। इन निर्णयों के विषय में हम कह सकते हैं कि गोर्की की उपर्युक्त दुर्बलताएँ चाहे क्षम्य न हों, किन्तु रूसी साहित्य की एक विशेष परम्परा से उनका सम्बन्ध अवश्य जोड़ा जा सकता है। बेलिन्स्की के समय से वहाँ यह धारणा रही है कि लेखक का कार्य सामाजिक प्रश्नों के गम्भीर चिन्तन के साथ जनता का नेतृत्व करना भी है। इसी आधार पर किसी कृति के मूल्यांकन में सबसे अधिक महत्त्व उसमें प्राप्त होने वाले संदेश को दिया जाता था। जीवन का निरीक्षण, उसका चिन्तन और चिंतन के परिपाक से संदेश का निर्माण—इस क्रम ने क्रमशः रूसी साहित्य को उसकी यथार्थवादिता, दार्शनिकता और प्रचारात्मकता प्रदान की। इन विशेषताओं से टॉलस्टाय वंचित नहीं थे और पश्चिम के विद्वान दस्तोएवस्की के कृतित्व का मूल्यांकन प्रधानतः उनके आध्यात्मिक संदेश के आधार पर करते थे। कला के विषय में इस प्रकार का दृष्टिकोण कहाँ तक न्याय-संगत और उत्कर्षकारी है, इस विषय में हम यहां कुछ नहीं कहेंगे। हमारा प्रयोजन केवल यह प्रदर्शित करना है कि उस समय रूस में उसका प्रचलन था।

हिन्दी-जगत् को यह मनोरंजक प्रतीत होगा कि अपने इतिहास में मिर्स्की ने 'मदर' के विषय में एक शब्द कहना आवश्यक नहीं समझा और पश्चिमी समीक्षा में जहाँ उसका उल्लेख हुआ, वहाँ उसे एक द्वितीय कोटि की कृति से ऊँचा नहीं माना गया। हम अभी इस स्थिति में नहीं कि इन निर्णयों का प्रामाणिक खण्डन कर सकें, किन्तु इस विषय में अपने कतिपय विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहेंगे। यह सच प्रतीत होता है कि 'मदर' में गतिहीन और 'दार्शनिक' वार्तालाप की बहुलता है और उससे उसके संगठन, गति और प्रभाव-शक्ति में शिथिलता आती है। किन्तु कम-से-कम इस कृति में 'दार्शनिक' वार्तालाप की दिशा पर्याप्त स्पष्ट है। उसका नायक पेवेल व्लासोव मज़दूरों की बस्ती के पतित और संकीर्ण संस्कारों में उत्पन्न और विकसित होकर अपने जीवन की वास्तविक हीनता का अनुभव करता है। उसके कारण की खोज में वह अध्ययन में रत होता है और क्रमशः मार्क्सवादी सिद्धान्त में अपना पथ प्राप्त करता है। उस वर्ग के मनुष्य आरम्भ में अपने अमानवीय जीवन को दुःखद, किन्तु स्वाभाविक समझते हैं, जिससे मुक्ति का कोई मार्ग नहीं। किन्तु यह जानते ही कि वह जीवन स्वाभाविक नहीं है, एक विशेष सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है, वे उसे मिटाकर एक नये न्यायपूर्ण समाज के निर्माण के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। आरम्भिक प्रतिक्रिया क्रोध और अनियन्त्रित विद्रोह के रूप में होती है, किन्तु सत्य का ज्ञान इस मनोदशा को एक बलिदानी संकल्प और उज्ज्वल भविष्य के विश्वास में परिणत कर देता है। यह तथ्य किसी आध्यात्मिक विकास से कम महत्वपूर्ण नहीं और मानवीयता की प्रतिष्ठा में उसके मूल्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। क्या निःस्व और निपीड़ितों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बद्ध किसी कृति को हम तभी महत्त्वपूर्ण मानें जिसके पात्र आत्मपीड़क बनकर उपस्थित होते हैं और अपनी मुक्ति का आदर्श किसी आध्यात्मिक कल्पना में पाते हैं। गोर्की की यह कृति एक ओर यदि ऐसी विशेषताओं से मुक्त है तो दूसरी ओर उस विनाशकता से भी, जिसे साम्यवादी प्रचार और घृणा-प्रसार के नाम से अभिहित किया जाता है। सिद्धान्त-निरूपण से भी अधिक आसक्ति गोर्की ने मानवीय मूल्यों के प्रति प्रदर्शित की है। यदि यह सच है कि दार्शनिक वार्तालाप की बहुलता इस कृति को शिथिल बनाती है तो यह भी कम सच नहीं कि ध्वज-यात्रा, रीबिन की बलिदानी दृढ़ता, येगोरोव की मृत्यु और अदालत के दृश्यों के चित्रण में गोर्की की कला एक गम्भीर उत्कर्ष और प्रभाव-शक्ति ला देती है। स्वयं 'माँ' का चरित्र एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। यदि अपने जीवन के प्रथम पक्ष में वह अचेतन रूप में बर्बरता के चरणों पर बलि थी, तो अन्तिम पक्ष में स्वनिर्धारित लक्ष्य के पथ पर चलती हुई स्वेच्छा से बलि होती है। समस्त उपन्यास वास्तव में उसके इस विकास की एकता के अन्तर्गत गठित है। पुस्तक के अन्त में माँ का बलिदान मातृत्व की अबाध कोमलता और त्यागशीलता तथा उस भव्य आदर्श की प्राप्ति के संकल्प को एक साथ व्यक्त करता है जो आज के निःस्व और निपीड़ितों को कल वास्तविक मानवीयता के धरातल पर प्रतिष्ठित करेगा।

गोर्की के नाटकों में सबसे प्रसिद्ध 'द लोअर डैप्थ्स' है। उसे तात्कालिक सफलता मिली और बर्लिन में वह लगातार दो वर्ष तक प्रदर्शित होता रहा। किन्तु मिर्स्की उसकी इस सफलता का कारण उसके मूलभूत गुण को न मानकर अन्यत्र खोजते हैं—" 'द लोअर डैप्थ्स' एक विजय थी। देश में स्टानिस्लास्की-दल का विस्मयजनक अभिनय निर्णायक सिद्ध हुआ। विदेश में उसकी सफलता इस प्रकार की वस्तु की आतिशयिक नवीनता पर आश्रित थी, अर्थात् उसकी भूमिका की भावोत्तेजक यथार्थवादिता और दार्शनिक चोरों, आवारों और वेश्याओं के गम्भीर वार्तालाप को सुनने का अभिनव आनन्द।" किन्तु इसी नाटक के विषय में दूसरे समीक्षकों ने भिन्न प्रकार के मत भी प्रस्तुत किये हैं। १६०५ में प्रकाशित अपनी 'इकोनोक्लास्ट्स—ए बुक ऑफ ड्रैमेटिस्ट्स' नामक पुस्तक में जेम्स हूनेकर ने लिखा है—"...पेरिस में उत्पादित और वार्षिक रूप में अमेरिका में निर्यात होने वाले व्यभिचार के नाटक की तुलना में समाजच्युत नर-नारियों के एक समूह का यह अध्ययन एक शक्तिशाली नैतिक शिक्षा है।" १६३५ के अपने 'रेड थियेटर्स एण्ड द ग्रीन बे ट्री' नामक लेख में रूसी थियेटर की प्रशंसा करते हुए हाल्सटेड वैल्स ने 'द लोअर डैप्थ्स' का उल्लेख उसे 'एक चरमोत्कृष्ट कृति' कहकर किया है। गोर्की के शेष नाटक समीक्षकों के कृपापात्र नहीं बन सके। उनकी रूप-रचना में चेखव की नाट्य-शैली का अनुकरण माना जाता है, किन्तु इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के साथ—कि चेखव के नाटकों के प्रच्छन्न गतिमान संगठन से वे वंचित हैं।

इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिसका गोर्की और उनकी ख्याति पर गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १६०६ में गोर्की ने अमेरिका की यात्रा की। वहाँ बहुत धूमधाम से उनके स्वागत की तैयारियाँ की गई थीं, किन्तु बहुत शीघ्र यह समस्त उनकी निन्दा और विरोध में बदल गया। अपनी 'मैक्सिम गोर्की एण्ड हिज रशिया' (१६३१) पुस्तक में अलेक्जेण्डर काउन ने इस विचित्र वृत्तान्त का विस्तृत विवरण दिया है—"यह निश्चित प्रतीत होता था कि गोर्की का इस देश में प्रवास अनेक साहित्यिक और राजनीतिक मान्य व्यक्तियों से युक्त प्रीति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोजों और जनसभाओं की श्रृंखला के रूप में होगा। यह जनश्रुति थी कि राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की ओर से भी एक निमन्त्रण उन्हें मिलने वाला है।···गोर्की १० अप्रैल, १९०६ को अमेरिका पहुँचे। कुछ ही दिनों के अन्दर उनका उत्थान और पतन सम्पन्न हो गया। अंशतः वे अमरीकी मित्रों की सलाह के शिकार हुए, जिन्होंने उनसे इडाहो की खान में काम करने वाले ऐसे मजदूरों के प्रति सहानुभूति-सूचक तार में हस्ताक्षर कराया जिन पर अपराध के लिए उस समय कानूनी कार्यवाही चल रही थी; अंशतः न्यूयार्क के समाचार-पत्रों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता इसका कारण हुई; अंशतः रूसी दूतावास के प्रभावपूर्ण किन्तु प्रच्छन्न प्रयत्नों से यह सम्भव हुआ; और अंशतः अमरीकी जनता के नैतिक सन्निपात के कारण, जो इन शीर्ष-सूचनाओं से उद्दीप्त हो गया कि गोर्की एक ऐसी स्त्री के साथ यात्रा कर रहे थे जो वैध रूप में उनसे विवाहित नहीं थी। किन्तु यह नहीं बतलाया गया कि तलाक-विषयक रूसी कानून के अन्तर्गत वे ऐसा कर ही नहीं सकते थे।"

मार्क ट्वेन ने एक सभा के समक्ष पढ़ने के लिए एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने रूसी शासन के विरुद्ध और क्रान्तिकारियों के पक्ष में विचार प्रकट करते हुए यह आशा प्रस्तुत की थी कि "वह दिन देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो जब रूस में ज़ार और ग्रेण्ड ड्यूक उतने ही विरल हो जायँगे, जितने विरल, मुझे विश्वास है, वे स्वर्ग में हैं।" किन्तु इसी बीच निन्दा-अभियान चल पड़ा। उससे मार्क ट्वेन अत्यन्त खिन्न और उद्विग्न हो गए। एक दूसरे प्रसिद्ध साहित्यिक विलियम डीन हॉवेल्स ने अपने भाई को एक पत्र (१९ अप्रैल, १९०६) में लिखा—"हम लोग उन्हें एक बहुत बड़ा साहित्यिक भोज देने जा रहे थे, किन्तु वे उस स्त्री के साथ, जो उनकी पत्नी नहीं है, तीन होटलों से निकाले जा चुके हैं····। गोर्की ने भूल की है, किन्तु मुझे उनके लिए दुःख होता है; अपने ही देश में वे बहुत कष्ट झेल चुके हैं···। वे एक सरल-हृदय व्यक्ति हैं और महान् लेखक; किन्तु वे असम्भव कार्य नहीं कर सकते।" इन परिस्थितियों के उत्तर में गोर्की ने 'द सिटी ऑफ द यलो डेविल' नाम से लेखों की एक पूरी श्रृंखला प्रस्तुत की।

कलाकार के रूप में गोर्की की मान्यता पर भी उपर्युक्त विचित्र वृत्तान्त का गहरा प्रभाव पड़ा। उनकी निन्दा ही सन्तोष के लिए पर्याप्त नहीं थी, यह भी आवश्यक था कि लेखक के रूप में उन्हें उच्छिन्न कर दिया जाय। 'बुकमैन' (जून, १९०६) में 'द एक्लिप्स ऑफ गोर्की' शीर्षक के अन्तर्गत ऐसे विचार अंकित हुए—"गोर्की स्वयं में कोई विशेष व्यक्ति नहीं; वे गंदी बस्तियों की उपज हैं, वर्षों तक वे आवारा रहे और उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखी हैं जो एक हताश अनास्था से ओत-प्रोत हैं···और जिनमें कम-से-कम पाठक को दुःखी और खिन्न बनाने की शक्ति है····।" अमेरिका के क्रान्ति-उत्साहियों पर व्यंग्य करते हुए लिखा गया—"उनकी विकृत बुद्धि उस आतंकपूर्ण भयंकरता का अनुभव करने में असमर्थ है जो एक ऐसी जनता के सामूहिक विद्रोह के साथ अनिवार्यतः उत्पन्न होगी जो स्वराज्य की असमर्थता में लगभग पशुवत् है।" डोरोथी ब्रियूस्टर का वक्तव्य है कि "इस प्रकार गोर्की के साथ रूसी जनता और रूसी लेखकों, सबका पतन हो गया"; तथा "इसके पश्चात् कलाकार के रूप में गोर्की की निष्पक्ष समीक्षा की बड़े परिमाण में आशा नहीं की जा सकती।"

१९०६ और उसके पश्चात् रूसी शासकों के प्रति इंग्लैण्ड के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। इसके साथ विद्रोहियों के प्रति उसकी सहानुभूति में भी कुछ परिवर्तन स्वाभाविक हो गया। इन परिस्थितियों का गोर्की के साथ प्रत्यक्ष रूप में कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु यह असम्भव था कि अप्रत्यक्ष रूप से इस व्यापक दृष्टिकोण का प्रभाव गोर्की पर भी न पड़े। रूस के साथ इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में बर्नार्ड शॉ १९१४ के अपने 'कॉमन सेन्स अबाउट वॉर' नामक निबन्ध में मनोरंजक प्रकाश डालते हैं—"१९०६ तक सामान्यतः यह माना जाता था कि ज़ारशाही प्रत्येक ऐसी स्वतन्त्रता की शत्रु थी जिसका इंग्लैण्ड को गर्व था, किन्तु समाचार-पत्रों ने रूस द्वारा उन राजनीतिक सिद्धान्तों की अवहेलना के उदाहरण प्रकाशित करना बन्द कर दिया है जो इंग्लैण्ड के आदर्श हैं। क्यों? उत्तर सरल है। १९०६ वह वर्ष है जब हमने रूस को ऋण देना आरम्भ किया और रूस 'द टाइम्स' में विज्ञापन छपाने लगा।...तब से रूस इसके लिए स्वतन्त्र है कि हमारे धनीवर्ग के प्रेस से विरोध का एक शब्द सुने बिना अपने एच० जी० वैल्सों और लॉयड जॉर्जों पर दर्जनों की संख्या में कशाघात करे और उन्हें फाँसी पर लटका दे।"

स्पष्ट है कि पश्चिम की दृष्टि में इस प्रकार के परिवर्तन के साथ गोर्की का निष्पक्ष मूल्यांकन अधिक दुष्कर होता गया। कहा जाता है कि अचानक महानता के शिखर को पाकर गोर्की की मान्यता इस काल में रूस में भी क्षीण हो गई। सर्वमान्य राष्ट्रीय लेखक के स्थान पर वे केवल मार्क्सवादियों के प्रियपात्र बनकर रह गए। इस काल में गोर्की और लेनिन में कुछ वैचारिक मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। कुछ लोग चाहते थे कि गोर्की पार्टी के नियमित कार्य में भाग लें और गोर्की 'प्रोलितेरियन' के लिए कुछ छोटी-छोटी चीजें लिखें। लेनिन ने विनम्रता के साथ इन प्रस्तावों का विरोध किया। लूनेशार्सकी को १३ फरवरी, १९०८ के एक पत्र में उन्होंने लिखा—"ठीक स्थान पर होने के कारण आप अधिक अच्छा निर्णय कर सकते हैं। यदि आप सोचते हैं कि पार्टी के नियमित काम में लगाकर गोर्की का (स्वतन्त्र) कार्य क्षतिग्रस्त नहीं होगा (और उसके द्वारा पार्टी का बहुत बड़ा लाभ होगा), तो आप इसके लिए प्रयत्न कीजिए।" उसी तारीख के एक दूसरे पत्र में लेनिन ने गोर्की को लिखा—"प्रोलितेरियन' के लिए कुछ छोटी-छोटी चीजें लिखने की आपकी योजना मुझे आनन्दित करती है। किन्तु यह निश्चित रहना चाहिए कि यदि आप महत्त्वपूर्ण कार्य में लगे हुए हैं तो स्वयं को उससे विच्छिन्न मत कीजिए।" इन वक्तव्यों का अर्थ स्पष्ट है, किन्तु आगे चलकर बात कुछ अधिक गम्भीर प्रतीत होती है। कुछ लेखकों का एक दल 'माखिज़म' और 'रिकॉलिज़म' नाम से अभिहित आन्दोलनों को अग्रसर करने में रुचि रखता था। गोर्की का सम्भवतः इन आन्दोलनों की ओर कुछ झुकाव था। उक्त दल के साहित्यिक गोर्की को अपना नेता बनाना चाहते थे। लेनिन की प्रतिक्रिया क्षिप्र और स्पष्ट थी—"'माख़िज़्म' और 'रिकॉलिज़्म' को दृढ़ बनाने के लिए इस अधिकारी (गोर्की) का उपयोग करना इसका दृष्टान्त प्रस्तुत करना है कि अधिकारियों के साथ कैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए।...प्रोलितेरियन कला के विषय में गोर्की एक बहुत बड़े सहायक हैं, किन्तु यह 'माखिज़म' और 'रिकॉलिज़म' के प्रति उनकी सहानुभूति के बावजूद है।" इसी समय पश्चिम में यह हल्ला उड़ा कि गोर्की को सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी से निकाल दिया गया है। इसे मिथ्या घोषित करते हुए लेनिन ने लिखा—"किसी निम्नकोटि के संवाददाता ने रिकॉलिज़्म और 'ईश्वर-निर्माण' से सम्बद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतभेद के विषय में अफवाह के एक छोर को सुन लिया (और यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर सामान्य रूप से पार्टी में और विशेष रूप से 'प्रोलितेरियन' में एक वर्ष से अधिक समय तक खुले-आम बहस होती रही है) और सूचना के टुकड़ों को अतिरंजित करके उसने एक (महत्त्वपूर्ण और सनसनीखेज) समाचार गढ़ लिया।" लेनिन के इन वक्तव्यों से कुछ बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं—एक महान् प्रतिभाशाली कलाकार के रूप में गोर्की सर्वमान्य थे, एक लेखक के रूप में उनकी स्वतन्त्रता स्वीकृत थी, किन्तु पार्टी के सिद्धान्तों और कार्य की दिशा में उनकी कुछ प्रवृत्तियों का हस्तक्षेप लेनिन को मान्य न था। गोर्की जब केप्री द्वीप में थे तो उनकी राजनीतिक भूलों पर आक्षेप किये जाने पर उन्होंने उत्तर दिया—"मैं जानता हूँ कि मैं एक दुर्बल मार्क्सवादी हूँ और फिर हम सब कलाकार कुछ-न-कुछ उत्तरदायी होते हैं।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि मिर्स्की जैसे अधिकारी व्यक्ति गोर्की के इस काल के कृतित्व को किसी विशेष महत्त्व से हीन मानते हैं, तथापि सम्बद्ध कृतियों के अनुशीलन में बहुत सतर्कता की आवश्यकता है। १९१३ से गोर्की के कृतित्व का नया युग आरम्भ होता है। इस समय उनकी तीन कृतियाँ प्रकाश में आईं—आत्मजीवनी की शृङ्खला में 'चाइल्डहुड' (१९१३), 'माई एप्रेण्टिसशिप' और 'माई यूनिवर्सिटीज़'; 'रिकलक्शन्स' (टाल्सटाय, १९२०; कोरोलेन्को, चेखव, एण्ड्रीव इत्यादि); और 'नोट्स फ्रॉम ए डायरी' (१९२४)। इन कृतियों में गोर्की सच्चे यथार्थवादी के रूप में प्रस्तुत हुए हैं और उन्होंने तटस्थता के साथ पूर्ण वस्तुमूलकता प्राप्त कर ली है। उनकी आत्मजीवनी के विषय में मिर्स्की लिखते हैं—"यथार्थवादी तटस्थता उनकी आत्मजीवनी शृङ्खला को किसी भी समय लिखी गई सबसे विचित्र आत्मजीवनी बना देती है। वह केवल गोर्की को छोड़कर और सबके विषय में है। उनका व्यक्तित्व केवल वह आश्रय है जिसके चारों ओर विस्मयकारी चित्रराजि संकलित की गई है। इन पुस्तकों में गोर्की की सबसे बड़ी विशेषता उनकी चाक्षुष सजीवता में है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मनुष्य बस आँखें-ही-आँखें है, और पाठक चरित्रों की विस्मयकारी रूप से सजीव और स्पष्ट आकृतियों को इस प्रकार देखता है मानो वे सुरङ्ग-चित्रित हों।... गोर्की की आत्मजीवनी-शृङ्खला जगत् को कुरूप प्रस्तुत करती है, किन्तु प्रकाश से विहीन नहीं; जो बातें उसके भार को हलका बनाती हैं और जो मानवता की रक्षा कर सकती हैं तथा जिन्हें ऐसा करना ही चाहिए वे ज्ञानोदय, सौन्दर्य और सहानुभूति हैं।" मिर्स्की की दृष्टि में गोर्की अपनी अन्य दो कृतियों में और अधिक उच्चकोटि के लेखक के रूप में प्रस्तुत होते हैं— "....'टाल्स्टाय के संस्मरण' उस महान् मनुष्य के विषय में किसी भी काल में लिखे गए पृष्ठों के बीच सबसे अधिक सारपूर्ण हैं और यह सब इसके बावजूद है कि गोर्की सुनिश्चित रूप में टाल्स्टाय के बौद्धिक समकक्ष के समान कुछ भी नहीं हैं। वह उनकी आँखें हैं जो आरपार देख लेती हैं, न कि उनकी बुद्धि जो समझती है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि उन्होंने वे चीज़ें देखीं और अंकित कीं जिन्हें देखने में दूसरे असमर्थ थे, अथवा यदि वे देखते थे तो उन्हें अंकित करने की शक्ति उनमें न थी। गोर्की-निर्मित टॉल्स्टाय की प्रतिमा रचनात्मक की अपेक्षा ध्वंसात्मक अधिक है—वह अनुश्रुति की एकता को जीवन की जटिलता की वेदी पर बलि चढ़ा देती है।" 'द नोटस फ्रॉम ए डायरी' में चरित्रों की एक माला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। मौलिकता उसमें मूल वस्तु है और मिर्स्की उसे टाल्सटाय के संस्मरण को छोड़कर गोर्की की सर्वोत्कृष्ट कृति मानते हैं।

किन्तु इस बीच में पश्चिम की दृष्टि भी रूस के प्रति और भी बदली। इस दृष्टि के पीछे व्यापक महत्त्व की अनेक घटनाएँ हैं। १६१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ा। रूस इसमें मित्र-राष्ट्रों का सहयोगी बनकर सम्मिलित हुआ। १६१७ में रूसी क्रान्ति हुई और वहाँ साम्यवादी शासन स्थापित हुआ। साम्यवादी सरकार ने जर्मनी से सन्धि कर ली और रूस को युद्ध से हटा लिया। युद्ध-समाप्ति के पश्चात् समस्त पश्चिम ने रूस का विरोध किया और साम्यवादी शासन को मिटाने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न किए जो विफल हुए। एक नई और कट्टर शत्रुता का जन्म हुआ जिसका दानवीय विस्तार वर्तमान युग को भी आच्छादित किये हुए है। साम्यवाद के विरोध ने बहुत शीघ्र उन्माद का रूप धारण कर लिया और यहाँ तक कि सोवियत रूस से सम्बद्ध कोई भी वस्तु बहुतों के लिए घृणित और असह्य, अस्पृश्य और त्याज्य हो गई। यह असम्भव है कि रूसी लेखकों के मूल्यांकन में इस प्रबल मनोदशा का कोई प्रभाव न पड़े। इस प्रकार के प्रभाव से गोर्की का मूल्यांकन भी वंचित नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पश्चिम के अनेक विद्वान् रूसी आत्मा और रूसी लेखकों से आध्यात्मिक शक्ति और सहायता प्राप्त करने के भावुक अभ्यासी थे। ऐसे ही एक सज्जन स्टेफेन ग्राहम ने रूस की इस आध्यात्मिकता को केन्द्र बनाकर बहुत सी पुस्तकें लिखी थीं। महायुद्ध शुरू होने के समय और उसके पश्चात् वे रूस में तीर्थयात्री थे। गोर्की इस समय दस्तोएवस्की के विरुद्ध लेख लिखने में व्यस्त थे। दस्तोएवस्की के विरुद्ध उनके मुख्य आरोप यह थे कि उन्होंने पीड़न और मृत्यु में ही अपनी समस्त शक्ति केन्द्रित कर दी थी। गोर्की का मत यह था कि रूस को रहस्यवादी, पीड़ित और मलिन बनना छोड़ देना चाहिए और इसके बदले उसे स्पष्ट-बुद्धि, आशावादी और अपनी आत्मा का स्वामी बनना चाहिए। यह सब देखकर ग्राहम के मर्म पर आघात लगा। दस्तोएवस्की ही तो 'आध्यात्मिक मूल्य' के अक्षय कोष थे। उन्होंने लिखा—"**जिस रूस पर गोर्की आक्रमण कर रहे हैं वह ठीक वही है जिसके प्रति हमें इंग्लैंड में आध्यात्मिक रुचि है—रहस्यवादी और अव्यावहारिक रूस, वह रूस जो तीर्थयात्री है, वह रूस जो कलात्मक है और रूस को जो वे बनते देखना चाहते हैं वह ठीक ऐसा है जो आध्यात्मिक रूप से हमारे लिए अल्पतम रुचिकर होगा—रूस जो आशावादी, आत्मविश्वासी, व्यावहारिक, सुपरिधानित, स्फूर्तिमय और चतुर तथा पश्चिमी है।**" यहाँ यह स्मरणीय है कि भारत पर पश्चिम के शासनकाल में हमारे देश के 'आध्यात्मिक मूल्य' का उपयोग करने में भी पश्चिम के लोग कभी कृपण और शिथिल नहीं रहे। ग्राहम की 'द वे ऑफ मार्था एण्ड द वे ऑफ मेरी' नामक पुस्तक को लेकर गोर्की ने लिखा—"....**अंग्रेज उसे स्वीकार करते हैं...क्योंकि हमें पावन दीर्घसूत्रियों और अव्यावहारिक व्यक्तियों के रूप में चित्रित करने में अंग्रेज पूँजीवादी के लिए अफ्रीका और भारत के समान रूस में एक भविष्य ब्रिटिश उपनिवेश देखकर उल्लास में हाथ मलने के लिए स्थान रह जाता है।**" किन्तु इंग्लैंड के कल्याण को ध्यान में रखकर ग्राहम आध्यात्मिक मूल्य वाले रूस से चिपके रहे।

किन्तु उपर्युक्त उल्लेख उस सन्निपात की केवल आरम्भिक बानगी है जिसके आगमन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ पश्चिम की समस्त शक्तियाँ रूस और रूसी साहित्य के शिकार में लग गईं। मान्य समीक्षकों से प्रभूत प्रशंसित गोर्की की 'टॉल्सटाय के संस्मरण' कृति के विषय में एडमण्ड गॉस ने अभिमत दिया कि वह विवेकहीन है और बोल्शेविस्ट साहित्य द्वारा अपने मसीहा की समाधि के ध्वंस का उदाहरण है। यह उन्माद किस सीमा तक पहुँचा हुआ था इसका उदाहरण १९१८ में प्रोफेसर पॉल शोरे द्वारा 'अमेरिकन मेडिको-साइकॉलॉजिकल एसोसिएशन' के समक्ष दिये गए इस वक्तव्य में स्पष्ट लक्षित होता है—"टॉल्सटाय यदि स्वयं पागल नहीं, तो दूसरों में विक्षेप उत्पन्न करने के विपुल स्रोत (अवश्य) रहे हैं।" उन्होंने और बतलाया कि रूसी साहित्य का अध्ययन अमरीकी साहित्य समीक्षा के मानसिक स्वास्थ्य और अमरीकी जनमत के सन्तुलन को क्षति पहुँचा रहा है। ऐसे उन्मत्त किन्तु संगठित प्रचार का परिणाम यह हुआ कि अमेरिका में रूसी साहित्य की खपत घट गई और 'डायल' ने यह आशंका प्रकट की कि उसके कारण गोर्की की आत्मजीवनी के प्रकाशन में कहीं बाधा न हो।

१९१७ में गोर्की ने रूस की बोल्शेविक क्रान्ति का साथ दिया। बहुत दूर तक लेनिन और उनकी नीति का समर्थक होने पर भी गोर्की ने एक स्वतन्त्र स्थिति अपनाई। बड़े-बड़े लोगों से उनकी मैत्री थी तथा उनका यश बहुत समृद्ध था। परिणामतः स्वतन्त्र स्थिति रखकर भी वे बहुत काम कर सके। उन्होंने स्वयं को कला और संस्कृति के संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस विषय में उनके कार्य का महत्त्व मिर्स्की ने इस प्रकार अंकित किया है—"स्वनिर्धारित संस्कृति और सभ्यता के संरक्षक का कार्य उन्होंने, जितना उनसे सम्भव था, उतनी अच्छी तरह किया। रूसी संस्कृति पर उनका बहुत बड़ा ऋण है। १९१८ और १९२१ के बीच रूसी लेखकों और अन्य उच्च बुद्धिजीवियों को भूखों मरने से बचाने के लिए जो कुछ भी किया गया वह सब गोर्की के कारण था। यह मुख्यतः.......कवियों और उपन्यासकारों को अनुवाद का काम देकर किया गया। सम्भवतः यह युक्ति निर्दोष नहीं थी, किन्तु उन परिस्थितियों में कदाचित् केवल वही सम्भव थी।" १९२१ में गोर्की जर्मनी चले गए और वहाँ से १९२४ में इटली। १९२८ में अपनी साठवीं वर्षगाँठ के समारोह में सम्मिलित होने के लिए वे रूस लौटे। इसके शीघ्र पश्चात् वे पुनः रूस में ही बस गए। स्टालिन के शासन का उन्होंने समर्थन किया। १९३६ में उनकी मृत्यु हो गई। अपने अन्तिम काल में साहित्यिक मानदण्डों को उठाने और नये लेखकों को शिक्षित करने में उन्होंने अथक परिश्रम किया।

अपने जीवन के अन्तिम पक्ष में भी गोर्की ने बहुत सी पुस्तकें लिखीं। उनका 'द आर्तमानोव्स' उपन्यास १९२५ में प्रकाशित हुआ। १९२७ से १९३६ तक 'द लाइफ ऑफ क्लिम सामगिन' लिखा गया, जिसके विभिन्न भाग 'बाइस्टेण्डर', 'द मैगनेट', 'अदर फायर्स' और 'द स्पैक्टर' नाम से अंगरेजी में अनूदित हैं। उक्त दोनों कृतियाँ सहज सम्मानित हुईं। गोर्की अपने द्वितीय उपन्यास को पूरा नहीं कर पाए। इसी प्रकार उनकी एक नाटक-त्रयी की योजना भी अधूरी रह गई। उसके केवल दो भाग 'बूलीशेव एण्ड अदर्स' (१९३२) और 'दस्तीगायेव एण्ड अदर्स' (१९३३) पूर्ण हो सके। ये समस्त गोर्की के जीवन के संध्याकाल की कृतियाँ हैं और गोर्की की प्रतिभा की दीप्ति उनमें बनी हुई है। उनकी पूर्ववर्ती कृतियों की तुलना में अन्तिम कृतियों की निर्माण-योजना अधिक महत्वाकांक्षापूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अत्यन्त घटनापूर्ण जीवन में जो कुछ उन्होंने देखा था उसके समस्त सारभूत अंश को वे कतिपय विशाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रपटों की एकता में उसकी मूल गतियों के साथ अंकित कर देना चाहते थे।

एक शिल्पकार और शैलीकार के रूप में भी गोर्की पर अनेक आक्षेप हैं। संगठन की दृष्टि से उनकी बहुत सी कृतियाँ दुर्बल कही जाती हैं। इस दुर्बलता का मुख्य कारण तथाकथित दार्शनिक विवादों की विपुलता और उसके साथ अशक्त वार्तालाप की शैली का प्रयोग है। किन्तु यह एक ऐसा प्रश्न है जो विशुद्धत: कला-पक्ष से सम्बद्ध है और उस पर कुछ कहने के लिए अधिक और एक विशेष प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता होगी। समीक्षक कहते हैं कि हास्य की क्षमता से गोर्की वंचित थे और इसलिए उनकी कृतियों का वातावरण अधिक मलिन और धूमिल हो गया है। जिस शैली को लेकर गोर्की ने आरम्भ किया वह स्वच्छन्दतावाद की शैली है, और जिसे सोवियत समीक्षा में 'क्रान्तिकारी-स्वच्छन्दतावादी शैली' नाम दिया है। इसके पश्चात् गोर्की क्रमशः यथार्थवाद की ओर बढ़े। उनके आरम्भिक यथार्थवाद का रूप देखकर पश्चिमी समीक्षक कड़ी आलोचना के लिए प्रेरित हुए। उनकी तुलना फ्रांस के ज़ोला से की गई और जेम्स हूनेकर ने उन्हें 'एक ऐसा प्रकृतवादी' कहा, 'जिसके समीप ज़ोला अपनी कला का 'क ख ग' सीखने के लिए जा सकते थे।' अपनी 'लेटर नाइनटीन्थ सेंचुरी' (१९०७) पुस्तक में प्रकाण्ड विद्वान सेण्ट्सबरी ने रूसी लेखकों पर चर्चा करते हुए लिखा—"........परवर्ती और सचमुच (हमारे) समकालीन गोर्की के उल्लेख के लिए केवल यही पर्याप्त माना जा सकता है कि उन्होंने 'गन्दगी' में और प्रगति की।" यह हम देख ही चुके हैं कि गोर्की के कृतित्व के तृतीय काल की कृतियों में मिर्स्की सच्ची वस्तुमूलकता और तटस्थता से युक्त वास्तविक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित मानते हैं। गोर्की के यथार्थवाद की चर्चा हम जल्दी से केवल यही कहकर बन्द करते हैं कि यह 'समाजवादी यथार्थवाद' का युग है।

गोर्की के इस सर्वेक्षण में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं। जिस प्रकार 'आलोचना' में प्रकाशित दस्तोएवस्की पर अपने लेख में हमने देखा था कि विशिष्ट सिद्धान्तों पर आश्रित समीक्षा कलाकार पर सहायक प्रकाश डालने के स्थान पर उसके अनुशीलन को अधिक जटिल और कंटकित बनाती है, उसी प्रकार प्रस्तुत लेख यह प्रदर्शित करता है कि सैद्धान्तिक मतभेद के अतिरिक्त गोर्की की समीक्षाओं में विशिष्ट राष्ट्रीय दृष्टिकोणों की बहुलता है। विभिन्न देशों के लिए किसी भी समय अपने-अपने विशेष दृष्टिकोण का कारण और मूल्य हो सकता है और कदाचित् कला के मूल्यांकन को भी उससे पूर्णतया मुक्त करना कभी सम्भव नहीं, किन्तु इस कार्य में उसका इतने स्थूल और व्यापक रूप में प्रभाव किसी प्रकार वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह नहीं है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण क्यों है और विशेष प्रकार के समीक्षात्मक वक्तव्य क्यों दिये गए हैं। इनका होना तो अत्यन्त स्वाभाविक है। किन्तु यह स्वाभाविक है इसीलिए यह आवश्यक है कि निष्पक्ष मूल्यांकन के पूर्व तटस्थता के साथ ऐसे तथ्यों पर ध्यान दिया जाय जिससे हमारे निर्णयों में यथासम्भव इस प्रकार के देशी या विदेशी पूर्वग्रहों का समावेश न हो सके। हिन्दी-जगत् के हृदय में गोर्की की प्रतिभा तेजोदीप्त है, किन्तु वह रूपहीन है। उसे सरूप बनाने के लिए जैसे स्वयं गोर्की के समस्त साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार गोर्की की समीक्षा के उस पक्ष का अध्ययन और विश्लेषण भी, जिसके संकेत का प्रयत्न प्रस्तुत निबन्ध में किया गया है और हमारा सुझाव है कि ब्रिटेन अपना हाइड्रोजन बम फोड़े उसके पूर्व ही हमें यह कार्य सम्पन्न कर लेना है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत प्रश्न

'नई कविता'–दो समीक्षाएँ

: १ :

ब्रजलाल वर्मा

['नई कविता' शब्द से हमारे दोनों समीक्षकों ने 'नये प्रकार की कविता' का अर्थ अनायास ले लिया है। हमारी दृष्टि में नई कविता शब्द का प्रयोग इतने सीमित अर्थ में करना ठीक नहीं है, फिर भी हमने प्रस्तुत शीर्षक को बदलना उचित नहीं समझा। केवल उसे '' चिह्नों से समन्वित कर दिया है।] —संपादक

मानव-हृदय की राग-चेतना और कविता दोनों सहजात एवं अन्तरावलम्बित हैं, दोनों के इतिहास का एक साथ उदय होता है तथा दोनों एक-दूसरी की मुखापेक्षी हैं। कविता के क्षेत्र में इस राग-चेतना तथा बुद्धि का भेद भी युग-पुष्ट है, फिर भी राग-चेतना में बुद्धि का एकान्त अभाव अथवा एकान्त अतिरेक दोनों ही समर्थ रचना के बाधक हैं। सुष्ठु एवं मार्मिक काव्य-रचना के लिए मस्तिष्क-स्थित बुद्धि को सदैव अपना आसन छोड़कर हृदय की ओर कुछ नीचे उतरना पड़ता है तथा हमारी हृदयस्थ भावना को बुद्धि के स्वागत के लिए सदैव तत्पर रहना पड़ता है—सफल रचना का प्रादुर्भाव इसी समन्वय में सम्भव है। कविता के लम्बे अतीत पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि कविता के सामने ऐसा चतुष्पथ पहले कभी नहीं आया जबकि उसे दिग्भ्रमित-सी होकर अपने गन्तव्य पथ पर बढ़ने के लिए किसी के निर्देश, संकेत की आवश्यकता पड़ी हो, जैसी कि आज कविता के सामने 'किधर जायँ' की समस्या आ खड़ी हुई है। संस्कृत कवियों, आचार्यों की सम्प्रदाय-परक परिभाषाओं के बड़े-बड़े व्यूहों में कविता को प्रवेश करना पड़ा, तथापि वह सबको पार करती हम तक आ गई है। परन्तु आज कविता समस्या-विह्वल-सी खड़ी न आगे बढ़ रही है और न पीछे। वह स्तम्भित-सी एक स्थान पर खड़ी है। विभिन्न मार्गनिर्देशक अपनी-अपनी झण्डियों द्वारा उसे परस्पर प्रतिकूल दिशाओं में बढ़ने का संकेत दे रहे हैं—कविता किस निर्देशक पर विश्वास करे, किसके संकेत पर आगे बढ़े, एकान्तनिष्ठ प्रतिकूल प्रताड़नाओं में वह किसका आदेश माने यह एक समस्या है। उसे भय और आशंका है कि यदि किसी भ्रामक निर्देश के सहारे किसी अनजाने पथ पर वह बढ़ गई तो ऐसा न हो कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे वहाँ से फिर वापस लौटना पड़े।

इतनी भूमिका से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'नई कविता' शीर्षक में हम हिन्दी की किस काव्यधारा को बाँधना चाहते हैं। हमने 'नई' शब्द के लिए 'आधुनिक' शब्द का जान-बूझकर प्रयोग नहीं किया, क्योंकि नई कविता के उन्नायक नई कविता को आधुनिक कविता कहने के पक्ष में नहीं हैं। **"हम 'नई कविता' के नाम से इधर एक विशिष्ट शैली और 'स्कूल' की काव्य-कृति को पुकारने-पहचानने लगे हैं और अब शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं रही कि सभी सामयिक अथवा आधुनिक कविता नई होते हुए भी नई कविता नहीं है।"**[1] नई कविता से यहाँ प्रयोजन है वह कविता जो 'प्रसाद', 'निराला', पन्त और महादेवी की छायावादी तथा रहस्यवादी धारा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई। नई कविता का अभिप्राय विशेष रूप से उस कविता से है जो श्री अज्ञेय के पहले और दूसरे 'तार सप्तक' से फूटी। हम नहीं कहते कि नई कविता 'तार सप्तक' से स्वरित होने के पश्चात् ही आविर्भूत हुई, हो सकता है 'तार-सप्तक' की तन्त्री में 'नई कविता' पहले से ही निर्वाक् तारों में निवसित रही हो। हमारा आशय इतना ही है कि नई के प्रथम आलोक के दर्शन तभी हुए जब नई कविता के सप्तर्षि कवि श्री 'अज्ञेय' के 'तार सप्तक' की बल्लकी को छेड़कर अपने स्वतन्त्र राग अलापने लगे। यद्यपि आधुनिक कविता के इतिहास का कोई भी पर्यवेक्षक इसी यथार्थ को स्वीकार करेगा कि नई कविता ने पिछले पच्चीस वर्षों में अपने तीन नाम बदले हैं। सबसे पहला नाम था प्रगतिवाद, दूसरा नाम था प्रयोगवाद, और तीसरा नाम है 'नई कविता'। ध्यान रहे कि नई कविता के आज के पोषक नामों की इस परम्परा को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। नाम क्या, वे नई कविता तथा प्रगतिवाद में कोई संसर्ग भी स्वीकार करने को तैयार नहीं और हम तो नई कविता को प्रयोगवाद भी कहते घबराते हैं, क्योंकि इस दिशा में श्री 'अज्ञेय' के विधि-निषेध पहले से ही निर्धारित हैं। वे कहते हैं— **"प्रयोग का कोई वाद नहीं, हम वादी नहीं रहे, न ही हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है···अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें कविता-वादी कहना।"**[2] उक्त कथन में 'नहीं रहे' अंश इतना तो संकेत करता है कि पहले कभी थे अब नहीं रहे, तब फिर हमारा तीन नामों की परम्परा का उल्लेख असंगत नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि नामों के परिवर्तन की आवश्यकता क्यों पड़ी? उत्तर सरल और निष्पक्ष है। जैसे किसी देश में अराजकता उत्पन्न करने वाला विद्रोही शासनाधिकारियों की गिरफ्त से बचने के लिए तथा उनकी नजर बचा जाने के लिए नित्य अपने रूप और नाम बदलता रहता है, वैसे ही यह नई कविता भी शायद समालोचकों के कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण से बचते रहने के लिए अपना नाम और रूप बदलती रही। पूछा जा सकता है कि फिर नई कविता की यह परिवर्तन-परम्परा पकड़ में कैसे आई? इसका उत्तर भी सरल ही है। नाम-रूप का परिवर्तन संस्कारों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, नाम-रूप के बदलने पर भी स्वभाव, संस्कार, आदतें और आचरण में कोई अन्तर नहीं आता। उधर साहित्य के अनुशासक भी नई कविता के पीछे पड़ गए। आज तो नई कविता के विद्रोही ने आज की बदली हुई भौतिक परिस्थितियों और परिवेश में पर्याप्त रूप

१. **'कल्पना' मासिक पत्रिका जनवरी १९५९ का 'नई कविता' निबन्ध, ले० श्री बालकृष्ण राव।**

२. **'दूसरे सप्तक की भूमिका', ले० श्री अज्ञेय।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से शक्ति-संकलन कर लिया है और अब तो वह अनुशासकों के सामने मोर्चाबन्दी करके खुले रूप से आ गया है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष बारम्बार हमारे सामने आएगा कि हिन्दी काव्य की छायावादी धारा में भारतीय संस्कृति और भारतीय सौन्दर्य के मान जब अपना मूल्य और महत्त्व स्थापित करते देखे गए, जब छायावादी धारा कलात्मक प्रणाली में स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्रीयता के उद्घोष का माध्यम बनने लगी तो भारत के राजनीतिक अंचल में एक वर्ग ऐसा भी था जो मार्क्स और लेनिन के आप्त निर्देशों का परिपोषक था और जिसने यह अनुभव किया कि यदि कविता 'मास्को मुक्त' राष्ट्रीय चिन्तन की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई तो भारतीय जनता के हृदय में साम्यवाद तथा मार्क्स के सिद्धान्त अपनी जड़ें नहीं जमा सकेंगे। अतः उस वर्ग ने कविता को प्रगतिवाद की गली में चलना सिखाना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु भारतीय साहित्यिकों के वर्जन और तर्जन ने इस धारा को आगे नहीं बढ़ने दिया। तब परिणाम यह हुआ कि उसी वर्ग ने कविता को 'प्रयोग' जैसा नाम दे दिया। हां, नाम के परिवर्तन के साथ-साथ रूप-परिवर्तन की महिमा भी सामने आई। इस बार नया शिल्प, नये शब्द, नई अभिव्यक्ति, नये उपमान आदि के नारे बुलन्द किये गए। कथन और कथ्य दोनों की नवीनता का प्रतिपादन किया गया। **"कथ्य का आधुनिक होना तो आवश्यक है ही। बिना सर्वथा आधुनिक कथ्य के शैली की नवीनता मात्र विलक्षणता अथवा प्रयोग होकर रह जायँगे।"**[1] नई कविता का आन्दोलन वैसे ही शक्ति ग्रहण करता गया, जैसे मि० जिन्ना का हिन्दू-मुसलिम दो पृथक् राष्ट्रों वाला सिद्धान्त। किन्तु इसका कारण सिद्धान्त की अपनी शक्ति-सम्पन्नता उतना नहीं था जितना भारतीय नेताओं द्वारा सिद्धान्त का विरोध। नई कविता की ऐसी कटु, गम्भीर एवं अनावश्यक भर्त्सना की गई कि इसके प्रति समाज का और भी आकर्षण बढ़ता गया। आकर्षण के लिए वस्तु का सुन्दर होना आवश्यक नहीं, वस्तु की असामान्यता ही उसके आकर्षण का साधन बन जाती है। असामान्यता का पक्षी या विपक्षी, अनुकूल या प्रतिकूल आन्दोलन तथा प्रचार उसके आकर्षण में चार चाँद लगा देता है। नई कविता के साथ यही हुआ। हमारा विश्वास है कि यदि हमारे समालोचक इसकी उपेक्षा कर जाते तो शायद नई कविता का यह अतिवादी रूप सामने न आता जो आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में आया है तथा विरोध में सन्तुलन नहीं रहता। यही कारण है कि जिस प्रकार छायावादी काव्य के प्रति यह उपालम्भ निरन्तर चलता रहा कि छायावादी काव्य में और कुछ भी हो, छाया शब्द से तो उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही 'नई कविता' के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसमें 'नया' कुछ भी हो 'कविता' तो नहीं है। छायावादी कविता तथा नई कविता में हमें एक विशिष्ट साम्य देखने को मिलता है। जैसे छायावादी कविता एक ओर तो ब्रिटिश प्रभाव के भारत में अंग्रेजी साहित्य की नवजात चेतनाओं से प्रभावित हुई, दूसरी ओर रीतिकालीन काव्य की स्थूल ऐन्द्रिकता तथा शैली की रूढ़ियों से ऊबकर सूक्ष्मता और स्वच्छन्दता की ओर वेग से मुड़ गई, उसी प्रकार नई कविता भी एक ओर अंग्रेजी की यथार्थवादी धारा से प्रभावित हुई, दूसरी ओर उस पर विज्ञान का बढ़ता हुआ बुद्धिवादी घटाटोप छा गया।

नई कविता के कर्णधारों ने अंग्रेजी समालोचकों की भाँति ही स्वच्छन्दवादी तथा छायावादी धाराओं को मृत एवं व्यतीत मानने में ही नई कविता का गौरव समझा। **"यह दूसरी बात है कि पुरानी कविता शनैः-शनैः सामान बाँधकर जाने की तैयारी में लगी हुई है और**

१. 'नई कविता' निबन्ध, 'कल्पना', जनवरी ५६, लेखक श्री बालकृष्ण राव।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नई अपना घर जमा रही है।"[1] अथवा "इस समय भी जहाँ एक ओर नई कविता की प्रभात-किरणें क्षितिज को आलोकित करने लगी हैं, वहाँ आकाश और पृथ्वी पर गत निशा की नक्षत्रावलियाँ अब भी टिमटिमाती-मुस्कराती दीख पड़ती हैं। संक्रान्ति के समय किसी का एकाधिपत्य नहीं होता और यह समय संक्रान्ति का ही है।"[2] श्री राव के इस वक्तव्य में हमें कभी-कभी संक्रान्ति शब्द में भ्रम होने लगता है, क्योंकि संक्रान्ति तो संध्या में भी होती है, उस समय भी नक्षत्रों का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है; उस समय तो गत निशा नहीं आगत निशा की सूचना मिलती है, क्योंकि नई कविता जिस दृश्य की अवतारणा कर रही है उससे तो प्रभात के आगमन का संदेश न मिलकर किसी कविता की दीर्घयामिनी का ही आभास मिलता है। रोमांटिक काव्य के सम्बन्ध में भी अंग्रेजी के कवितावादियों की-सी बात यहाँ के लोगों ने भी कही है।[3]

नई कविता के शिल्प-विधान, भावाभिव्यक्ति तथा सूक्ष्म संगीतमयता को देखकर तो श्री प्रभाकर माचवे के स्वरों में "सहसा यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी के कवि क्या पढ़ते हैं? उनका अध्ययन कितना गहरा है, कितनी भाषाओं का है? कितने विषयों का है, वाग्वैदग्ध्य का उनके निकट क्या मूल्य है? क्या संगीत को शब्दार्थ से वे असम्पृक्त मानते हैं? उनमें अनुभूति की सचाई कितनी है? आलोचकों को कवियों को महानता का बिल्ला चिपकाने की इतनी जल्दी क्यों है? उन पर प्रभाव कितने हैं, किनके हैं, कैसे हैं? आधुनिक कविता में गूँज कितनी है, अनुगूँज कितनी है?"[4] यद्यपि श्री माचवे ने यह प्रश्न हमारे आशय से भिन्न दूसरी संगति में प्रस्तुत किया है, किन्तु नई कविता की वर्तमान दशा देखकर ऐसा लगता है कि श्री माचवे ने हमारे मुँह से मज़मून छीन लिया है। ये प्रश्न नई कविता के समर्थन में जुटाये गए हैं, किन्तु यदि हम उनके विरोध में इन प्रश्नों को संयोजित करें तो एक-एक प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है[5]—हिन्दी के नये कवि टी० एस० ईलियट का वेस्ट लैंड, फ्रायड का काम सिद्धान्त, श्री अज्ञेय के निबन्ध ही पढ़ते हैं। उनका अध्ययन श्री हर्ष, माघ, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, देव, बिहारी, प्रसाद, पंत का पूर्ण बहिष्कार करके ह्वाइटमैन एजरा पाउण्ड, टी० एस० ईलियट, डोन, पो आदि की रचनाओं के अनुशीलन तक सीमित है, कितना गहरा है यह साफ है। भाषाओं में तो ठीक-ठीक हिन्दी-भाषा का भी ज्ञान नहीं है, विषयों में 'विषय' वासना का है। वाग्वैदग्ध्य का मूल्य नये कवियों के निकट कुछ भी नहीं है। संगीत तो उनके छन्दों और शब्दों में क्या, एक-एक वर्ण और मात्रा में है। तब सम्पृक्त-असम्पृक्त का प्रश्न ही नहीं उठता। महानता का बिल्ला चिपकाने की जल्दी क्या है इसका जवाब तो श्री अज्ञेय ही दे सकते हैं। इन नये कवियों पर प्रभाव ईलियट, फ्रायड, एडलर युंग के हैं; प्रभाव बहुत हैं, बुरे हैं। आधुनिक

१. 'कल्पना' पृष्ठ ३, जनवरी १९५६, 'नई कविता', ले० श्री बालकृष्ण राव।
२. 'कल्पना', जनवरी ५६, पृष्ठ ३।
३. Literature and Psychology, P. 130, by F. L. Lucas, "Romanticism like many Romantics died comparatively young. That was natural. Neo-Classicism in decline became a bore but bores can live long."
४. जनवरी १९५६ का टी० एस० ईलियट और काव्यालोचन शीर्षक निबन्ध से, श्री प्रभाकर माचवे। कृपया यह उत्तर दिये गए प्रश्नों के क्रम से पढ़िए।
५. कृपया इन उत्तरों को प्रश्नों के क्रम से पढ़िए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता में गूंज कुछ भी नहीं है, अनगूंज ही है।

अब आइये, नई कविता के शिल्प-विधान पर एक दृष्टि डालें। नई कविता में छन्द और तुक के सम्बन्ध में कोई ऐसा कठोर नियम अथवा सिद्धान्त तो नहीं है, किन्तु नये कवियों के कुछ आपसी सर्वसम्मत रिवाज अब अवश्य दीख पड़ते हैं, जिनका पालन परस्पर प्रायः सभी नई कविता की होनहार पौध करती है। उदाहरणार्थ नई कविता की यह एक प्रच्छन्न शर्त है कि वह बेतुकी हो, छन्दहीन हो, संगीगमयता से मुक्त हो, भाषा सरल हो, किन्तु शब्दों के नये प्रयोग हों, चाहे पाठक के लिए वह फिर एक बार 'केशव की कविताई' क्यों न बन जाय। परन्तु नई कविता के परवर्दिगार हमारे इस कथन से सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि वे नई कविता के प्रत्येक चरण में एक नया तुक, नया छन्द, नई भाषा, नवीन लय मानते हैं। हमारे विचार से इस प्रकार के विचार को अंग्रेजी की नई कविता के काव्यशास्त्र से प्रेरणा मिली होगी, क्योंकि वहाँ का कवि यति (Stress) को ही तुक (Rhythm) मानने लगा।[1] वहाँ यति ही कविता का लय और तुक बन गया। अंग्रेजी के ध्वनि-सिद्धान्त (Phonetix) तथा हिन्दी अथवा संस्कृत के ध्वनि-सिद्धान्त में मौलिक अन्तर है, यह तो सभी भाषाभाषी जानते हैं। अंग्रेजी कविता के लिए यति को ही तुक, लय और संगीत मान लेना भले ही सङ्गत हो, किन्तु हिन्दी के लिए तो यह बड़ी बेतुकी बात होगी, क्योंकि हमारे काव्य, सङ्गीत, भाषा, शब्द, वर्ण प्रत्येक के पीछे एक गम्भीर वैज्ञानिकता है, जबकि अंग्रेजी में हमारे दृष्टिकोण से पहले तो कोई सङ्गीत अथवा लय या तुक है नहीं, यदि है भी तो वह हमारी भाषा के अनुरूप नहीं। फिर अंग्रेजी यति प्रणाली अथवा छन्द-विधान हमारी कविता में किस प्रकार बिठाया जा सकता है? यदि ऐसा करने का दुराग्रह किया भी जाय जैसा कि नई कविता के प्राणदाताओं द्वारा किया जा रहा है, तो यह वैसा ही होगा जैसे मोतियों के ढेर में घोंघे मिलाकर दोनों को एक ही दाम में बेचने का प्रयास करना। मोती और घोंघा एक में नहीं मिल सकते। मिश्रण तो सजातीय द्रव्यों का ही हो सकता है। अंग्रेजी कविता की रचना-प्रणालियों के विजातीय द्रव्यों की मिलावट तो दोनों के वस्तु-रूपों को नष्ट कर देगी। इन तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए चाहिए था हिन्दी की नई कविता के उदाहरण प्रस्तुत करना, किन्तु स्थानाभाववश यहाँ यह सम्भव न हो सका। नई शब्द-योजना, असामान्य उपमान-विधान के लिए नया कवि विकल रहता है। नये-नये बिम्ब (images), नई-नई उपमाएँ नई कविताओं का जीवन-स्रोत हैं और नये कवि की आस्था भ्रमर, कमल, मकरन्द, निर्झर, चन्द्र, सुरभि से हटकर गधा, कुत्ता, सड़क, कीड़ा, पसीना, मूत्र आदि में हो गई है। नये कवि के यही पूज्य उपमान और उपमेय बन गए हैं। नये कवियों के यही उपमान साधारणीकरण की क्रिया में सफल हो पाए हैं, जैसा कि श्री अज्ञेय का कहना भी है—**"जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं हो पाता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है, जिससे पुनः**

1. Key to Modern English Poetry, 1948 Edition, P. 33. By Martin Gilkes Gerard Manley Hopkins, "meant rhythm in which one does not count by syllables but by stresses (a stress being either one word or group of words upon which the emphasis of the noice falls). So many stresses go to make one liye and it does not matter in the least, provided the requisite stresses are all present and correct how long or short the line may be."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का यही अर्थ है।''[1] शायद नये कवियों को इसीलिए मकरन्द के स्थान पर पसीना और मूत्र तथा भृग और उसकी चंचलता के स्थान पर गधा और उसका बुद्धूपन साधारणीकरण का श्रेष्ठतर माध्यम प्रतीत होने लगा है। परन्तु हमारे विचार से साधारणीकरण का मर्म यह नहीं है। यह तो धारणा की चरम विकृति है, इसीलिए तो डॉ० नगेन्द्र को खीझकर कहना पड़ा—''प्रयोगवादी कवि बुद्धि-व्यवसायी है, अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामतः वह सहानुभूति में असमर्थ रहता है, अर्थात् अपने संवेद्य को विश्वास रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है और न प्रस्तुत ही कर सकता है और इसके बिना काव्य-रचना सम्भव नहीं है।''[2] परन्तु कविता के प्रवर्तकों के लिए यह सब क्षम्य है, क्योंकि वे न रस की पद्धति पर वैसी आस्था रखते हैं और न प्राचीन काव्यशास्त्र की वैज्ञानिकता उनको प्रिय है। उनके लिए तो संसार का सभी कुछ रूढ़ हो गया है। उनके तो शब्द के, भाषा के अपने नवीन 'वैज्ञानिक प्रयोग' हैं। किसी भी संख्या में पंक्तियां लिखकर ये कवि कविता लिख देने तथा एक से लेकर किसी भी संख्या के शब्दों द्वारा एक पंक्ति अथवा चरण बना देने का अच्छा अभ्यास कर चुके हैं। नई कविता के आचार्यों ने भी नई कविता की रचना के लिए उसी प्रकार के नियम प्रचलित कर दिए, जिस प्रकार सन् १९५३ में एफ० एस० फ्लिंट और एजरा पाउण्ड ने 'अमेरिकन पोइट्री' नामक पत्रिका में कुछ सिद्धान्त नई कविता के लिए निर्धारित कर दिए थे।[3] यदि श्री जे० आइजक ने स्वच्छन्दवादी धारा की यह कहकर भर्त्सना की है—''रोमाण्टिक कवि जब एक बार अपना बटन दबा देता या स्टापकाक खोल देता अथवा रूपकों को अनुस्यूत कर देता है तो वह यह नहीं समझता कि वह कितनी काव्य-शक्ति निर्गलित कर रहा है। प्राचीन धारा का कवि कम-से-कम जितना निर्गलित करता है उस पर नियंत्रण रखने की आशा तो रखता है।''[4] तो नई कविता के इस असंतुलित रचना-विधान पर कहा जा सकता है कि नया कवि जब एक बार अपने नवप्रयोगों का नल खोल देता है तो उसे यह ध्यान नहीं रहता कि जो भाव-जल वह काव्य-पिपासु को दे रहा है वह जल तनिक भी संतृप्तिकारी है और उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि इस प्रकार के जल की प्रभूत मात्रा पिपासु के कण्ठोच्छलन का कारण तो नहीं बन जायगी। नई कविता के पोषक काव्य-कक्ष के वातायनों को उन्मुक्त कर देने का आग्रह करते हैं, वह इसलिए कि बाहर की स्वच्छ हवा प्रवेश पा सके; किन्तु वे यह नहीं विचार करते कि कभी-कभी वातायनों के बिलकुल खोल देने पर बाहर की दुर्गन्धि, धूप, शीत, आदि के प्रविष्ट हो जाने का भय रहता है, अतः चारों ओर देखकर ही वातायनों को खोलना चाहिए। स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता में अन्तर है। स्वतन्त्रता में अनुशासन और संयम का सौंदर्य मिश्रित रहता है। हमारे विचार से कवि को स्वतन्त्र तो होना

१. 'दूसरा सप्तक' की भूमिका, लेखक श्री अज्ञेय।
२. 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृष्ठ १२३, ले० डॉ० नगेन्द्र।
३. The Background of Modern English Poetry, p. 34, by T. Isaacs.
(1) Direct treatment of thing whether subjective or objective.
(2) To use Absolutely no word that did not contribute to the presentation.
(3) As regarding rhythm to compose in sequence of musical phrase, not in sequence of metronome.
४. The Background of Moden English Poetry के पृष्ठ २१ से मेरे द्वारा अनूदित एक खण्ड।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए, किन्तु स्वच्छन्द नहीं। स्वच्छन्दता तो विक्षिप्त का ही लक्षण है। श्री एफ० एल० ल्यूकस का यह विचार इस प्रसंग में अत्यन्त संगत प्रतीत होता है—"साहित्य स्वतन्त्र की सम्पत्ति है, किन्तु अनुत्तरदायी की नहीं।"[1] इतना ही नहीं, नये कवियों की एक और दुर्बलता लक्षित होती है, वह यह कि वे जनप्रिय बनने के लिए अभिव्यक्ति के अत्यन्त असंस्कृत एवं क्षुद्र धरातलों पर उतर आते हैं। 'पापुलरटी' पाने की आकांक्षा नये कवियों को सब-कुछ करने के लिए विवश कर देती है। श्री ल्यूकस ने इस सम्बन्ध में भी अपने मूल्यवान विचार प्रकट किये हैं, उनके अनुसार कवि को 'पापुलरटी' प्राप्ति मात्र के लिए नहीं लिखना चाहिए।[2]

नई कविता के एक कक्ष में सर्चलाइट फेंकना अभी शेष है। वह है उसकी फ्रायड के काम-सिद्धान्त की उपासना। नई कवितावादियों के अनुसार छायावादी कवियों का यह एक अपराध था कि वे दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति में संकोच करते थे, वे लोकादर्श की लाजवश अपनी दुर्बलताओं को प्रतीकों और दुरूह रूपकों के व्याज से व्यक्त करते थे। परिणाम होता था कि कविता का दुरूह हो जाना, लोकमानस को तृप्त करने में उसका असमर्थ हो जाना। इसीलिए नये कवियों ने भद्रता, आदर्श, शिष्टाचार, शील, सौन्दर्य सबको एक साथ तिलांजलि देकर उन दमित वासनाओं को अपनी कविता के माध्यम से डटकर उभारा। उनको मनुष्य के अवचेतन की ग्रन्थियों को खोलने में अधिक आनन्द मिला। नई कविता के बहुत से कवियों को फ्रायड के न तो प्लेजर प्रिन्सिपल का ज्ञान है और न सेक्स इंस्टिक्ट का। केवल वे इतना जानते हैं कि मानव के प्रत्येक कार्य के पीछे काम-वासना छिपी है, यदि काम-वासना को काम-प्रेरणा भी कह लें तो अपनी जानकारी के साथ वे किसी सीमा तक न्याय कर सकते हैं। हीगेल, प्लैटो और अरिस्टाटिल के नैतिकतावाद एवं आदर्शवाद को चुनौती देने में नई कविता के प्रहरी फ्रायड से भी आगे बढ़ गए। 'मन की मुक्ति' नये कवि का आधेय बन गई।[3] नैसर्गिक सत्य के व्याज से आचरण की उच्छृङ्खलता का पोषण किया गया। मन के निग्रह एवं अन्तःकरण के संयम की युग-युग की पुनीत साधना-पद्धति को लात मारकर मन की उद्दाम वासना तथा दुर्वृत्तियों के निरंकुश स्खलनों को प्रश्रय दिया गया। इसीलिए नई कविता एकांगी हो गई। हमने जहाँ नई कविता की कुछ दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है, वहीं यह भी स्पष्ट कर दें कि सब 'नये' से हमारा विराग नहीं तथा सब 'पुराने' से राग नहीं। अच्छा हो कि पुराना कुछ नया बनकर आये और नया कुछ पुराना बनकर आये। हमें अतीतवादी होकर वर्तमान के सम्पूर्ण का त्याग प्रिय नहीं और न नवीनतावादी बनकर अतीत के सम्पूर्ण के ग्रहण को ही हम अपेक्षित मानते हैं। हमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए, यदि किसी भीषण नाद के लिए बम का विस्फोट,

---

1. 'Literature belongs to the free, but not to the irresponsible.'
२. देखिए वही, पृष्ठ ३९३।
३. श्री गिरिजाकुमार की 'खत' वाली कविता से उद्धृत

हैं यहाँ आजाद सभी विचार
मन भी मुक्त
मन की व्यंजना भी मुक्त
यही है सत्य नैसर्गिक
यही आसक्ति मन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेल के इंजन की वाष्प फूत्कार उपमान के रूप में आएँ, किन्तु हमें मेघों के गर्जन और शंख के भैरवनाद को सर्वथा विस्मृत नहीं कर देना चाहिए।

नये कवियों की 'मूड' की अवतारणा देखकर तो कभी-कभी बड़ी निराशा होती है। कहीं-कहीं क्या, प्रायः इन निर्बन्ध छन्दों का कुछ अर्थ भी नहीं बैठता है। मुझे तो श्री अज्ञेय के दूसरे 'तार सप्तक' में एक बड़ा भ्रम हो गया। मैं भ्रम के दोनों खण्डों को उद्धृत कर देना चाहता हूँ।

हासवन	विषय
मौनतम उसास ले	दो पहरी
ढलता वह अश्रु कठिन	ये हरे वृक्ष
जब उदास,	सुनसान गाड़ी
अन्तर प्रकाश पा	इतनी रात गये
तब घुलता	केशर रंग रंगे आगन
पाहन मलिन	पूर्णमासी रात भर
	जान-बूझकर नहीं जानती
	डर लगता है
	ज़िन्दगी का बोझ
	लीडर का निर्माता
	ताज़ा पानी

यहाँ आप देखें तो आकार और रूप में दोनों खण्ड प्रयोगवादी अतुकान्त कविताएँ-सी दीखते हैं। किन्तु आप आश्चर्य करेंगे यह जानकर कि पहला खण्ड श्री शमशेर बहादुरसिंह की 'हासवन' शीर्षक कविता है और दूसरा श्रीमती शकुन्तला माथुर की रचनाओं का सूचीपत्र है। यह प्रयोगवादी रचना-पद्धति की विशेषता ही मानिए कि उसकी शैली और सज्जा में एक सूचीपत्र छाप दिया जाय तो वह कविता ही बन जायगा।

बिम्ब-ग्रहण तथा उसकी अभिव्यक्ति का नये कवि बड़ा दम्भ भरते हैं। हम एक ही विषय पर दो रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। दोनों के उपमा-विधान पर विचार कीजिए और देखिए कि सौन्दर्य किसमें है। वैयाकरण महर्षि पाणिनि एक नायिका के सौन्दर्यातिरेक का वर्णन करते हुए कहते हैं—

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारा निपातैः सह किन्नुवान्तश्चन्द्रोयमित्यार्ततरं ररास॥[1]

बादल अपनी बिजली की आँखों से रात्रि में अभिसारिका के मुख को देखकर इस भ्रम में पड़ गए कि उनका अन्तश्चन्द्र तो वर्षा की धारा के साथ नीचे नहीं चला गया। ऐसा सोचकर वे आर्ततर होकर विलाप करने लगे।[2] अभिसारिका के सौन्द[र्य] की कैसी पुष्ट अभिव्यक्ति है! हम

१. महर्षि पाणिनि विरचित 'जाम्बवती विजय नाटक' नामक अप्राप्य कृति से।
२. हिन्दी अनुवाद—मेघ ने तड़ित नयन से देख
निशा में अभिसारिण मुखचन्द्र
गिरा शशि जल वर्षा को जान
सिसकता सकरुण स्वर में मंद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूछेंगे, इस उक्ति के कौनसे शब्द घिस गए हैं ? इसमें प्रयोग की किस विशेषता का अभाव है ? श्रीमती शकुन्तला के 'सुहाग वेला' गीत के इस खण्ड में कौनसा नया प्रयोग है ?

चली आई बेला सुहागिन पायल पहने···
बाणविद्ध हरिणी-सी
बाँहों में सिमट जाने की
उलझने की, लिपट जाने की
मोती की लड़ी समान

इन पंक्तियों में सुहागवेला के आगमन का चित्र खींचा गया है, किन्तु बाणविद्ध हरिणी का उपमान प्रस्तुत करके रंग में भंग कर दिया गया है। शृंगार में करुण की योजना की गई है।

छायावाद के मरघट पर नई कविता की मेंहदी रचाने वाले महाशयों की धारणा है कि नई कविता का भविष्य उज्ज्वल है, क्योंकि वह नई है, कविता न भी हो तो क्या ? किन्तु नई कविता के पोषकों एवं विरोधियों दोनों को गम्भीरतापूर्वक सोचना होगा तथा रूढ़ि और नवीनता दोनों के बीच एक सन्धि-बिन्दु खोजना होगा। रूढ़ि का पूरा बहिष्कार तो श्री अज्ञेय भी नहीं स्वीकार करते, प्रत्युत वे रूढ़ि की साधना को अनिवार्य मानते हैं।[1] नये कवियों की एक और विशेषता यह है कि वे नई कविता पर आये-दिन प्रचार-गीत लिखते हैं। नई कविता उनकी रचना का आलम्बन बन गई है यह भी कविता के हित में नहीं है। काव्य-प्रतिभा न होने पर भी कुछ तरुण, जब कहीं कविता नहीं छपती या प्रकाशित होती तो वे उसी असफल रचना को, कहना चाहिए जो रचना ही नहीं है, किसी प्रयोगवादी संकलन में प्रकाशित करा देते हैं क्योंकि अभी प्रयोगवादी किले में मैन-पावर का बड़ा महत्त्व है, जितने ही रंगरूट बढ़ जायँ अच्छा है। मैंने तो कुछ किशोर कवियों की प्रयोगवादी रचनाएँ लिखने का कारण यही जाना है कि उनकी वहाँ प्रतिष्ठा है, सम्मान है, कवि के रूप में आदर होता है। अप्रयोगवादी क्षेत्र में उनको कोई कवि ही नहीं मानता। अपने एक निबन्ध में डॉ॰ जगदीश गुप्त, जो प्रयोगवाद के हिमायती हैं, का विश्वास है कि जिस प्रकार छायावाद के प्रारम्भ में उसका बड़ा विरोध हुआ किन्तु अन्ततोगत्वा उसने अपनी जड़ें जमा ही लीं,[2] उसी प्रकार नई कविता के प्रारम्भ में उठने वाले विवाद एक दिन क्षीण हो जायँगे और नई कविता व्यापक प्रतिष्ठा की अधिकारिणी हो सकेगी। यह तर्क तो नई कविता के जन्म के पूर्व ही उसकी मृत्यु की सूचना देता है। प्रयोगवादी ही यह भी मानते हैं कि छायावाद को अपनी कुछ विकृतियों के कारण अविकसित ही मर जाना पड़ा, तो फिर

१. 'त्रिशंकु', पृष्ठ ३१, लेखक श्री अज्ञेय —
"हमें किंचित् यह विस्मयकारी तथ्य स्वीकार करना होगा कि परम्परा स्वयं लेखक पर हावी नहीं होती, बल्कि लेखक चाहे तो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है। लेखक की साधना से ही रूढ़ि बनती और मिलती है और हम सिद्ध करेंगे कि रूढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए वांछनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है।"

२. 'नयी कविता नया सन्तुलन' निबन्ध, लेखक डॉ॰ जगदीश गुप्त—"कटु आरोपों और अनर्गल आलोचनाओं के विरुद्ध उस समय का विद्रोह नतशीश नहीं हुआ, आज भी नहीं होगा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगदीश का यह तर्क क्या नई कविता के सम्बन्ध में पूरा-का-पूरा स्वीकार कर लिया जाय? यदि हाँ तो छायावाद की अकाल मृत्यु नई कविता के सामने भी है। नई कविता चाहे अपने नाम में नई कविता बनी रहे, किन्तु अपने प्रभाव और गुणों में यदि केवल कविता ही बनी रही तो वह साहित्य की विस्तृत परम्परा को अपने पुष्ट योग द्वारा आगामी युग तक बढ़ा देगी, अन्यथा नई कविता की वर्तमान गतिविधि तो परम्परा की उस धारा को विच्छिन्न कर देगी ऐसा प्रतीत होता है। यदि नई कविता के शिल्प की पाकशाला में स्वास्थ्यवर्द्धक सुस्वादु व्यञ्जनों का अभाव है तो विदेशी मन्दिरों के उच्छिष्ट प्रसाद के बल पर उसका जीवन कितने दिन चलेगा।

: २ :

श्री० प्रतापसिंह चौहान

हिन्दी की नई कविता को लेकर विद्वानों तथा आलोचकों में विवाद हुए हैं। इस नये काव्य के समर्थन में प्रायः वे ही व्यक्ति हैं जो इसके स्रष्टा हैं। आलोचकों के दोनों वर्गों—पिछली पीढ़ी के आलोचकों तथा नये प्रगतिशील आलोचकों—ने इसका स्वागत नहीं किया, वरन् भर्त्सना ही की है। नई कविता के समर्थकों ने पुष्ट तर्कों द्वारा अपने मत की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। ये विवाद प्रायः रूपाकार (फार्म) तथा वस्तु को लेकर हुए हैं। हिन्दी की काव्य-परम्परा को देखते हुए निस्सन्देह नई काव्य-शैली विवादग्रस्त तथा विचारणीय है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अति प्राचीन काल से 'पद्य' तथा गद्य की भाषा में अपेक्षाकृत अन्तर रहा है। भाव-व्यंजना की इन दोनों शैलियों में जहाँ गद्य व्यास-पद्धति को अपनाता है, वहाँ पद्य समास-पद्धति को। गद्य में जहाँ विवेचना तथा तर्क की अधिक क्षमता होती है वहाँ पद्य में लय के साथ भाव-प्रसूत चित्र अधिक स्पष्ट तथा हृदयग्राही होते हैं। अतएव काव्य में से जब लय को निकाल दिया जाता है तो भावाभिव्यक्ति बुद्धिपरक हो जाती है और हम उसे गद्य ही कह सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि नया काव्य अपनी अभिव्यंजना में अपने पूर्ववर्ती छन्दों का परिधान ही स्वीकार करे, किन्तु मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि चिन्तना तथा भावाभिव्यंजना की भाषा में अन्तर हो। लयहीन काव्य-भाषा में निश्चय ही काव्य-तत्त्वों का पूर्ण पोषण नहीं हो सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि भावानुभूति की दशा में हृदय के सामान्य स्पन्दनों में तीव्रता आ जाती है। अतएव मन की उस असाधारण भावुकतापूर्ण स्थिति में भाषा तथा भावों में अतिशय रमणीयता आ बैठती है। अस्तु, उन क्षणों में अद्भुत क्षमता होगी। उसे पढ़ते ही मन भावाविष्ट हो उठेगा। भाषा में अत्यन्त प्रभविष्णुता होगी। वह भाषा हृदय की होगी, आत्मा की होगी। किन्तु भावानुभूति के क्षणों के अतिरिक्त समय में भाषा विचार-प्रधान होगी। और इसीलिए मैं हृदय की भाषा तथा मस्तिष्क की भाषा के अन्तर को आवश्यक ही नहीं, अभीष्ट भी समझता हूँ।

आज का कवि अपने काव्य में संगीत की नियोजना भी नहीं पसन्द करता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य में संगीत उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है, जहाँ तक काव्य की महिमा अक्षुण्ण रहे। यदि श्रोता का मन काव्य में वर्णित वस्तु की अपेक्षा संगीत की तानों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलापों में अधिक रमता है तो कवि निःसन्देह ही अपनी सीमा के बाहर चला जाता है। किन्तु शब्दों के समुचित प्रयोग तथा छन्द-योजना में भी एक प्रकार का संगीत रहता है। उसकी पहचान यदि कवि को नहीं है, तो उसका काव्य उस अभिव्यक्ति को नहीं दे सकता जो उस भाव-व्यंजना के लिए आवश्यक है। इस प्रकार के शब्द-संगीत की अविश्यकता तो प्रायः सभी प्रकार के काव्य में रहती है, किन्तु 'लीरिक' या गीति-काव्य में तो संगीत पर ही विशेष प्रकर्ष होता है। यदि 'गीत' से गेय तत्त्व निकाल दिया जाय तो वह केवल मात्र तुकबन्दी रह जायगा। आधुनिक काल में संगीत और काव्य कला के दो भिन्न विभाजन माने जाने लगे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन आचार्यों ने भी कला के वर्गीकरण में संगीत और काव्य की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। तानों, आलापों, स्वरों, ग्रामों और गमकों में बँधा हुआ संगीत निस्सन्देह ही अपने-आप में पूर्ण है, किन्तु उसे हम केवल संगीत ही कह सकते हैं। कबीर, तुलसी, सूर तथा मीरा के पद जितना कवियों को भावाविष्ट करते हैं, उससे कम वे संगीत और गायक के मन को रससिक्त नहीं करते। वे कवि से अधिक उन पर अपना अधिकार समझते हैं। अतएव यदि नया कवि (प्रयोगवादी कवि) अपने काव्य में संगीत की इसी प्रकार अवहेलना करता जायगा, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि संगीत के माध्यम से समाज और राष्ट्र में जिस चेतना को जन्म दिया जा सकता है, वह सम्भव न हो सकेगी। अपने गेयतत्त्व के अभाव में काव्य भी लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकेगा और कदाचित् इसी कारण अपने अन्तर्गत सामाजिक तत्त्वों को लिये हुए भी वह समाज का न हो सकेगा तथा इसी कारण उसे अधिक टिकाऊ होने का भी अधिक अवसर नहीं प्राप्त होगा।

रूपाकार (फार्म) को लेकर मुझे केवल एक बात और कहनी है। वह बात है शब्द-प्रयोग की। आज का प्रयोगवादी कवि शब्दों के अन्धाधुन्ध प्रयोग करता जा रहा है। शब्दों को तोड़-मरोड़कर उनको अपने काव्य में बिठाना जहाँ एक ओर मन को जुगुप्सा से भर देता है, वहीं शब्द-सामर्थ्य को भी कमजोर कर देता है। एक कवि ने चिहुँकी शब्द के स्थान पर चिउँकी के प्रयोग द्वारा व्यंजना में मिठास लाने के लिए शब्द की शक्ति पर जो आघात किया है, उसे चिहुँकी तथा चिउँकी की अर्थव्याप्ति की जानकारी रखने वाले सभी विद्वान जानते हैं। पर इससे अधिक चिन्त्य बात है, व्याकरण को लेकर भाषा के प्रयोग। १९५४ की कविताओं का एक प्रतिनिधि संकलन 'कविताएँ : १९५४' के नाम से श्री अजितकुमार तथा देवीशंकर अवस्थी के संयुक्त सम्पादन में निकला है। इस संग्रह को मैं सन् १९५४ का प्रतिनिधि संग्रह इसलिए कहता हूँ, क्योंकि इसमें सन् १९५४ के प्रायः सभी प्राचीन-नवीन कवियों की कविता तथा काव्य की प्रत्येक धारा को स्थान प्राप्त हुआ है। सम्पादक-द्वय का यह कार्य वास्तव में स्तुत्य है। इसी संग्रह के एक कवि हैं श्री कुँवर नारायण। उनकी कविता का शीर्षक है 'पंख मेरे'। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ निम्न हैं—

पंख मेरे
तू कृती हर बार
नभ केवल प्रतीचा।
तू उमड़-बढ़ वक्र में अपने गगन को घेर।

इस कविता में जरा 'वक्र' शब्द के प्रयोग को देखिये, आदि-आदि। 'वक्र' शब्द हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता आया है, किन्तु यहाँ पर कवि ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग के चक्कर में संज्ञा के रूप में इसे रखा है। कवि के मन में अंग्रेजी का 'कर्व' शब्द रहा है और सम्भवतः यह गलती इसी कारण हुई है। चाहे जो कुछ हो, ऐसे प्रयोग भाषा तथा व्याकरण की दृष्टि से अत्यन्त चिन्तनीय हैं। अतएव जिन्हें व्याकरण का ज्ञान है उन्हें शब्दों और व्याकरण के साथ यह खिलवाड़ सह्य न होगा, क्योंकि शब्द का अपना सामर्थ्य होता है, अपनी अर्थ-व्याप्ति होती है। अतएव जब तक प्रयगोवादियों का अपना एक सर्वसम्मत व्याकरण नहीं बन जाता तब तक उन्हें रूढ़िवादियों के व्याकरण का ही आश्रय लेना चाहिए और व्याकरण तथा शब्दों के साथ मनमाना अत्याचार न करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक शब्द के साथ एक इतिहास जुड़ा हैं, उसकी सामर्थ्य की व्याप्ति है। 'नभ' के 'मन' तक पहुँचने तक की प्रक्रिया में समय लगा है। एक क्षण में ही बिना सोचे-समझे यह सब सम्भव नहीं हुआ है। फिर भी दोनों के अर्थों में महान् अन्तर है। एक संकल्प-विकल्प की क्रिया का द्योतक रूढ़ शब्द है तो दूसरा प्रणति के भाव को व्यक्त करता है। शब्दों के प्रयोग के विषय में दूसरी बात है अन्य भाषाओं के शब्दों के ग्रहण के विषय में। अन्य भाषाओं के शब्दों को अपने काव्य के अन्तर्गत अपनाने में प्रयोगवादी कवि ने आवश्यकता से अधिक उदारता दिखाई है। छायावादी कवियों के काव्य में—विशेषकर पन्त और निराला के काव्य में—यत्किंचित् उर्दू शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उन्होंने अपनी काव्य-भाषा के लिए प्रमुख रूप से संस्कृत से ही प्रेरणा ली है। निरालाजी के काव्य में प्रान्तीय भाषा बंगला का प्रभाव प्रचुर मात्रा में अवश्य मिल सकता है। किन्तु बंगला अपने शब्दों के निर्माण में संस्कृत से ही आश्रय लेती आई है, इसलिए वे शब्द बंगला से गृहीत होने पर भी संस्कृत के ही हैं। किन्तु प्रयोगवादी कवि ने उर्दू और अंग्रेज़ी शब्दों के मोह में संस्कृत से प्रेरणा लेना लगभग बन्द ही कर दिया है। 'नई कविता' प्रयाग का दूसरा अंक मेरे हाथ में है। इसमें प्रकाशित अधिकांश कविताओं की भाषा या तो उर्दू है या फिर अंग्रेजी। संस्कृत-तत्सम-बहुला एक-दो कविताओं को छोड़कर और नहीं दिखाई देतीं। कुछ कविताओं के शीर्षक भी अंग्रेजी में दिये गए हैं। उदाहरणार्थ श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविताओं के 'पोस्टर और आदमी' तथा 'पीस और पैगोडा' शीर्षक रखे जा सकते हैं। उर्दू भाषा के शब्दों की छटा तो प्रायः प्रत्येक कविता में अतिशय मात्रा में मिल सकती है। कुछ पंक्तियाँ 'पीस और पैगोडा' शीर्षक कविता से उद्धृत कर रहा हूँ, पढ़िए और भाषा के प्रश्न पर विचार कीजिए—

"एक *लाश* खड़ी करके दूसरी *लाश* उसके सर पर लिटा दी गई है,
ताकि उसकी छाँह तले
ठण्डक से ऐंठे हुए
दो बेहोश *जहरीले* साँपों के फन
एक ही कमल की पंखुरी पर
सुलाये जा सकें।
क्या कमाल है मेरे दोस्त!"

उपर्युक्त उद्धरण की भाषा प्रायः सभी उर्दू है, किन्तु यदि और अधिक उदारता की जाय तो इटैलिक शब्द तो विशुद्ध उर्दू के हैं ही। इसी अंक की एक दूसरी कविता का भी नमूना देखिए। इसके रचयिता हैं श्री राजेन्द्र माथुर। उनकी हिन्दी-कविता का उर्दू शीर्षक है, 'खुद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परस्ता'। यह तो लिफ़ाफ़ा है, अब 'मजमून' की भी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"किया गया *तलब*
कहा गया चलो *कलब*
सवाल-जवाब से तुम्हें *मतलब* ?
जुम्बिसाने-से लब
गये कुछ दब :
टपकने लगे नैनों के टब
....
ज़माना न हुआ सस्ता
हालत *अलबत्ता* हो गई *खस्ता*।
अब नहीं ढूँढ़ती रस्ता।
खुद परस्ता।"

इस कविता के भी प्रायः सभी शब्द उर्दू के हैं। पर कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिन्हें संस्कृत या संस्कृत के माध्यम से हिन्दी जानने वाले व्यक्तियों के लिए तो उर्दू या फ़ारसी कोष का आश्रय लेना पड़ेगा। 'कलब' और 'टब' अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग का ढङ्ग भी दर्शनीय है। 'नयनों' का उर्दू संस्करण 'नैनों' देखने योग्य है। अब प्रश्न यह है कि क्या अपने काव्य को उर्दू या अंग्रेजी के शब्दों द्वारा इस प्रकार भर लेना हमारी भाषा के लिए श्रेयस्कर होगा ? इस प्रकार के खिचड़ी प्रयोगों द्वारा हिन्दी-भाषा का रूप कभी भी स्थिर न हो सकेगा। हिन्दी-भाषा ने सदैव से ही संस्कृत से अपने निर्माण में सहायता ली है। इस देश की संस्कृति और सभ्यता के निर्माण में संस्कृत भाषा का जो अनुदान रहा है उससे सभी परिचित हैं, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि हिन्दी-भाषा भी देश और राष्ट्र के लिए संस्कृति और सभ्यता की रक्षा, संस्कृत भाषा से प्रेरणा लेकर करे। यदि शब्दों के निर्माण के विस्तार में जाया जाय तो इस बात का पता चलेगा कि प्रत्येक शब्द अपनी शक्ति के वलय में अपने देश की कितनी आध्यात्मिक शक्ति, धार्मिक भावना तथा सांस्कृतिक चेतना घेरे हुए है। 'सिजदा' और 'दण्डवत्' अथवा 'नमस्ते' और आदाबर्ज' या 'सलावालेकुम' समानार्थी प्रतीत होते हुए भी न तो समानार्थी ही हैं और न इनके उच्चारण से मन पर एक-सी प्रतिक्रिया ही होती है। एक के उच्चारण से जहाँ मन में गम्भीरता और पूजा के भाव जागते हैं, तो दूसरे के उच्चारण द्वारा मन में एक विशेष प्रकार की चुहल की प्रतिक्रिया होती है जो इसकी तलहटी में छिपे हुए श्रद्धा-भाव को उभरने ही नहीं देती। इस प्रकार की प्रतिक्रिया इसलिए सम्भव हुई है क्योंकि इन दोनों भाषाओं के शब्दों के निर्माण में अपने-अपने देश की भौगोलिक स्थिति, परम्परा, संस्कृति, सभ्यता, अध्यात्म और धार्मिक भावनाओं का वृहत् रूप में प्रभाव पड़ा है। अतः आज के कवि को यह निर्णय करना होगा कि क्या वह अपनी संस्कृति, अध्यात्म तथा सभ्यता के आधार पर अपने समाज और राष्ट्र का निर्माण करना चाहता है या फिर अन्य देशों को आदर्श मानकर राष्ट्र का निर्माण करना चाहता है या फ़िर अन्य देशों को आदर्श मानकर उनकी सांस्कृतिक आस्था का अनुकरण करना चाहता है ? यदि हाँ तो उसे अपने देश की भाषा का ही आश्रय लेना पड़ेगा, यदि नहीं तो क्या उसने भली भाँति सोच लिया है कि वह देश को पथभ्रष्ट नहीं कर रहा है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नयी कविता के रूपाकार (फार्म) के विषय में उपर्युक्त विचारणा के पश्चात् अब मैं उसकी वस्तु का परीक्षण करूँगा। वस्तु-परीक्षण में मैं नये काव्य की सामाजिकता, दर्शन तथा उस रस का क्रम से विवेचन करने का प्रयत्न करूँगा। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि किसी अच्छे काव्य का अभ्यन्तर इन्हीं तीन तत्वों से निर्मित होना चाहिए। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर वह चिरस्थायी होता है तथा उसके लोक-मंगल की सर्वाधिक क्षमता होती है।

जिस काव्य में सामाजिक तत्त्व नहीं हैं, वह अन्य काव्य-तत्त्वों से युक्त होते हुए भी निरर्थक है। वह उस गान के समान है जो गायक के मन-प्राणों में पुलक भरने के लिए चाहे सक्षम हो, किन्तु सर्वसाधारण को उल्लास या भाव के एक भी कण का दान करने में सर्वथा असमर्थ है। यह तभी सम्भव है जब वह समाज को अधिक-से-अधिक प्रभावित करती हो, उसमें अधिक-से-अधिक उदात्त चेतना के भाव भरती हो। जब तक कलाकार या कवि अपने 'अहं' की व्याप्ति सम्पूर्ण राष्ट्र या समाज तक नहीं कर लेता तब तक उसकी कला व्यर्थ है, काव्य स्वार्थपूर्ण और अपने अहं की ही तुष्टि करने वाला है।

आज का प्रयोगवादी कवि अपनी भाषा, अलंकार तथा छन्दों के प्रयोगों में इतना व्यस्त है कि उसे अपने बाहर की दुनिया की कुछ भी परवाह नहीं है, वह प्रायः शरीर को ही आत्मा मान बैठा है। अतएव उसकी इस प्रकार की घोर वैयक्तिक तथा समाज-निरपेक्ष रचनाओं का भविष्य कितना उज्ज्वल है। अधिक सोचने-समझने की बात नहीं है। एक व्यक्ति-परक रचना की कुछ पंक्तियाँ देखिये। रचयिता हैं श्री अनन्तकुमार 'पाषाण'। कविता का शीर्षक है 'बम्बई का क्लर्क'।

"मेरे मन की अँधियारी कोठरी में
अतृप्त आकांक्षा की वेश्या बुरी तरह खाँस रही है
मैं गद्य की एकरस भन-भन से घबराता हूँ
ज़रा गीत गाकर देखूँ—
पास घर आये
तो दिन-भर का थका जिया मचल-मचल जाये।"

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि की मुमूर्षु वैयक्तिक अभिव्यक्ति न तो कवि को ही कोई लाभ पहुँचा सकती है और समाज-निरपेक्ष होने के कारण समाज के लिए उसकी उपयोगिता की बात सोचना ही व्यर्थ है।

तर्क किया जा सकता है कि छायावाद का सम्पूर्ण गीति-काव्य अधिकांश रूप में घोर व्यक्तिवादी होते हुए भी अधिक लोकप्रिय रहा है। उत्तर में कहा जा सकता है कि निस्सन्देह छायावादी कवियों ने अपने गीतों में मानस के अन्तर्द्वन्द्वों के चित्र दिये हैं, किन्तु उनके काव्य में एक बड़ा प्रबल सामाजिक तत्त्व संगीत का रहा है और इसी संगीत के आवेष्टन में कवि के अपने ही मानस-संवेदन समाज-संवेद्य हो गए हैं। उस काल का कवि अपनी बात कहता-कहता अपना नहीं रह गया है, वरन् सम्पूर्ण विश्व का हो गया है।

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे।
या फिर
साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या किसी की याद आई ऐ विरह-व्याकुल प्रवासी ॥
क्या किसी की याद आई ऐ विरह-व्याकुल प्रवासी ॥

ऐसी पंक्तियों में कवि की अपनी प्रिया से 'बिछुड़न' सम्पूर्ण प्रेमियों की अपनी प्रिया से 'बिछुड़न' बन गई है तथा उसकी उदासी संपूर्ण प्रवासियों की उदासी हो गई है। किन्तु छायावादी कवियों ने प्रायः अपने काव्य में उन्हीं भावों की अभिव्यक्ति की है जो सर्वकालीन हैं, नित्य सत्य हैं और इसी कारण वे सामाजिक हैं तथा प्रयोगवादी काव्य की वैयक्तिता से पृथक् हैं।

काव्य का दूसरा प्रभावशाली तत्त्व है उसकी दार्शनिक पीठिका। 'दर्शन' से मेरा तात्पर्य उस लोक-मंगलकारी चिन्तना से है जिसकी आधारशिला पर समग्र समाज की नींव रखी जाती है। आदिकाल से ही कवि ने सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक सुव्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का आश्रय लिया है। जितने भी महाकाव्यों की रचना हुई है, उनमें युगानुकूल दार्शनिक चिन्तनाओं को यथोचित स्थान मिला है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' रखा जा सकता है। गोस्वामीजी यद्यपि सिद्धान्त रूप से विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे, किन्तु उनके मानस में द्वैत, अद्वैत आदि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों का भी यथोचित निरूपण हुआ है। कवि की दृष्टि सामाजिक हित के लिए राजनीति, धर्म और दर्शन सभी की ओर रही है। तत्कालीन कवियों ने भी अपने काव्य में किसी-न-किसी दार्शनिक सिद्धान्त की नियोजना की है। उनके इस प्रकार के कर्तृत्व में निश्चय ही समाज के सर्वाङ्गीण हित की उदात्त विचारणा रही है। छायावादी युग के प्रमुख महाकाव्य 'कामायनी' में भी शैवाद्वैत दर्शन उपनिषदों के अद्वैत दर्शन के साथ-साथ 'प्रसाद' द्वारा निरूपित 'आनन्दवाद' सिद्धान्त का तो निरूपण मिलता ही है, साथ ही आज के बुद्धिवादी दर्शन के आधार पर चलने वाली समाज की दुर्दशा का भी पूर्ण रूप इड़ा सर्ग में प्राप्त होता है। छायावादी इतर कवि भी जीवन के प्रति आस्थावान हैं और इसी कारण उनके काव्य में समाज के संघर्ष में हारे-थके व्यक्तियों के लिए साहस की महती प्रेरणा मिलती है, परास्त जीवन के लिए आनन्द और उल्लास की सुदृढ़ व्यवस्था मिलती है, ऐसा इसलिए सम्भव हुआ है क्योंकि कवि समाज की इकाई के रूप में अपने उत्तरदायित्व को सँभालता आया है। उसे अपने और अपने काव्य के ऊपर पूर्ण आस्था है तथा उसे काव्य की क्षमता की भी पूर्ण पहचान है।

किन्तु आज के प्रयोगवादी कवि के समक्ष कोई भी दार्शनिक चिन्तना नहीं है। वह कोई भी ऐसी बात नहीं कहता जिसमें सामाजिक जीवन के लिए आनन्द, उल्लास तथा उत्साह का उत्स मिल सके। वैयक्तिक होने के कारण प्रथम तो उसका काव्य अपने ही रुदन, क्रन्दन तथा कुण्ठाओं तक सीमित है, किन्तु जो इतर काव्य भी है उसमें भी जीवन को खोखला चित्रित करने के प्रयत्न के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यह सही है कि जीवन में कुरूपता है, दुःख है, भय है, भ्रम और आशंका भी है; किन्तु यही तो समग्र जीवन की परिभाषा नहीं है और इन भावों के काव्य-चित्रों द्वारा तो समाज में भयंकर निराशा तथा अनास्था भर जायगी, जिससे सामाजिक जीवन दुर्वह हो जायगा। अतः आज के प्रयोगशील कवि को आस्थावान होना चाहिए, ताकि वह अपने काव्य द्वारा अपने 'स्व' और उससे ऊपर समाज तथा राष्ट्र का हित कर सके और इस आस्था के लिए उसे किसी-न-किसी सुव्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का आश्रय लेना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम तथा सबसे प्रमुख बात है प्रयोगवादी काव्य में रस-समस्या की। काव्यशास्त्र के अनुसार कोई भी रचना रसरहित होने पर काव्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं की जा सकती। काव्य-शास्त्रों में कविता का उद्भव हृदय तथा उसके ऊपर आत्मा द्वारा स्वीकार किया गया है। "न्यू बियरिंग इन इंगलिश पोइट्री' नामक पुस्तक के नवें पृष्ठ पर एफ० आर० लिविस वास्तविक (Genuine) कविता और पद्यबद्ध रचना के विषय में लिखता है—

"The difference between genuine poetry and the poetry of Dryden, Pope and all their schools, is briefly this : their poetry is conceived and composed in their wits, genuinive poetry is conceived and composed in the soul."

ड्रायडेन, पोप तथा उसके वर्ग के अन्य कवियों की कविताएँ तथा वास्तविक काव्य में संक्षेप में यह अन्तर है कि इनकी कविता मस्तिष्क (wit) में ही सोची तथा रची जाती है, जबकि वास्तविक काव्य आत्मप्रसूत। लीविस ने संक्षेप में काव्य की सुन्दर परिभाषा कर दी है। यह परिभाषा हमारे काव्य-शास्त्रियों की कविता सम्बन्धी विचारणाओं से पूर्णतया मिलती-जुलती है। प्रायः सभी देशों के काव्य-शास्त्रियों ने काव्य में किसी-न-किसी प्रकार रस की सत्ता स्वीकार की है। अपने काव्य में हृदय-अनुभूति को ही काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया है।

किन्तु आज के प्रयोगवादी काव्य को, जोकि शत-प्रतिशत मस्तिष्क की ही उपज है, किस रस के अन्तर्गत स्वीकार किया जाय? काव्य-शास्त्रियों द्वारा निर्धारित नवरसों की परीक्षा के अन्तर्गत यह काव्य तो समा नहीं पाता, क्योंकि सारे रसों की निष्पत्ति हृदय की अनुभूति तथा स्पन्दनों के आधार पर स्वीकार की गई है। बुद्धिपरक चिन्तना को उन्होंने काव्य नहीं माना। प्रयोगवादी कवि भी शास्त्र के अनुसार अपने काव्य को रस के ऊपर ही आधृत मानता है। किन्तु उसको यह भली भाँति ज्ञात है कि उसका काव्य नवरसान्तर्गत नहीं आता, इसलिए इधर कुछ दिनों से उसने एक नये रस की खोज कर डाली है। उसने इसे 'बुद्धिरस' की संज्ञा दी है। उसका यह कहना है कि काव्य में नवरसों की सृष्टि इसलिए हुई क्योंकि एक ही रस सम्पूर्ण भाव-व्यंजनाओं के प्रकाशन में असमर्थ था और इन नवरसों के पश्चात् वात्सल्य-भाव को प्रकट करने के लिए वात्सल्य-रस की कल्पना की गई। आज फिर आवश्यकता है कि इस नूतन प्रयोगवादी काव्य के लिए, जो हृदयपरक न होकर मस्तिष्कपरक है, 'बुद्धिरस' की सर्जना की जाय। किन्तु बुद्धि को रस मानने में सबसे बड़ा रोड़ा हमारा प्राचीन से लेकर आज तक का मनोविज्ञान है। बुद्धितत्त्व को सदा से ही विवेचना के क्षेत्र के अन्तर्गत माना गया है, अर्थात् जिस बात को पढ़कर या सुनकर मन आविष्ट होने के बावजूद सोचने के लिए विवश हो, बुद्धितत्त्व का विषय है, तथा जिसके पढ़ने या सुनने से हृदय विभोर होकर उसी में रम जाय, मस्तिष्क में 'तनाव' न उत्पन्न हो वह हृदय-तत्त्व से सम्बन्धित है और आज तक हृदय की इसी विभोरता तथा रमणीयता को लेकर रस की सत्ता स्वीकार की गई है। अतः समझ में नहीं आता कि 'बुद्धिरस' का स्वप्न देखने वाले कवि किस प्रकार रसों की पंक्ति में इस नूतन रस की प्रतिष्ठा कर सकेंगे; क्योंकि वैज्ञानिक प्रयोगों, राजनीति तथा गणित को लेकर मन के रमने में और एक 'काव्य-कृति' के अध्ययन द्वारा मन के रमने तथा आनन्द के आस्वाद में मौलिक अन्तर है। एक चिन्तनापरक है और उसका पश्चात प्रभावचिंतन के लिए ही विवश करता है दूसरा हृदयपरक है और वह मन को चिरकाल के लिए आविष्ट किये रहता है, आनन्द के कण बिखेरता रहता है। एक आनन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की खोज में है, दूसरा आनन्द का स्रोत है।

अन्त में मैं केवल इतना ही कहूँगा कि आज के प्रयोगशील कवि को अपने काव्य को लोकप्रिय तथा सामाजिक बनाने के लिए भाषा को सँवारना होगा, छन्द का आश्रय लेना होगा, हृदय की अनुभूति को प्राथमिकता देनी होगी, और अपने काव्य को स्थायित्व देने के लिए एक सुव्यवस्थित आस्थापूर्ण दार्शनिक पीठिका को भी स्थान देना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

रामविलास शर्मा

बूँद और समुद्र : आस्था की समस्या

'बूँद और समुद्र' अमृतलाल नागर का नया और महान् उपन्यास है—महान्, आकार की दृष्टि से और विषयवस्तु की दृष्टि से भी। अमृतलाल नागर ने लगभग बीस वर्ष पहले तस्लीम लखनवी के नाम से लखनऊ के बिगड़े नवाबों, उनके अर्ध-सर्वहारा मुसाहबों के चित्र खींचकर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। स्वर्गीय बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' के कविता-संग्रह 'चकल्लस' के नाम पर उन्होंने हास्यरस का अभूतपूर्व साप्ताहिक 'चकल्लस' निकाला था। उसमें 'नवाबी मसनद' नाम के स्तम्भ में धारावाहिक रूप से नवाब साहब और उनके आसपास के लोगों के सजीव रेखाचित्र निकलते रहते थे। इन रेखाचित्रों में नागर ने लखनऊ के चौक मुहल्ले अर्थात् पुराने लखनऊ के साधारण जनों की बोली-बानी का ऐसा सजीव और रोचक उपयोग किया था जैसा 'फ़सान-ए-आज़ाद' के अतिरिक्त हिन्दी-उर्दू में अन्यत्र दुर्लभ था। आगे चलकर उन्होंने आगरा के व्यापारियों की बोली को आधार बनाकर सेठ बाँकेमल का चित्रण किया और एक नष्ट होती हुई पीढ़ी और उसकी संस्कृति को अपने साहित्य से अमर कर दिया। उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें 'मरघट के कुत्ते' और 'गोरखधन्धा' विशेष उल्लेखनीय हैं। जीवन के सबसे निचले स्तर तक पैठने और अप्रत्याशित बीभत्सता का उद्घाटन करने में वह अद्वितीय हैं। साथ ही वह हास्यरस के जाने-माने लेखक हैं। हास्य के लिए वे आसपास के सामाजिक जीवन से आलम्बन ही नहीं चुनते, पौराणिक गाथाओं और भटियारिनों के किस्से-कहानियों का भी सहारा लेते हैं। आदमी हिम्मत के हैं; निर्भीकता से सामाजिक समस्याओं पर लिखते हैं। 'आदमी, नहीं ! नहीं !!', 'पाँचवा दस्ता' और 'गोलवलकर, ढोलवलकर, पोलवलकर' उनकी ऐसी ही सोद्देश्य रचनाएँ हैं। इस सबके साथ ही उन्हें पुरातत्त्व और प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास से भी बहुत दिलचस्पी है। लखनऊ के लक्ष्मण टीले की खुदाई कराने के लिए उन्होंने ज़मीन-आसमान एक कर दिया है। कला—विशेषकर चित्रकला—से उन्हें प्रेम है और उनके अनुज मदनलाल नागर हमारे प्रदेश के सुविख्यात चित्रकार हैं। 'निराला', 'प्रसाद', 'पन्त', शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, 'पढ़ीस' आदि ख्यातनामा साहित्यकारों के साथ रहकर उन्होंने सात्विक और नाना प्रकार के संस्कार अर्जित किये हैं। कुछ वर्ष तक रेडियो में काम किया है। रेडियो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए नाटक लिखे हैं। 'महाकाल' नाम से बंगाल के अकाल पर उपन्यास लिखा है। जन-नाट्य संघ के साथ लखनऊ में नाटकों का निर्देशन कर चुके हैं। बहुत से लेखों के साथ चेख़ोव, मोपासां, फ्लाबेयर आदि की रचनाओं के अनुवाद भी किये हैं। इन सबके अतिरिक्त उन्हीं के शब्दों में "१८ फिल्मों की मेहनत रेत पर खींची गई लकीरों की तरह मिट गई।" विचारधारा में वह गांधीवादी हैं अथवा यों कहें कि वह गांधीजी के भक्त हैं, लेकिन आदमी वह खास चौक लखनऊ के हैं। नागर की कला और व्यक्तित्व के ये सभी उपकरण 'बूँद और 'समुद्र' में एक साथ लहलहा उठे हैं।

लेखक ने कथा-क्षेत्र के लिए लखनऊ चुना है और उसमें भी विशेष रूप से चौक के गली-कूँचों को। कुछ समय के लिए वह मथुरा-वृन्दावन की सैर भी करता है। चौक के बाहर के स्थान गौण हैं; मुख्यतः चित्रण चौक का है। यह मुहल्ला एक बूँद की तरह है जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय जीवन के दर्शन होते हैं। शहर के विभिन्न स्तरों का जीवन कैसा है, इसका पता तो उपन्यास से लगता ही है; गांवों में भी जनता के संस्कार कैसे हैं, इसका परिचय बहुत-कुछ इस कथा से मिल जाता है। उपन्यास के नाम की यही सार्थकता है; एक मुहल्ले के चित्र में लेखक ने भारतीय समाज के बहुत से रूपों के दर्शन करा दिए हैं। वैसे तो भारतीय समाज हिन्दमहासागर है और उसका चित्रण करने के लिए यह समुद्र भी छोटा है।

'बूँद और समुद्र' पुरानी समाज-व्यवस्था के बनते-बिगड़ते और बदलते हुए भारतीय परिवार का महाकाव्य है। इस परिवार की धुरी है नारी। कितनी तरह की देवियाँ हैं इस उपन्यास में ? ताई, जिसे पति ने छोड़ दिया है, जादू-टोनों में विश्वास करने वाली, मुहल्ले-भर के लड़कों और बड़े-बूढ़ों के भी कौतुक का केन्द्र, कृष्ण की अनन्य भक्त, हिंसा और मानव-प्रेम (अथवा जीवमात्र से प्रेम) का अद्भुत सम्मिश्रण; नन्दो, जो घर में ही कुटनी का काम करती है; अतृप्त प्रेम से पीड़ित 'बड़ी'; नये फैशन और नई शिक्षा में दीक्षित पत्नियाँ; दमन की शिकार हिस्टीरिया से पीड़ित युवतियाँ; पुराने चाल की निष्ठावान किन्तु रूढ़िवादी कल्याणी; मुहल्ले की गन्दगी में सबेरे की हवा के झोंके जैसी स्वावलम्बिनी वनकन्या। कहीं लाले की घरवाली "एटम बम की तरह बीच चौक में फूटकर भभूती के घर को हिरोशिमा बना" देती है, कहीं नन्दो 'रणक्षेत्र में आकर गाण्डीव' टंकारती है। सिनेमा जाती हुई देवियाँ, किस का कोट किस फैशन का है, इस पर टीका-टिप्पणी करती हैं और "बेशुमार हतभागिनें किस सन् के चलन का कोट नहीं पहने थीं।" वनकन्या की मां और ताई में सौत का रिश्ता चलता है। उसकी भाभी 'पई' है, "प्रकृति का एक मज़ाक ! ऐसी औरत ज़ाहिर में औरत लगकर भी असल में बेमानी होती है।" कहीं गर्भवती विधवा शरीर में आग लगाकर जल मरती है। एक जगह युवती की लाश को कुत्ते घसीटते हुए दिखाई देते हैं। मन्दिर के अन्दर अच्छे-खासे मर्द देवियों का अभिनय करते हैं। इन सबकी बोली-बानी अलग, सबकी चरित्रगत शैली अलग। इनके साथ पुरुषों का वर्ग अपनी विशिष्ट मर्दानी संस्कृति के साथ चित्रित किया गया है। पीपल के नीचे का चबूतरा, हुक्के, नीम की दातुनें, अखबार, गजक और मूँगफली बेचने वाले, मक्खन की तारीफ, कोन पर पाँच-पाँच रुपये रख दो और भाग न दबे, कुल्फी की तारीफ़, गोल दरवाजे में खरीदो और रानी कटरे में जाकर खाओ और तारीफ ये कि ज़रा भी न गले; तीतरों को चुगाता हुआ परसोतम, सेक्रेटेरियट के बाबू गुलाबचन्द, लखनऊ की खास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गाली को उपनाम की तरह अपने वाक्यों में जड़ने वाले लाला मुकुन्दीमल, मुहल्ले से लेकर विश्व तक की समस्याओं पर वाद-विवाद, कथा बांचते हुए पण्डितजी, राजा, डॉक्टर, लेखक, चित्रकार, साधू, मुस्टंडे—उपन्यास में रेखाचित्रों की ऐसी समृद्धि है जैसी प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के दस उपन्यासों में न मिलेगी।

रेखाचित्रों की सजीवता अपने-आप एक बहुत बड़ा आकर्षण है। पुराने यूनानी विचारक कहते थे कि कला का धर्म जीवन का अनुकरण अथवा उसकी प्रतिच्छवि आंकना है। चित्रकला में पशु, मानव, वनस्पति या निर्जीव पदार्थों की सजीव छवि देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं। सजीव अनुकरण सरस होता ही है; फिर वस्तुओं के चयन में लेखक अपने उद्देश्य और रुचि का परिचय भी देता है। पात्रों की संख्या, उनकी विविधता, अनुकरण अथवा प्रतिच्छवि की सजीवता के विचार से अमृतलाल नागर हमें ऐसे जीते-जागते और कोलाहलमय संसार में ला खड़ा करते हैं जिसकी समृद्धि की तुलना बाल्जाक की रचनाओं से ही हो सकती है। लेखक के पास ऐयारी की ऐसी झोली है जिसमें पात्रों की सैकड़ों मूर्तियाँ भरी हुई हैं और वह सन्तुलन का भी विचार न करके उन्हें सानन्द एक के बाद एक निकालता चला जाता है, फिर भी झोली खाली नहीं होती। पात्र अकेले नहीं आते; वे अपने साथ अपना पूरा वातावरण लाते हैं—पुरानी हवेली, पीपल के नीचे का चबूतरा, नदी का किनारा, इत्यादि। अनेक स्थानों के वर्णन में कवि-सुलभ सरसता है। "कटी-फटी पतंगों, मकड़ी के जालों, घोंसलों, चिड़ियों, गिलहरियों और पीपली के दानों से लदा, अनगनित इंसानों के चंचल मन-समूह-सा हरहराता हुआ घना पीपल कई सदियों से मुहल्ले का साथी है। आज के बड़े-बूढ़ों के बचपन तक यह पेड़ गंगे भूरिये के झाड़ का पीपल कहलाता था। मगर वह दीवाल, जो किसी समय किसी गंगे भूरिये का वैभव थी, अब बाबू छेदालाल इंश्योरेंस-एजेण्ट की मिल्कियत है। म्युनिसिपैलिटी के रजिस्टर के अनुसार उस मकान का नम्बर इस समय ४२० है जो सही तौर पर बाबू छेदालाल की ख्याति में चार चांद लगाता है।" वातावरण के छोटे-बड़े तथ्य, जो मनुष्य की दुःखपूर्ण या मनोरंजक स्थिति की ओर संकेत करते हैं, लेखक की निगाह से बच नहीं पाते। वह वास्तव में शहर के गली-कूचों का कवि है।

वह इन गली-कूचों में बरसों रहा और घूमा है। उसने चारों ओर के जीवन को देखा ही नहीं, उसका रंग-बिरंगा कोलाहल सुना भी है। यहाँ एक शैली और एक व्याकरण का प्रयोग करने वाले पात्र नहीं हैं; प्रायः जितने पात्र हैं, उतनी तरह की शैलियाँ और उनके अपने-अपने व्याकरण हैं। लखनऊ में विभिन्न जनपदों से सिमटकर जनता एकत्र होती रही है। उसने अपनी बोली-बानी एक हद तक सुरक्षित रखी है, एक हद तक दूसरों की भाषा से, यहाँ तक कि अंग्रेजी से भी, प्रभावित भी हुई है। अमृतलाल नागर द्वारा किया हुआ एक मुहल्ले का यह 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाषा-विज्ञान की सामग्री का अद्भुत पिटारा है। अभी तक किसी भी देशी-विदेशी भाषा में एक नगर की इतनी बोली-ठोलियों का निदर्शन करने वाला उपन्यास मेरे देखने में नहीं आया। इन शैलियों में भाषाओं और समाज का इतिहास बोलता है। इसके अतिरिक्त कला की दृष्टि से व्यक्ति का चरित्र कम-से-कम पचास फीसदी उसकी शैली से प्रकट होता है। जहाँ तक हास्यरस का सम्बन्ध है—केवल शुद्ध हास्य नहीं, विनोद, मनोरंजन, वक्रोक्ति, व्यंग्य, सभी-कुछ—उसकी निष्पत्ति सौ फीसदी इस बोली-ठोली और शैली पर निर्भर है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी चाल की माताजी की आउत-जाउत मिश्रित खड़ी बोली—"जो जिसकी-जिसकी समझ में आउत है वही करत हैंगे। कल को हमरे शंकर एमे पास करके अपसर होयेंगे, उनकी बहुरिया पुरानी चाल से चलै तो किरकिरी न होय?" हाथरस की ताई की ब्रज का पुट लिये हुए खड़ी बोली—"निगोड़ी सबकी-सब मेरी छाती पे ही मूँग दलने आमें हैंगी। सात जलम की दुस्मन भरी, गली-गली घूमकर मेरे घर बच्चे पटकने आई रंडो। अरे तन-तन में कोड़े पड़ेंगे, सरदी की रात में दौड़ा मारा।" लखनऊ के पुलिसमैन की अंग्रेजी-अवधी मिश्रित हिन्दुस्तानी—"कोतवाली को वैरलेस कर दिया हुजूर! मिरजाजी अटेण्ड कर रहे थे हुजूर, तौन उन्होंने मिसेज दिया कि अस्पताल की गाड़ी भिजवाते हैं हुजूर।" जगह-जगह घूमे हुए अवध के साधु की हिन्दी—"पूर्व आश्रम में हम मोटर मिकैनिक रहे! अन्त में मालिक की चाकरी से छूटकर विंध्याचल में रम गए। त्रिकुटी में ध्यान साधा, निर्जल, निराहार रहे—जाने क्या-क्या अगट-सगट किया। वहाँ एक महात्मा के दर्शन हुए। तौन उन्होंने कहा कि ड्यूटी बजाना छोड़कर यहाँ का ढोंग करता है—जा सेवा कर। फिर हम क्या करते रामजी? जिसको गुरु माना उसकी आज्ञा भी तो माननी पड़ेगी। तो कहने का सारांश यह है कि अपनी ड्यूटी का पायबन्द हुए बिना कोई अपना स्वामी बन ही नहीं सकता।" कथा बाँचने वाले पण्डितजी की भाषा—"सूतजी बोलेम् कि हे जिजमान सुनौ, एक समय जो है सो नारदजी बैकुण्ठ लोक के बीच में लछमीपति बिस्नू भगवान् के पास जाय के कहत भएम् कि···।" इस तरह की दो-चार नहीं बीसों भाषा-शैलियाँ हैं जिनके अत्यन्त रोचक उदाहरण 'बूँद और समुद्र' में मिलेंगे। सरसता की कितनी सामग्री हमारे चारों ओर बिखरी पड़ी है और भाषा-शैली की इस विविधता से जनसाधारण भी अपना मनोरंजन करते हैं। अमृतलाल नागर के हास्यरस का दृढ़ आधार यही यथार्थ जीवन है। उनके मनोरंजक संवाद हास्य की सृष्टि करने के अतिरिक्त चित्रण की सजीवता की छाप मन पर छोड़ते हैं।

यह समझना कठिन नहीं है कि इस उपन्यास में लेखक के वर्षों के सामाजिक अनुभव का संग्रह है। इस तरह के संग्रह-मात्र के लिए ही सुदीर्घ साधना और परिश्रम अपेक्षित हैं। कला-प्रेमियों के अलावा भाषा-विज्ञान और समाज-शास्त्र के पण्डितों के लिए भी यहाँ दुर्लभ सामग्री एकत्र की गई है। उपन्यास में स्त्रियों के जो गीत दिये गए हैं, वे अपने में अलग सांस्कृतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण निधि हैं। "कलजुग तो आया बड़ी धूम से, बहुएँ हो गईं ददिया सास", "राजा तुम गए कॉलेज पढ़ने मेरी उमर गुजर गई पीहर में", "जब से चला है किलिप लगाना, कदर बेंदी की गई मेरी जान" आदि खड़ी बोली के गीत नारी-समाज की वह झाँकी देते हैं जो अधिकांश उपन्यासकारों के कल्पना-रंजित चित्रों से बिलकुल भिन्न है।

उपन्यास की धुरी हैं ताई। लखनऊ की एक रईस की छोड़ी हुई पहली पत्नी हैं। जीवन की परिस्थितियों ने उनके मन में विचित्र ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर दी हैं। अब वह जादू-टोने से मानव-मात्र का संहार करने पर तुली हुई-सी दीखती हैं। भारतीय समाज का सारा अन्धविश्वास और मनुष्य से घृणा करने वालों की सारी हिंसा मानो सिमटकर ताई में केन्द्रित हो गई है। बच्चे, बूढ़े, जवान, सब उन्हें चिढ़ाते हैं और अब ताई के पास आशीर्वाद का एक शब्द भी नहीं रह गया, वह केवल कोसना जानती हैं। भारतीय समाज में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त आदि की चर्चा के साथ पलंग की पाटी में सेन्दुर मलने, तकिये में काला डोरा पिरोकर सुई खोंसने, आटे के पुतले बनाकर मारणमन्त्र चलाने आदि की जो क्रियाएँ होती रही हैं, उनकी सूत्रधार ताई हैं। उनकी हिंसा इतनी तीव्र है कि पति के अपराध के लिए वह जादू द्वारा उसके नाती के प्राण लेने का प्रयत्न करती हैं।

ताई के घर में एक दिन बिल्लियों का युद्ध होता है। लालटेन जलाकर देखती हैं कि बिल्ली का एक बच्चा पड़ा हुआ है, जिसका सिर ग़ायब है। वह सिरकटी लाश पड़ोस में गर्भवती तारा के दरवाजे पर रख आती हैं, इन शब्दों के साथ—"राँड बहुत पेट लिये घूमती है। ऐसे ही कटकर गिर पड़ेगा।" हिंसा की मूर्ति ताई बिल्ली के शेष तीन बच्चों को आँचल में डालकर बाहर फेंकने जाती हैं। "ठण्ड से सिकुड़े बन्द आँखों वाले तीन बच्चे आँचल में गठरी-सो बनकर उनके पेट से लग गए।" ताई को सहसा अपनी बिटिया की याद आई और वह वापस लौट आईं। उस दिन से ताई के परिवार में वे बच्चे भी शामिल हो गए, अथवा यों कहें, उस दिन से ताई ने नये सिरे से पारिवारिक जीवन बिताना शुरू किया।

हिंसा और अन्धविश्वास की पुतली ताई में भी जैसे प्रेम का बीज मिटने से रह गया था। मानवेतर जीव के संस्पर्श से वह बीज सहसा अंकुरित हो उठा। इस बीज को मिटाने में रईस पति और ताई के मुहल्ले वालों ने कुछ उठा न रखा था। मनुष्य ने उसे मिटाया; पशु-जीवन ने उसे फिर अंकुरित कर दिया। इसका श्रेय पशु-जीवन से अधिक ताई को है जो अपने अन्तस्तल में कहीं अब तक वह प्रेम का बीज छिपाये हुए थीं।

एक भारतीय लेखक के लिए ताई में यह परिवर्तन देखना बहुत स्वाभाविक है। जिस देश के आदि कवि ने एक पक्षी के क्रन्दन से द्रवित होकर एक नया छन्द ही रच डाला था, उसके आधुनिक लेखक के मन पर अब भी वैसे संस्कार बने हों तो आश्चर्य क्या? तब क्या वर्तमान युग में भारतीय लेखक के लिए आस्था का प्रश्न ऐसा कुछ उलझा हुआ है कि उसे हल करना बहुत ही कठिन हो गया है?

ताई को बिल्ली के बच्चे बहुत परेशान करते हैं, लेकिन ताई उनका मोह छोड़ नहीं सकतीं। एक बच्चे की आँखों में देखते हुए उन्हें लगता है कि भीतर से बालमुकुन्द झाँक रहे हैं। जब ताई में यह परिवर्तन होता है, तभी कुछ लोग आकर उनके मुँह में कपड़ा ठूँस देते हैं, बिल्ली के बच्चों को उठाकर फेंक देते हैं, ताई के मुँह पर काजल और सिन्दूर पोत देते हैं और रुपये लेकर चल देते हैं। कलाकार सज्जन जब उन्हें देखता है तो उसे वह उचित ही "आदिम समाज की पुरोहितानी" जैसी लगती हैं। ताई के बन्धन खुलते ही वह सबसे पहले बिल्ली के बच्चों के लिए दूध मँगवाती हैं। कलाकार "सज्जन सोचने लगा, पत्थर भी पिघलना जानता है।" बिल्ली के बच्चों के बाद ताई को सज्जन से स्नेह है। 'कन्नोमल के पोते' कहकर वह बड़े प्यार से उसे बुलाती हैं। लेकिन कलाकार सज्जन ऐसा उच्चकोटि का बुद्धिजीवी है कि पत्थर को पिघलता देखकर भी वह आस्था के प्रश्न से उलझा रहता है।

कलाकार की कोठरी पर मुहल्ले के लोग हमला करते हैं। मुहल्ले में कवि विरहेश और 'बड़ी' के प्रेमकाण्ड के पकड़े जाने पर रूढ़िवादियों ने क्रोध उतारा सज्जन की कला पर। "उत्तेजित भीड़ ने कमरे का ताला तोड़ डाला। सज्जन की बनाई तस्वीरें छिन्दी-चिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर डालीं। रंगों के ट्यूब्स फेंके, जूते के नीचे दबाकर फ़र्श पर मसल दिए।... स्टोव का तेल गद्दे और तकियों पर छिड़का। उनमें दियासलाई लगाई गई। सारा कमरा टूटे काँच, टूटे प्याले, फटी तस्वीरों और चादर की चिन्दियों से भर गया।" अहिंसावादी समाज का रूढ़िवाद कितना बर्बर हो सकता है, उसका यह निदर्शन है। इन रूढ़िवादियों ने बड़ी को निर्ममता से पिटते देखा था; पीटने वालों के प्रति उनकी सक्रिय सहानुभूति थी। वहीं लोग चरित्र और संस्कृति की रक्षा के लिए सज्जन के चित्रों का नाश कर देते हैं। अवश्य ही वे बड़ी के वेश्यागामी पति से कुछ नहीं कहते। इस तरह के फासिस्ट आक्रमणों के वर्णन हमने विदेशी उपन्यासों में पढ़े हैं। भारतीय रूढ़िवाद के आधार पर यहाँ भी कला और कलाकारों पर फासिस्ट आक्रमण हो सकते हैं, इस उपन्यास से यह चेतावनी मिलती है। एक तरह की हिंसा यह है; दूसरी तरह की हिंसा उपन्यासकार महिपाल की है। असहाय स्त्री को पिटते देखकर उसे क्रोध आ जाता है। वह बचाने जाता है तो वेश्यागामी पति उसे भी अपनी पत्नी का यार कहकर व्यंग्य करता है। इस पर "महिपाल का वो कड़ाकेदार हाथ पड़ा कि गाल और कनपटी सुन्न हो गई।" इन दोनों तरह की हिंसा में कौनसी उचित है और कौनसी अनुचित, या दोनों ही उचित अथवा अनुचित हैं? साधारण पाठक की सहानुभूति महिपाल के प्रति होगी और निर्दय पति को दण्ड मिलता देखकर उसकी न्याय की आकांक्षा तृप्त होगी। हिंसा और अहिंसा के सैद्धान्तिक संघर्ष की वास्तविकता क्या है, इसका उत्तर उपर्युक्त घटना से मिलता है।

सज्जन की कोठरी पर आक्रमण होने के बाद कला की रक्षा करने के लिए सबसे पहले ताई आगे आती हैं। वह मन्त्र पढ़कर सब पर सिन्दूर फेंकना शुरू करती हैं। "थोड़ी देर में ताई कायर भीड़ पर विजयिनी हुईं।" चरित्र और संस्कृति की रक्षा के नाम पर चित्रों में आग लगाने वाली भीड़ कायर ही होगी। इन कायरों से कला की रक्षा कौन करेगा? "उस दिन ताई बड़ी रात तक लालटेन के उजाले में सज्जन—कन्नोमल के पोते—की तस्वीरों के टुकड़े बटोर-बटोरकर सहेजती रहीं।" कलाकार किसमें आस्था रखे, इस प्रश्न का उत्तर फिर यहाँ मिलता है।

सज्जन के आक्रमण से गर्भवती तारा अस्वस्थ हो जाती है। रात में मुहल्ले वालों की सहानुभूति खोया हुआ उसका पति ताई को अँधेरे में प्रेत समझकर बेहोश हो जाता है। ताई अपनी हिंसा भूलकर तारा को प्रजनन कराने में लग जाती हैं। यह उपन्यास का सबसे मार्मिक चित्र है। टॉल्स्टाय ने 'अन्ना करेनिना' में उस उद्विग्न पति का चित्र खींचा है जो शीघ्र ही पिता बनने वाला है। यहाँ सारी उद्विग्नता ताई में केन्द्रित है, जिसके माँ बनने का अब कोई भी अवसर नहीं है। "ज़रा-सी हींग देखकर ताई और झुँझलाईं; आप सौरी में थी, इसलिए वर्मा को ही अपने घर के मसालेदान का पता बतलाया; अपने ठाकुरजी की कोठरी में टाँड पर रखे हुए कुल्हड़-सकोरों का पता बतलाया; मुट्ठी-भर हींग और एक सकोरा लाने की आज्ञा दी। ताई ने बच्चे की नाल गाड़ी और पलंग के निकट आकर बच्चे को झुककर भर नज़र देखती रहीं।" यह चित्र आँककर अमृतलाल नागर ने हिन्दी-उपन्यास को उच्चतम स्तर तक उठाया है। जिसे ताई की इस निगाह में आस्था न दिखे, उसे जन्मान्ध ही कहना चाहिए।

पुरुष पात्रों में सज्जन और महिपाल दोनों कलाकार हैं। एक चित्रकार है और दूसरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यासकार है। दोनों रईस घरानों के हैं। अन्तर केवल इतना है कि सज्जन की सम्पत्ति बची हुई है और महिपाल अपने वर्ग से अलग होकर एक हद तक मध्यवर्ग का सदस्य बन गया है। सज्जन की अपनी कोठी है; मुहल्ला-जीवन का अध्ययन करने के लिए वह ताई के पड़ोस में कोठरी लेकर रहता है। लेखक ने दोनों का ही चित्रण बड़ी बारीकी से किया है। बुद्धिजीवियों और मध्यवर्ग के शिक्षित जनों की अधिकांश समस्याएँ दोनों को परेशान करती हैं। दोनों में बहुत-ही समानताएँ भी हैं। दोनों कलाकार होने के अलावा सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की समस्याओं से बहुत दिलचस्पी रखते हैं। दोनों का ही घरेलू जीवन अनियमित-सा है। शराब का चस्का दोनों को है। महिपाल विवाहित है; ठेठ अवधी बोलने वाली उसकी पत्नी कल्याणी निष्ठा की मूर्ति, पतिव्रता देवी है, किन्तु अपने कलाकार पति का मूल्य बिलकुल नहीं पहचानती। उसके संस्कार बहुत ही रूढ़िवादी हैं और ब्राह्मणों में ऊँच-नीच का भेद-भाव, कुलीनता-अकुलीनता के विचार उसके संस्कारों की आधारशिला हैं, जिनसे टकराकर उपन्यासकार के सारे प्रगतिशील विचार वापस चले आते हैं। महिपाल का स्वभाव बहुत ही उग्र है। धीरता, दृढ़ इच्छाशक्ति, सहनशीलता आदि गुणों का उसमें अभाव है। यद्यपि वह बातें समाजवाद की करता है, फिर भी उसके संस्कार अराजकवादी के हैं। वह अपनी पत्नी के रूढ़िवाद से परेशान है, लेकिन 'इज्जत का सवाल' जितना उसे परेशान करता है, उतना कल्याणी को नहीं। कल्याणी ने अपने भाई से कुछ रुपये मँगाये थे। महिपाल के अन्दर का बर्बर रूढ़िवादी तुरत जाग उठता है। **"हरामज़ादी, तूने मेरी इज़्ज़त ख़ाक में मिला दी।"** यह कलाकार की भाषा थी जो वह अपने उपन्यासों में न लिखता था, लेकिन खानदानी इज़्ज़त की रक्षा के लिए उसका उपयोग करने में न हिचकता था। इतना ही नहीं, 'बड़ी' के वेश्यागामी पति की तरह वह भी लात-घूँसों और थप्पड़ों के प्रयोग से बाज़ नहीं आता। कमरे के अन्दर यह काण्ड होता है; बाहर उसकी लड़की खड़ी-खड़ी सब सुनती है, **"दबी चीखें, साँसें घसीट-घसीटकर रोना, पिता की अस्पष्ट गालियाँ, घुड़कियाँ, धक्का-मुक्की, पटकनों, घूँसों के धमाके।"** लड़की के दरवाजा पीटने पर वह बाहर आता है और पत्नी के पैर छूकर और सबसे क्षमा माँगकर बाहर चला जाता है। आस्था की समस्या महिपाल के लिए उठ खड़ी होती है। **"अपनी पत्नी को मारकर महिपाल आस्थाविहीन हो गया है।"** बिगड़े रईस महिपाल ने समाजवाद का चोगा ओढ़ रखा था; इज्जत का सवाल आने पर वह एक ही झटके में नीचे गिर पड़ता है। सज्जन से उसे ईर्ष्या भी होती है। अपने मित्र के विरुद्ध वह प्रचार करता है कि सज्जन छिपे-छिपे कम्युनिज़्म फैला रहा है। महिपाल की डींग सुनकर उसका एक पूँजीपति मित्र यह रहस्य प्रकट कर देता है कि ननिहाल में डाका पड़ने पर महिपाल ने बहुत से गहने चुरा लिये थे और कह दिया था कि उन्हें डाकू ले गए। चोरी पकड़े जाने पर आत्म-हत्या के सिवा उसे कोई मार्ग नहीं सूझता। एक पत्र में अपना कच्चा चिट्ठा लिखकर संसार से विदा हो जाता है। महिपाल की आत्म-हत्या यह दिखलाती है कि उसके आगे कोई रास्ता नहीं रह गया था। समाजवाद से उसे बौद्धिक सहानुभूति है; अपने जीवन में वह असन्तुलित अराजकवादी है। वह अच्छा पिता और पति नहीं बन पाता। डॉ० शीला से उसे प्रेम है और शीला को छोड़ने के बाद वह भीतर से टूट जाता है। किन्तु उसकी ट्रैजेडी घरेलू जीवन तक सीमित नहीं है। शिवभक्त महिपाल समाज को बदलने का कोई रास्ता नहीं देखता। उसकी कहानी उस बुद्धिजीवी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कहानी है जो समाज-व्यवस्था से असन्तुष्ट तो है, लेकिन उसके बदलने के लिए जन-शक्ति को संगठित करने का धैर्य और दृढ़ मनोबल जिसमें नहीं है।

दूसरी ओर चित्रकार सज्जन है। रूढ़ियों के विरुद्ध है, लेकिन वृन्दावन में जाकर रहस्यवादी बन जाता है। टेलीपैथी आदि चमत्कारों में उसे विश्वास है। वृन्दावन में वनकन्या के प्रति प्रेम विज्ञापित करने के बाद लखनऊ आते ही अपनी प्रेमिका चित्रा राजदान के साथ सरस समय बिताता है। रईसी ठाठ में नौकरों पर हाथ भी चला देता है, उन्हें बर्खास्त कर देता है। वनकन्या से विवाह होने पर जहाँ कोठी में उसके साले साहब आते हैं, उस पर इज्जत का भूत सवार होता है और उसे सबसे पहले यह भय होता है कि नौकरों ने देख लिया तो क्या कहेंगे। ईर्ष्या का शिकार वह भी है, लेकिन साधु की कृपा से उसकी मति बदल जाती है और वह सम्पत्ति-दान करने के लिए तैयार हो जाता है। महिपाल और सज्जन में महिपाल अधिक सजीव है। उसका मानसिक द्वन्द्व ज़्यादा तीखा और नाटकीय है। अपनी कमज़ोरियों के बावजूद वह पाठक की करुणा अपनी ओर खींचता है। सज्जन की कठिनाइयाँ उसकी अपनी गढ़ी हुई हैं; वह परिस्थितियों से महिपाल की तरह नहीं जूझता। उसका चित्रकार भी बहुत कमज़ोर है। चित्रकार से अधिक वह मुहल्ले के जीवन का अध्ययन करने वाला समाज-शास्त्री है और यहाँ उसका व्यक्तित्व उपन्यासकार महिपाल की ही प्रतिच्छवि है। उसके सम्पत्ति-दान में ऐसी गरिमा नहीं है जो पाठक को आन्दोलित करे। 'प्रेमाश्रम' और 'जहाज़ का पंछी' के काल्पनिक समाधान की छाप उपन्यास को कमज़ोर बनाती है।

पुरुष पात्रों में ताई से मिलते-जुलते पात्र हैं कर्नल और रामजी साधू। कर्नल उच्च मध्यवर्ग के दूकानदार हैं। अपने मित्रों में नगीनचन्द जैन कर्नल नाम से विख्यात हैं। बुद्धि-जीवियों की समस्याएँ उनकी समझ में नहीं आतीं लेकिन जहाँ भी मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है, नगीनचन्द उसकी सहायता को तुरन्त पहुँच जाते हैं। वनकन्या को अपने अत्याचारी कुटुम्बियों के यहाँ जब आश्रय नहीं मिलता, तब नगीनचन्द उन्हें अपने यहाँ बहन की तरह रखते हैं। इस मानव-प्रेम के कारण उन्हें रूढ़िवादियों का कोपभाजन बनना पड़ता है लेकिन वह चतुराई और दृढ़ता से उनका सामना करते हैं। कलाकार सज्जन को जब उसके वर्ग के रईस अपनी उँगलियों पर नचाते हैं तब नगीनचन्द कलाकार की ईमानदारी के लिए लड़ते हैं। कलाकार सज्जन के लिए एक बार वह अपने सच्चे उद्गार प्रकट करते हुए कहते हैं—"क्या बताऊँ ये सज्जन ससरा इस वक्त ऐसी लेंडी निकला कि।" सज्जन वास्तव में कायर है; वीर कर्मठ पुरुष हैं नगीनचन्द। रूढ़िवादियों और राजनीतिक दलों से असन्तुष्ट होकर वह कहते हैं—"इनकी हर **चाल पलटकर इस बार अपनी अलग पार्टी—इंसानी दल कायम न किया तो कुछ काम न किया। अब हम एक नहीं सब पॉलिटिकल पार्टियों को चुनौती देकर कसौटी पर कसेंगे। हम जनता में रहेंगे। जनता के अधिकारों के साथ रहेंगे। अब चाहे सरकार हो, ये बड़े-बड़े कैपिटलिस्ट हों या पॉलिटिकल पार्टियाँ हों—हम सबसे अपने अधिकारों के लिए सावधान रहेंगे।**" यह उस नागरिक की आवाज़ है जिसे जनता से प्रेम है, जिसके हृदय का निःस्वार्थ प्रेम उसके आये दिन के कार्यों से प्रकट होता रहता है, जो बाधाओं और कुण्ठाओं से त्रस्त होकर मानसिक उधेड़-बुन का स्वाँग रचकर 'हाय आस्था, हाय आस्था' कहकर नहीं चिल्लाता। नगीनचन्द का चरित्र यह दिखलाता है कि पुरानी व्यवस्था को बदलने और रूढ़िवाद को निर्मूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने के लिए जिस निष्ठा और धैर्य की आवश्यकता है, वह समाज में विद्यमान है।

नगीनचन्द से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व रामजी बाबा का है। पुराने सन्तों की परम्परा के वह साकार जीवित रूप हैं। उपन्यास के अनेक पात्रों की तरह लेखक ने उन्हें यथार्थ जगत् से ही लिया है। सज्जन और महिपाल की तरह जमीन-आसमान के कुलावे न मिलाकर वह सेवा को कर्तव्य मानकर समाज के बहिष्कृत पागलों की सेवा करते हैं। उनकी सेवा-भावना के आगे बुद्धिजीवियों की कुण्ठाग्रस्त शंकाएँ सूखे पत्तों की तरह उड़ जाती हैं। उनकी तुलना में सज्जन को अपनी कमजोरी का पता चलता है—"**वह सेवा के आदर्श को इत्र की तरह सूँघ कर आनन्दित भले ही हो ले……।**" वास्तविक सेवा से वह बहुत दूर है। जब महिपाल कहता है कि आज का मनुष्य जंगली हो गया है, तब रामजी साधु कहते हैं—"**मनुष्य इस समय अपने मन के महल की सफाई कर रहा है। जब पूरी हुइ जायगी तब देखियेगा।**" महिपाल केवल उपन्यासकार हैं; अस्सी साल के नौजवान रामजी बाबा सेवा-कार्य में युवकों को मात करते हैं। मनुष्य के भविष्य में उनकी यह सहज अडिग आस्था उनके कर्मठ जीवन से उत्पन्न होती है। उसका आधार हवाई उधेड़-बुन नहीं है। वास्तव में साधु शब्द के प्रचलित अर्थ में वह संसार-त्यागी महात्मा हैं ही नहीं। वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उन भक्तों में से हैं जो इस गोचर जगत् में ब्रह्म के दर्शन करके मनुष्य की सेवा करते हैं। विज्ञान ने इतनी प्रगति की है; क्या उससे मानवता का नाश न हो जायगा? बाबा रामजी की आस्था डिगने के बदले वैज्ञानिक प्रगति से और दृढ़ होती है। कहते हैं—"**विज्ञान के जो अनुपम रत्न निकल रहे हैं, मानवतावाद का व्यापक प्रचार हुइ के चेतना का जो अमृत निकलेगा वह समस्त लोक को मिलेगा और जौन ये स्वार्थपरता, अनाचार का कालकूट निकल रहा है तौन नीलकंठ परम सेवक हैं वो अपनी ड्यूटी बजाने से कभी नहीं चूकते।**" इस दृढ़ आस्था के सामने कुण्ठा की पीड़ा से कराहने वालों को शर्म आनी चाहिए।

वनकन्या अपने चारों ओर के वातावरण से तिलमिला उठती है, लेकिन महिपाल की तरह वह घुटने नहीं टेकती। सभी परिस्थितियों में धैर्य से काम लेते हुए वह रूढ़िवाद से टक्कर लेती है और साथ ही अपने प्रेमी कलाकार सज्जन के ढुलमुल मन को भी संभालती है। नारी और विवाह के सम्बन्ध में सज्जन के विचार 'चक्का क्लब' और 'मनुष्य के रूप' के लेखक से मिलते-जुलते हैं। वनकन्या सिद्ध कर देती है कि स्वच्छन्द प्रेम के ये विचार क्रान्तिकारी न होकर वास्तव में अभिजात-वर्ग के संस्कार हैं। अनैतिकता के वातावरण में दृढ़ इच्छा-शक्ति वाली सच्चरित्र वनकन्या पाठक की आस्था को दृढ़ करती है।

आस्था के इतने प्रतीकों के होते हुए भी उपन्यास के अन्त में सज्जन को लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। महिपाल की आत्महत्या के बाद उसे विशेष रूप से आस्था का प्रश्न क्षुब्ध करता है। वह अपने लिए ठीक सोचता है कि महिपाल की-सी परिस्थितियों में यदि उसका जीवन बीता होता तो शायद उसका भी अन्त यों ही हुआ होता। आखिर वह महिपाल के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू ही तो है। वह आत्महत्या से कैसे बचता? लेकिन अपने विनाश की सम्भावना में उसे देश मिटता दिखाई दे रहा है। वह देश के बारे में सोचता है—"**जिस देश में कर्मयोग का सिद्धान्त है, वेद, उपनिषद्, साहित्य, शास्त्र हैं, व्यास, वाल्मीकि जैसे युग-प्रवर्तक महर्षि हैं, इतना रसज्ञान है, अजन्ता, एलूर, कोणार्क, दक्षिण भारत—सारे**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में व्याप्त अनुपम शिल्प है, सुनीतियाँ हैं; जिस देश का इतिहास इतना महिमामय है, वह देश जड़ता और गन्दगी में रहना पसन्द करते हुए आज की भयंकर अगति के रूप में आत्महत्या क्यों कर रहा है ?"

सज्जन ने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास में जो कुछ देखा, वह सब सत्य है। लेकिन सत्य उतना ही नहीं है। भारतीय जनता का इतिहास उसके संघर्षों का इतिहास भी है। उसकी संस्कृति जनता के इस संघर्षमय इतिहास से दूर रखकर नहीं समझी जा सकती। सज्जन न तो पुराने इतिहास में और न वर्तमान काल में जनता को कहीं संघर्ष करते देखता है। स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए जनता ने जो संघर्ष किया, उसकी छाप भी कहीं उसके मन पर पड़ती नहीं दिखाई देती। अपने चारों ओर आस्थावान पात्रों के होते हुए भी उसे लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। इसका एक कारण यह है कि निष्ठावान पात्र अपने व्यक्तिगत जीवन में तो महान् हैं, किन्तु लोक-कल्याण के लिए उनमें सामूहिक प्रयत्न का अभाव है। स्वयं सज्जन ने सम्पत्ति-दान किया है और अपने ढंग से समाज-सेवा की ओर बढ़ भी रहा है। स्पष्ट है कि इस सबसे उसे सन्तोष नहीं है। कुछ धनी व्यक्तियों का सम्पत्ति-दान समाज की मूल समस्या हल नहीं कर सकता। आस्थावान पात्र सामूहिक प्रयत्न से दूर हैं, इसलिए उनकी आस्था भी अधूरी है। स्वयं सज्जन व्यक्तिगत श्रम से भी दूर है, इसलिए वास्तव में वह महिपाल से भी अधिक आस्थाहीन है।

उपन्यास की भूमिका में लेखक ने "देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण-दोष भरा चित्र" खींचने की बात कही है। उपन्यास में मध्यवर्गीय नागरिक भी हैं। फिर भी उपन्यास के मुख्य पात्र सज्जन, महिपाल, वनकन्या, ताई, कर्नल और शीला हैं। रामजी बाबा सज्जन से पूछते हैं कि वह कितना दान कर सकता है ? सज्जन उत्तर देता है—तीन लाख। वह लखपती का बेटा ही नहीं, स्वयं भी लखपती है। भारत के मध्यवर्ग में तीन-तीन लाख की सम्पत्ति का दान देने लायक सदस्य हो जायँ तो कहना ही क्या ? ताई राधाकृष्ण का विवाह करती है। "जिन्हें सुबह-शाम छेड़कर बच्चे, बूढ़े, जवान सभी सुख पाते हैं, वह ताई पचास हजार की संपत्ति लुटाकर उत्सव मना रही हैं।" महिपाल की प्रेमिका "शीला के पास लाख-डेढ़ लाख रुपया है।" लाला नगीनचन्द उर्फ कर्नल "लखनऊ की एक पुरानी और प्रसिद्ध अंग्रेजी दवाओं की दुकान के मालिक हैं। सामाजिक कामों के लिए जी खोलकर चन्दा देने वालों में उनका नाम शहर के गिने-चुने लोगों के साथ लिया जाता है।" रह गए महिपाल और वनकन्या। वे परिस्थितियों से जूझते हैं, लेकिन हैं वे भी रईस घराने के। महिपाल ननिहाल में पला था और "उसकी ननिहाल का घराना ताल्लुकेदारों का था।" वहाँ डाका पड़ा तो महिपाल के अनुसार "डेढ़ लाख रुपये की ज्वेलरी गई।" आगे यह रहस्य खुलता है कि चोरी का जेवर डाकू को मारकर महिपाल ने स्वयं हड़प लिया था। सेठ रूपरतन कहते हैं कि उन्होंने गहने बिकवाने के नाम पर महिपाल के लिए चालीस हजार की रकम खड़ी कर दी। महिपाल उपन्यासकार है और अपनी पत्नी से उसे सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह उसके कलाकार का महत्त्व नहीं समझती। लेकिन "महीनों हो गए, उसने एक अक्षर नहीं लिखा, केवल अपने घर में, अपने चारों ओर हर तरफ लक्ष्मी का आडम्बर सजाने में ही उसके दिन अधिकतर चले जाते हैं।" वह अपने मन में थका हुआ अनुभव करता है और "उस थकान में उसे बैंक में जमा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने अड़तीस हजार रुपये याद आए।" "वह किसी हद तक विलासिता का शिकार है।" वह अपने अन्तिम पत्र में लिखता है, "ताल्लुकेदारी वातावरण में पलकर मेरे संस्कार भी राजसी हो गए थे।" पैसा मिलते ही उसके राजसी संस्कार लहलहा उठते हैं। एक दिन की बात है—"महिपाल आज पूर्ण रियासती भाव में था—बढ़िया चप्पल, उम्दा चुन्नटदार धोती, रेशमी कुर्ता, रेशमी जवाहर जैकेट, फाबरल्यूबा की घड़ी, शेफर्स की सुनहली कलम, हाथ में पुखराज की अँगूठी।" परिस्थितियों से जूझने के बावजूद महिपाल मध्यवर्ग का प्रतिनिधि नागरिक नहीं माना जा सकता। वनकन्या भी एक तबाह रईस घराने की लड़की है। "रईस मेरे बाबा-परबाबा भी थे।" कन्या कहती है—"उनके किस्से मैंने भी सुने हैं। यह बात दूसरी है कि अपने होश से ही मैंने अपने मायके में फिजूलखर्ची और कंगाली ही बराबर बढ़ती देखी।" रईस या बिगड़े हुए रईस—उपन्यास के प्रमुख पात्र इस तरह के हैं। इस तरह के लोगों का अपने वर्ग-संस्कार छोड़ना और श्रमिक जनता के दुःख-सुख में घुल-मिल जाना एक कठिन प्रक्रिया है। यदि वे सामूहिक प्रयत्न द्वारा समाज-व्यवस्था को बदलने का रास्ता नहीं देख पाते तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सज्जन को किसी भी राजनीतिक पार्टी में आस्था नहीं है। "सब अधिकांश में एक-से-एक बढ़कर बेईमान, क्षुद्र आकांक्षाओं वाले, जालसाज़, दम्भी और मग़रूरों द्वारा अनुशासित हैं; आदर्श और सिद्धान्त तो महज़ शिकार खेलने के लिए आड़ की टट्टियाँ हैं। इनकी आपसी संघर्ष अधिकतर व्यक्तिगत है।" यदि सज्जन राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लेकर इस परिणाम पर पहुँचता, यदि उपन्यासकार विभिन्न पार्टियों की राजनीतिक कार्यवाही का सजीव चित्र देकर ऊपर की स्थापना हमारे सामने लाता तो वास्तव में चिन्ता की बात होती और पाठक उस तक आते-आते तिलमिला उठता। लेकिन उपन्यास में क्षीण मनोबल वाले बिगड़े रईस या सम्पत्ति-दान से भारत का उद्धार करने वाले कलाकार ऐसी बातें करें तो इसे उन्हीं का वर्गगत दम्भ समझना चाहिए। जालसाजी जैसी चीज महिपाल के चरित्र में है; क्षुद्र आकांक्षाओं की कमी सज्जन में नहीं। फिर भी वह धर्मोपदेशक बनकर कहता है—"आत्मविश्वास ही नये युग का धर्म है।" उसे "जनजीवन अन्धविश्वासों और भ्रान्तियों से जकड़ा हुआ" दिखाई देता है। वास्तव में जितने अन्धविश्वास और भ्रान्तियाँ सज्जन में हैं, उतने अन्धविश्वास और भ्रान्तियाँ अशिक्षित और निर्धन जनता में नहीं हैं। वह अपनी समझ में बड़ा मार्मिक प्रश्न करता है—"क्या किसीको भी आज अपने देश से प्यार नहीं?" यदि सज्जन की आँखें उसके वर्ग-संस्कारों ने बन्द न कर दी होतीं तो वह समाज में अपने को अकेला देश-भक्त न पाता। उसकी समझ में भारत का मनुष्य "अधिकांश में भारतीय नहीं, मानव भी—?—नहीं।" अन्त में, "दोनों पति-पत्नी अपनी आस्था पर डटे रहेंगे।" इति, शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः!

क्या इस उपन्यास में ही सज्जन से अधिक आस्थावान व्यक्ति नहीं हैं? क्या ताई द्वारा तारा के प्रजनन में सहायता, रामजी साधु द्वारा पागलों की सेवा, नगीनचन्द द्वारा वनकन्या की सहायता, महिपाल द्वारा बड़ी के पति की पूजा, महिपाल के लिए शीला का प्रेम सज्जन के चरित्र और उसके किसी भी कृत्य से अधिक महान् नहीं हैं? सज्जन ने उपन्यास में जरूरत से ज्यादा जगह घेरी है। पूर्वार्द्ध में वह उतनी जगह नहीं घेरता, जितनी उत्तरार्द्ध में। इसलिए उपन्यास का उत्तरार्द्ध अपेक्षाकृत निर्बल हो गया है। विशेष रूप से उसका अन्त काफी कमज़ोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। महिपाल की आत्म-हत्या पाठक को व्यथित अवश्य करती है, किन्तु वह क्षोभ भी उत्पन्न करती है। किसी कारण दूसरों के मन की बात जानने वाले रामजी बाबा महिपाल के मन की बात बिलकुल नहीं जान पाते कि वह आत्महत्या करेगा। वह अपनी शक्ति से जितना सज्जन की सहायता करते हैं, उसकी शतांश कृपा भी वह महिपाल पर नहीं करते। लेखक के साथ वह भी सज्जन का पक्षपात करते हैं। लाला नगीनचन्द बहुत ही व्यवहारकुशल व्यक्ति हैं, लेकिन मित्रों में भेद खुल जाने पर अपमानित होकर जब महिपाल घर से निकलकर चल देता है, तब भी वह उसके पीछे नहीं चलते, न उसकी खोज-खबर लेते हैं। उपन्यास के उत्तरार्द्ध की यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटना कलात्मक दृष्टि से सत्य नहीं उतरी।

कथावस्तु को कमज़ोर करने वाला एक दूसरा दोष आदिम समाज का हवाला देने का रोग है। सज्जन और महिपाल दोनों समाज-शास्त्री हैं। कहीं मोहेंजोदड़ो, कहीं वैदिक सभ्यता, कहीं प्रस्तर मूर्तियाँ, कहीं आर्य-अनार्य संघर्ष और एक जगह नहीं पचीसों बार नाक में दम कर देते हैं। आधुनिक उपन्यासों के पात्रों को आत्मचिन्तन और आत्मविश्लेषण का रोग होता ही है। पन्ने-के-पन्ने आत्मचिन्तन से रँगे हुए हैं। इनसे कथावस्तु में शिथिलता अवश्य आती है; चरित्र की गहराई का पता तो दो वाक्यों से ही लग जाता है।

कथा कहने में एक दोष यह भी है कि जिन पात्रों से पाठक काफ़ी पहले परिचित हो चुका है, उनके विस्तृत रेखाचित्र अथवा संक्षिप्त जीवन-चरित्र बाद में दिये गए हैं। इससे कथा-प्रवाह में बार-बार ठहराव पैदा हो जाता है। एकाध दोष असावधानी से उत्पन्न हो गया है। कर्नल ख़ासी हिन्दी बोल लेता है, लेकिन ६६वें अध्याय में उस पर 'है' की जगह 'हैगा' कहने का ख़ब्त सवार हो जाता है। उपन्यास में कुछ यथार्थ जगत् के पात्र भी आते हैं, जैसे अमृतलाल नागर, यशपाल, ज्ञानचन्द जैन, भगवतीचरण वर्मा इत्यादि। लेखक ने इनके रेखाचित्र भी नहीं दिए; उसने यह मान लिया है कि पाठक तो इन्हें जानता ही होगा। पाठक साहित्यकार के रूप में उन्हें जान भी सकता है, लेकिन साहित्यकार होने से ही कोई उपन्यास का पात्र नहीं हो जाता। लेखक इनमें पात्रता उत्पन्न नहीं कर पाया।

इन सब दोषों के होते हुए भी 'बूँद और समुद्र' एक सुन्दर उपन्यास है। भारतीय समाज के ऊपर से आत्मसन्तोष का पर्दा खींचकर लेखक ने उसके भीतर की बीभत्सता सबके सामने प्रकट कर दी है। नारी के साथ जो पाशविक अत्याचार किए जाते हैं, उसके हृदयविदारक दृश्य उसने हमें दिखलाये हैं। संभ्रान्त परिवारों में जो गुप्त रूप से व्यभिचार चलते हैं, उसकी नारकीयता से युद्ध करने के लिए उसने ललकारा है। न्याय, धर्म और कला किस तरह सम्पत्ति-शाली वर्ग के हाथों बिकते हैं, इसके सजीव चित्र उसने आँके हैं। प्रेमचन्द के बाद किसीने न्याय-व्यवस्था की वास्तविकता पर ऐसा व्यंग्य नहीं किया जैसा अमृतलाल नागर ने। उपन्यास में सभी रस हैं। भयानक, अद्भुत और वीभत्स के चित्रण में नागर का सानी नहीं है। कल्याणी, वनकन्या, बड़ी, महिपाल की व्यथा पाठक को बुरी तरह झकझोरती है। चित्रण और सम्वादों में हास्यरस का उद्रेक नागर की शैली की विशेषता है। चित्रा राजदान और कवि विरहेश जैसे पात्र थोड़ी देर के लिए भी उपन्यास में आते हैं तो पाठक को अपनी सजीवता से मुग्ध कर देते हैं। लखनऊ के शरीफों की बातचीत पढ़ते हुए कई बार लगा जैसे आगरा छोड़कर मैं फिर लखनऊ पहुँच गया हूँ। रामजी बाबा के पागलों का वर्णन विक्टर ह्यूगो की गम्भीर मानवतावादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षमता की याद दिलाता है। दुश्चरित्र पिता—महिपाल—अपने पाप से परिचित सन्तान का सामना करने में जिस आत्मग्लानि का अनुभव करता है, उसका चित्रण लेखक ने अपूर्व तन्मयता से किया है। विभिन्न स्वभाव के पात्र, उनके स्वभावों की टक्कर, एक ही व्यक्ति की प्रकृति में उत्थान-पतन और नये मोड़, ऐसे पात्र जिनसे पाठक को बेहद प्रेम हो जाता है और ऐसे पात्र जिन पर कभी दया आती है, कभी क्रोध आता है, संस्कृति के विभिन्न स्तर, समाजवादी चेतना, पुराने सन्तों का सेवाभाव, कलाकार का अहंकार, जादू-टोने की दुनिया, क्लिप और बिन्दी में रमने वाला मन, सहज मानवप्रेम और भाईचारा—इन सबके चित्र देखकर मन कह उठता है, कैसा विचित्र देश है अपना और यह प्रिय विचित्र देश अब करवट बदलकर उठ रहा है। कर्नल ही, इन्सानी दल बनाकर जनता के अधिकारों के लिए लड़ने की बात नहीं सोचता। अशिक्षिता देवियाँ भी अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रही हैं। स्वाधीन भारत का पहला चुनाव है। "बूढ़े, बीमार, अपाहिज तक वोट डालने आ रहे थे। स्त्रियों में तो अपार जोश था।" एक महाशय पत्नी से जनसंघ को वोट देने के लिए कहते हैं। पत्नी कांग्रेस को वोट देना चाहती है। पत्नी बोलीं, "देखौ, आज हम ज़िन्दगी में पहली बार ओट डालन आये हैंगे। जिसे हमरा मन आयेगा उसे देंगे। औ' तुम्हें अब कसम है, हमरा मरा मूँ देखौ जो अब की टोकाटाकी करौ।" यदि यह क्रान्ति नहीं है तो क्रान्ति शब्द को निरर्थक ही समझना चाहिए।

अमृतलाल नागर के पास अपनी विभिन्न शैलियों में भाव-विचार प्रकट करते हुए पात्रों का अक्षय भण्डार है। उनकी कला में यह शक्ति है कि इन पात्रों को वह उनके सामाजिक परिवेश के साथ सजीव कर देते हैं। ऐसी संजीवनी कला बहुत कम लेखकों के पास है। उनसे बहुत कम पूँजी वाले लेखक महान् कलाकार बन चुके हैं। 'बूँद और समुद्र' में जितना सामाजिक अनुभव संचित है, वह उसे अपने ढंग का विश्वकोश बना देता है। उसे एक बार नहीं, बार-बार पढ़ने को मन करेगा। कुछ स्थल ऐसे हैं जिन्हें बार-बार पढ़ने पर भी मन न भरेगा। निस्सन्देह स्वाधीन भारत का यह एक उत्तम उपन्यास है।

●

प्रकाशचन्द्र गुप्त

हाथी के दाँत

'हाथी के दाँत' श्री अमृतराय का दूसरा लघु उपन्यास है। इसके पूर्व आपका एक वृहद् उपन्यास 'बीज' और एक लघु उपन्यास 'नागफनी का देश' प्रकाशित हो चुके हैं और इनकी काफ़ी चर्चा भी हुई है। 'हाथी के दाँत' ठाकुर परदुमनसिंह की कथा है, जो सन् '४७ के पूर्व ब्रिटिश शासन के समर्थक थे और अब कांग्रेसी एम० एल० ए०, उप-मन्त्री और मन्त्री बनकर कांग्रेसी शासन-तन्त्र के अंग बन गए हैं। उन्होंने अनेक स्त्रियों को बेआबरू किया है, अनेक क़त्ल किए हैं, जिनका रहस्य किसीसे छिपा नहीं है। खद्दर, गांधी टोपी और देश-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवा का ढोंग केवल दिखावे के दाँत हैं; सभी जानते हैं कि इस कांग्रेस-रूपी हाथी के खाने के दाँत और ही हैं।

'हाथी के दाँत' मुख्यतः व्यंग्यात्मक कथा है। व्यंग्य की शैली में अमृतराय विशेष पटु हैं। आपकी भाषा में बड़ा प्रवाह है, आपकी शैली सरल, मुहावरेदार, टकसाली शैली है। इस सफल शैली में आप अनेक व्यक्ति-चित्र प्रस्तुत करते चले जाते हैं—ठाकुर परदुमन सिंह, चम्पाकली, रावल, चन्द्रिकाप्रसाद, पण्डित रमाबिहारी चतुर्वेदी, रामसिंह, आज़ादजी, रत्ना। ये सभी पात्र बड़े सजीव और सफल हैं और मिलकर आज के भारतीय जीवन की एक विहंगम झाँकी पाठक को देते हैं।

जब हम इस उपन्यास के कथानक में कोई केन्द्रीय सूत्र खोजते हैं, तो कठिनाई होती है। उपन्यास की उठान बहुत अच्छी है। परदुमनसिंह और चम्पाकली के प्रेम-व्यापारों से कथा का आरम्भ होता है, किन्तु चन्द्रिकाप्रसाद की मृत्यु के उपरान्त कथा का यह महत्त्व-सूत्र त्याग दिया जाता है। पाठक यह जानना चाहता है कि चम्पाकली का बाद में क्या हुआ। इसका हवाला उसे उपन्यास के अन्त में एक वाक्य में मिलता है। हम समझते हैं कि उपन्यास का स्वाभाविक विकास इसी केन्द्रीय कथा के साथ चलता रहता, तो उपन्यास अधिक सफल होता। अब वह अनेक कहानियों का संग्रह है, जिनमें परस्पर कोई विशेष तारतम्य नहीं है। उदाहरण के लिए, पण्डित रमाबिहारी चतुर्वेदी स्वयं एक स्वतन्त्र रोचक कहानी के पात्र हैं, किन्तु ठाकुर परदुमनसिंह की कहानी से आपका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यही स्वामी परमानन्द और आज़ादजी की कथा के सम्बन्ध में भी हम कह सकते हैं।

'हाथी के दाँत' का कथानक कुछ बिखरा होने पर भी हमें कांग्रेसी भारत का अत्यन्त सजीव और प्रभावोत्पादक चित्र देता है। श्री अमृतराय में सफल उपन्यासकार के अनेक गुण हम पाते हैं—पात्रों का दृढ़, सुस्पष्ट रेखाओं द्वारा अंकन; भाषा की चित्रात्मकता, प्रवाह और वेग; जीवन की विभीषिकाओं पर हँसने की क्षमता, व्यंग्य के अस्त्र से उन पर तीव्रतम मर्म-प्रहार; कथा के तार को समर्थ प्रतिभा से उठाने की क्षमता। इन सब गुणों को देखते हुए आपसे पाठक अधिक गुँथे हुए उपन्यास की आशा कर सकता है।

अमृतराय प्रगतिशील कथाकार हैं और उन्होंने जीवन के दुःखों को ही अपने उपन्यास का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। आपने उन नेताओं की अनेक दुर्बलताओं का काफ़ी पर्दाफ़ाश किया है, जो कभी जनता के दुःख-सुख की बात शायद सोचते रहे हों किन्तु जिनको अब अपने विलास-वैभव के क्षणों से ही अवकाश नहीं मिलता। 'हाथी के दाँत' हमें भारत के सामन्ती शोषण की एक झलक देता है। इन सामन्तों का सिक्का स्वतन्त्र भारत में भी उसी शान से चलता है, जैसे वह ब्रिटिश शासन में चलता था। 'हाथी के दाँत' में विधानसभा में कांग्रेसी सदस्यों के विश्राम करने के भी बड़े सफल और सजीव चित्र हैं।

अमृतराय पुलिस के घोड़ों का वर्णन करते हैं—"घुड़सवार दस्ते बड़ी आन-बान के साथ अपने दीवार जैसे ऊँचे घोड़ों पर क़तार बाँधे खड़े हैं। पुलिस लाइन के घोड़ों का क्या कहना! इतनी जाँफ़िशानी से वे दले-मले गए हैं और इतनी अच्छी उनकी ख़ूराक़ है कि उनके जिस्म बिलकुल साँचे में ढले हुए नज़र आते हैं....

"काश कि मुल्क के इन्सानों को वह देख-भाल, वह ले-लपक, वह ख़ूराक़ मिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती जो इन घोड़ों को मिलती है !

"मगर वह कैसे हो, किस तर्क से ? मुल्क के इन्सान तो हकूमत की ताकत के खम्भे नहीं हैं और ये घोड़े हैं। दोनों में फ़र्क तो होगा ही। इन्साफ़ की बात है।"[1]

भाषा की सजीवता और सफलता का एक उदाहरण गाँव में वसन्त का वर्णन है— "आम गहगहाकर बौरे हुए थे। हवा महुए और आम्रमञ्जरी की गन्ध से, अलसायी हुई थी। हलकी-हलकी पुरवैया बह रही थी, जिसमें खेत की पीली सरसों किसी अलबेली नवेली के आँचल की तरह लहरा रही थी और साँझ की बेला थी। पेड़ों पर चिड़ियाँ चहक रही थीं, जैसे शाम को घर लौटकर निहायत बेसब्री से अपने दिन-भर के तजुर्बे बयान कर रही हों। बाँसों के झुरमुट आपस में कनबतियाँ कर रहे थे। गायें चरागाहों से लौट चुकी थीं और ग्रामपथ निर्जन हो चला था।"[2]

परिच्छेदों के शीर्षक भी बड़े आकर्षक हैं—गड़े मुर्दे; इन्दर सभा; अगर फ़िरदौस बर रूए ज़मीन अस्त; नहले पर दहला; मृगछलना; छलनामृग आदि। ये शीर्षक प्रमाण हैं कि लेखक ने बड़ी गहरी अनुभूति से विषय को आत्मसात् किया है।

प्रतिभा के इन लक्षणों का स्वागत करते हुए भविष्य में उनके अधिक सफल समन्वय की आलोचक आशा करता है।[3]

प्रकाशचन्द्र गुप्त

राह बीती

'राह बीती' यशपाल की दूसरी यात्रा-पुस्तक है। पहली पुस्तक 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' हिन्दी-पाठकों में काफ़ी लोकप्रिय हो चुकी है। इस पुस्तक में यशपाल ने सोवियत जनता की समृद्धि की तुलना पश्चिमी यूरोप से की थी। 'राह बीती' में चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, रूमानिया और अफ़ग़ानिस्तान की यात्रा के रोचक वर्णन हैं। यशपाल चुटीले व्यंग्य, विनोद और हास्य में घोलकर अपने वर्णन प्रस्तुत करते हैं। अपने प्रगतिशील विचार-दर्शन के कारण आप वस्तु-स्थिति के मर्म तक आसानी से पहुँच जाते हैं और उसका यथार्थ मूल्यांकन कर सकते हैं। आप वास्तविक जनवाद के आधार—उसकी आर्थिक भूमि—की परीक्षा निरन्तर कर सकते हैं।

यशपाल की यह तीसरी यूरोप-यात्रा थी। इस बार आप चैकोस्लोवाकिया के लेखक-सम्मेलन में शामिल होने प्राहा गये थे। यहीं पूर्वी जर्मनी और रूमानिया जाने का निमन्त्रण भी आपको मिला। बम्बई से प्राहा तक हवाई यात्रा का बड़ा चित्रात्मक वर्णन यशपाल ने किया है। फिर पाठक यशपाल के साथ रोम का चक्कर काटता है, कौलीसियम के खण्डहरों में बैठता है और

१. पृ० ८६।
२. पृ० ५-६।
३. लेखक—अमृतराय; प्रकाशक—हंस प्रकाशन, इलाहाबाद; मूल्य २॥)।

सन्दर्भ ग्रन्थ REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन कला के नमूने देखता है।

चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी और रूमानिया—तीनों ही पिछले महायुद्ध के विध्वंस में काफ़ी नष्ट हुए थे। इन देशों में पुनर्निर्माण की गति से यशपाल काफ़ी सन्तुष्ट हैं। पूर्वी बर्लिन में आप एक गुप्त अमरीकी सुरंग का आँखों-देखा हाल लिखते हैं। यह सुरंग अमरीकी साम्राज्यवादियों ने पूर्वी बर्लिन के टेलीफोन-एक्सचेंज के नीचे बनाई थी, ताकि वे पूर्वी जर्मनी के समाचार गुप्त रूप से जान सकें।

चैकोस्लोवाक लेखकों के सम्मेलन में बहस गम्भीर और ऊँचे स्तर की थी। ये लेखक अपने साहित्य को जन-हित की प्रेरणा से तो अनुप्राणित करना ही चाहते हैं, वे अपने साहित्य का स्तर भी निरन्तर ऊँचा करना चाहते हैं। इस सम्मेलन की बहसों पर बीसवीं सोवियत कांग्रेस की विचार-धाराओं का काफ़ी प्रभाव था।

यशपाल इस सम्मेलन में हिन्दी में बोले थे। बाद में उनके वक्तव्य का अनुवाद चैक भाषा में सुनाया गया। यशपाल के अनुसार चैक लेखकों की आर्थिक हालत बहुत अच्छी है। उनके विश्राम-गृह और आमोद-स्थल सभी सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण हैं। अपनी यात्रा में यशपाल ने पूर्वी यूरोप के समाजवादी जीवन के अनेक अंगों का परिचय प्राप्त किया। नगर, उद्योग-धन्धे, आमोद-स्थल, गाँव, सामूहिक कृषि-शालाएँ आदि आपने देखे। यशपाल के अनुसार इस समाजवादी संसार में मनुष्य का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा उठ रहा है। यह देश प्रगति के पथ पर अग्रसर है। फिर भी वे अपनी विजय-यात्रा से सम्पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे जानते हैं कि अभी उन्हें बहुत आगे बढ़ना है। अपनी प्रगति के लिए वे शान्ति की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव करते हैं। पिछले महासमर में भारी हानि और वेदना झेलने के कारण वे युद्ध-जनित सङ्कट के प्रति विशेष रूप से सतर्क हैं।

यशपाल की पुस्तक हिन्दी-पाठक को समाजवादी यूरोप की परिस्थितियों से परिचित कराएगी। पाठक का ज्ञान-वर्द्धन तो पुस्तक से होगा ही, साथ ही उसका मनोरंजन भी यथेष्ट मात्रा में होगा। असावधानी के कारण कहीं-कहीं पाठ में भाषा की अशुद्धियाँ हैं, जिन्हें अगले संस्करण में दूर कर देना चाहिए।[1]

— शिवकुमार मिश्र

कौड़ियों का नाच

वर्तमान युग गद्य का, विशेषतः कथा-कहानियों (उपन्यास व आख्यायिका) का युग है। हिन्दी का कथा-साहित्य इस युग में जितनी प्रगति कर रहा है, जितनी शीघ्रता से आगे बढ़कर प्रौढ़ता की मंजिल पर पहुँचने का उपक्रम कर रहा है, कदाचित् इससे पूर्व उसमें इतनी गति न थी और न ही वह आज के अर्थों में इतना सम्पन्न था। आज हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास व

१. लेखक—यशपाल; प्रकाशक—विप्लव कार्यालय, लखनऊ; मूल्य ३॥)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटी कहानियों की, जिनमें रेखाचित्र, व्यंग्य-चित्र सभी शामिल हैं, एक बाढ़-सी आ गई है। स्पष्ट है कि यह सारा साहित्य श्रेष्ठ, सुन्दर और स्थायी नहीं है। कारण स्वाभाविक है कि जब बाढ़ आएगी तब तमाम गन्दी, छिछली और ओछी वस्तुएँ भी उतरा आएँगी, पर इसके बावजूद भी इस बाढ़ ने हमें कतिपय सुन्दर, श्रेष्ठ और स्थायी चीजें एवं प्रतिभावान लेखक भी दिये हैं, साथ ही कुछ ऐसे भी, जिनमें अभी पूर्ण परिपक्वता नहीं आई, पर जिनमें भविष्य की सुन्दर सम्भावनाएँ निहित हैं। प्रेमचन्द और प्रसाद की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले जिन पुराने और नये लेखकों ने कथा-कहानियों के क्षेत्र को समृद्ध किया है, कथाकारों की उसी पंक्ति में हम प्रस्तुत कहानी-संग्रह की लेखिका श्रीमती सरूपकुमारी बख्शी को भी रखते हैं।

प्रस्तुत संग्रह में लेखिका की दस कहानियाँ संग्रहीत हैं—(१) टूटा हुआ चिराग, (२) जंगी सिंह, (३) लुटेरे का दान, (४) प्लास्टिक की दुनिया, (५) निराली शान, (६) काश्मीरी मुहल्ला, (७) तितलियों की सभा, (८) फैशन की घुड़दौड़, (९) इंसानियत का नकाब और (१०) कौड़ियों का नाच! इसी अन्तिम कहानी पर ही संग्रह का नामकरण हुआ है।

प्रस्तुत संग्रह लेखिका की कहानियों का प्रथम संग्रह है। इसीको लेकर उसने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया है। स्पष्ट है कि इस संग्रह की सभी कहानियाँ लेखिका की सुन्दर कृतियाँ नहीं हैं, पर कुछ कहानियाँ ऐसी अवश्य हैं जो लेखिका के होनहार भविष्य की ओर संकेत करती हैं। इस सम्बन्ध में मैं संग्रह की प्रथम कहानी 'टूटा हुआ चिराग' का उल्लेख करना चाहूँगा। शेष कहानियाँ, जिनमें कुछ चलती हुई भी हैं, एक महत्त्वपूर्ण विशेषता लिये हुए हैं और वह है उन कहानियों में व्यक्त लेखिका का मानवतावादी दृष्टिकोण, आज के तथाकथित सफेदपोश, सुसंस्कृत, सभ्य एवं 'खोखले दिमाग' वाले भद्र पुरुषों एवं महिलाओं का, इस पूरे-के-पूरे वर्ग का चित्रण और इस चित्रण में झलकती हुई लेखिका की जनसाधारण के प्रति असीम प्रेम और निष्ठा की भावना, उस सफेदपोश वर्ग के प्रति वितृष्णा तथा मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति लेखिका की अडिग आस्था।

लेखिका ने कहानियों में समाज के इस सफेदपोश वर्ग के व्यक्तियों के दिमाग और दिलों की तह में उतरकर, उनके विचारों और भावनाओं, उनके क्रिया-कलापों, उनकी सभ्यता और आचारों के इतने स्पष्ट, यथार्थ और निखरे हुए चित्र खींचे हैं कि वह समाज अपनी सारी वास्तविकता के लिए इन कहानियों में प्रकट हो गया है और वह वास्तविकता है उसका खोखला-पन, उसकी बाहरी चमक-दमक, और इस चित्रण द्वारा लेखिका ने इस समाज की घुटन का जो पर्दाफाश किया है उसके लिए वह बधाई की पात्र है।

लेखिका इस समाज के उतार-चढ़ावों, उसकी साँसों, उसकी धड़कनों से पूर्णरूपेण परिचित प्रतीत होती है और यही कारण है कि वह उसके इतने यथार्थ और जीवन्त चित्र देने में समर्थ हुई है और इस समाज से इतनी गहराई से सम्पर्क होने पर भी लेखिका का स्वयं का व्यक्तित्व उससे कितना बाहर और अलग है, यह भी इन कहानियों से पता लग जाता है। उसने एक सतर्क आलोचक की भाँति इस समाज को देखा-परखा है और उसकी एक-एक रेखा उभारी है।

'टूटा हुआ चिराग'—संग्रह की प्रथम कहानी—वास्तव में मर्मस्पर्शी है और लेखिका का मानवतावादी दृष्टिकोण भी उसमें पूरी तरह उभर उठा है। इसमें लेखिका ने लाहौर में रहने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले एक लखनवी शायर मियाँ जमाल का चित्र खींचा है—वह शायर जो अपनी निर्धनता के बावजूद भी एक बड़ा इन्सान था और जिसके ऊपरी ढाँचे को देखकर लोग जिससे घृणा करते थे, उसके भीतर उसे झाँककर देखा एक छोटी-सी बच्ची ने और उसने उस बूढ़े, फक्कड़, फटे-हाल शायर को अपने दिल की दुनिया दे डाली। कहानी बड़ी सजीव उतरी है, मर्मस्पर्शी और आकर्षक।

'प्लास्टिक की दुनिया', 'निराली शान', 'फैशन की घुड़दौड़', 'तितलियों की सभा', 'कौड़ियों का नाच', 'इंसानियत का नकाब', 'लुटेरे का दान', ऐसी कहानियाँ हैं जिनके शीर्षक ही उनकी विषय-वस्तु को स्पष्ट कर देते हैं। समाज के उसी वर्ग का चित्रण, जहाँ नाच होते हैं, पार्टियाँ होती हैं, शराब के दौर चलते हैं, फैशन की भाग-दौड़ होती है, स्त्री-पुरुष सब-के-सब जहाँ इन्हीं पार्टियों और नाचरंग की दुनिया में लिप्त रहते हैं, बाहर क्या हो रहा है, जीवन का वास्तविक रूप क्या है, उसके संघर्ष कितने भीषण हैं, इन बातों में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रहती।

'लुटेरे का दान' कहानी में सेठजी नारी-क्लब को बड़ी कठिनाई से एक हजार रुपये का दान देते हैं, पर साथ ही मुनीम को आदेश देते हैं कि कर्मचारियों के वेतन से ५ फीसदी काट लिया जाय। सुनन्दा के प्रश्न करने पर ही-ही करते हुए उत्तर देते हैं—"यह भी तो मेरा ही पैसा है। मैं इन लोगों को हर साल जो बढ़ौती देता हूँ सो? वह बढ़ौती मैं इनसे दान में खर्च करवा लूँगा, नहीं तो यह उसे सिनेमा, सिगरेट, ताड़ी, वगैरह में खर्च करेंगे। जी हाँ, आप इन्हें जानतीं नहीं, ये छोटे आदमी बड़े मज़े करते हैं कमबख्त, जिस दिन तनख्वाह मिलती है। तो मेरा फर्ज है कि मैं इनका पैसा उत्तम कारज में लगवाऊँ। आप फिकर न करें।" और रात को सुनन्दा ने बिस्तर पर पड़े-पड़े एक अजीब दृश्य देखा—

"एक छोटी-सी कोठरी, अंधेरी और गन्दी। वहीं पर चार-पाँच बच्चे शोरगुल मचा रहे थे। एक अर्धनग्न बच्चा जमीन पर पड़े-पड़े घिसट रहा था। इतने में ही दरवाजे पर एक खट-से आवाज हुई और एक अधेड़ नारी ने प्रवेश किया। उसके शरीर पर एक फटी हुई धोती थी, बाल बिखरे हुए थे। उसने सुनन्दा की ओर देखा और गाली देकर बोली, 'तुम कौन हो जी, चोर या डाकू? गरीबों का पेट काटकर समाज-सेवा करोगी? हमारी खून-पसीने की कमाई को छीनकर तुम संस्था बनाओगी, जहाँ पार्टियाँ हों, नाच-गाना हो, तुम्हारा लिक्चर हो, नाम हो। दे मेरे रुपये, चुड़ैल कहीं की, बेईमान'......"
"....दूसरे दिन सुनन्दा सब रुपये सेठजी की मेज़ पर पटक आई और संस्था को त्यागपत्र दे दिया।"

'प्लास्टिक की दुनिया' में डाली (कहानी की नायिका) का चित्रण—"डाली समाज की प्रेमिका है। विशेषकर जब से उन्होंने अपने पति को तलाक दे दिया है तब से तो वह बहुत प्रसिद्ध हो गई है। सुना है कि बहुत अमीर है और बड़े ठाठ से ज़िन्दगी बसर कर रही है। बंगला है, मोटर है, बैरा है। उनकी आमदनी का जरिया क्या है यह किसीको मालूम नहीं। उसकी आँखें सुन्दर हैं, होटल के साइन बोर्ड की तरह चमकदार, शरीर छरहरा, अन्धेरे कमरे में जाने के लिए बनी हुई सीढ़ी की तरह घुमावदार, आवाज सुरीली जैसे शराबखाने के काउण्टर पर सिक्कों की खनन-खनन!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'निराली शान' में उधार माँगकर अपना रौब जमाने वालों का चित्रण किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सारी कहानियों के पीछे लेखिका का एक उद्देश्य है और उस उद्देश्य की पूर्ति में वह पूर्णरूपेण सफल हुई है। वह उद्देश्य कौनसा है, इसे हम पीछे बता चुके हैं।

जहाँ तक कहानियों की कलात्मक प्रौढ़ता का प्रश्न है 'टूटा हुआ चिराग' को छोड़कर शेष कहानियाँ कला की कसौटी पर पूरी तरह खरी नहीं उतरतीं। अधिकांश कहानियों की विषय-वस्तु समान होने के कारण उनमें ताजगी का अभाव दीख पड़ने लगता है। कुछ कहानियों में शिथिलता और उखड़ापन भी स्पष्टतः झलकता है। 'काश्मीरी मुहल्ला' में कोई कथा ही नहीं है, 'फ़ैशन की घुड़दौड़', 'तितलियों की सभा' कहानियाँ भी शिथिल हैं। कुछ कहानियाँ निरी वर्णन-मात्र हैं। वास्तव में लेखिका की लेखनी अभी पूरी तरह मँज नहीं सकी, वह अभी विकास के रास्ते पर है, उसमें क्षमता है, यह बात भी इन कहानियों से प्रकट हो जाती है।

भाषा-सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ भी हैं, व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी हैं, पर कम। डाली का चित्र खींचते समय, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, भाषा में 'उन्होंने', 'उनकी' आदि शब्दों का व्यवहार न होना चाहिए था, इनके स्थान पर 'उसने', 'उसकी' शब्दों को व्यवहृत होना चाहिए था। इन छोटी-मोटी कुछ त्रुटियों के अतिरिक्त, वैसे भाषा सरल, सतत् प्रवाहमयी, मुहावरेदार, स्पष्ट व सजीव है। लखनवीपन की छाप भी भाषा पर स्पष्ट झलकती है। पात्रोचित भाषा का स्वरूप विशेष दर्शनीय है।

'कौड़ियों का नाच' लेखिका का प्रथम कहानी-संग्रह है, इस कारण कहानियों में कुछ अपरिपक्वता होने पर भी लेखिका के प्रयत्न का स्वागत करना चाहिए, विशेषकर इसलिए कि लेखिका में भविष्य की सुन्दर सम्भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं। उसका यह संग्रह इस कथन का उदाहरण है। पुस्तक की छपाई, सफाई, गेट-अप आदि भी सुन्दर व आकर्षक हैं। मूल्य भी उचित है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में लेखिका अधिक प्रौढ़ और कलात्मक कहानियों के साथ अपनी सम्भावनाओं को सत्य करेगी।[1]

रामचन्द्र तिवारी

हिन्दी-रीति-साहित्य

हिन्दी का रीति-साहित्य अध्ययन और मूल्यांकन की दृष्टि से प्रायः उपेक्षित ही रहा है। द्विवेदी-युग की सुधारवादी प्रवृत्ति एवं संकीर्ण नैतिक दृष्टि ने हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी को इसके अध्ययन से विरत रखा। सामान्यतः यह मान लिया गया कि आधुनिक युग-चेतना के विकास में यह अध्ययन अस्वास्थ्यकर होगा। सभा की खोज-रिपोटों तथा मिश्रबन्धुओं के वृहद्

१. लेखिका—स्वरूपकुमारी बख्शी; प्रकाशक—रंजना प्रकाशन, लखनऊ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास के माध्यम से रीतिकालीन प्रचुर साहित्य प्रकाश में तो आया, किन्तु सन्तुलित दृष्टि से उसका मूल्यांकन प्रायः नहीं ही हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदास के उदार दृष्टिकोण तथा आचार्य शुक्ल की सामञ्जस्यमयी न्यायनिष्ठ दृष्टि ने इसके मूल्यांकन की परम्परा को आगे बढ़ाया। देव और बिहारी के झगड़े ने भी रीति-साहित्य का कम उपकार नहीं किया। कम-से-कम, लोगों की दृष्टि इस ओर मुड़ी और वे इसे क्षण-भर रुककर देखने को विवश हुए। डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत 'रीति-साहित्य की भूमिका' महाकवि देव की ही पृष्ठभूमि बनकर नहीं आई, उसने रीति-साहित्य के अध्ययन की विस्तृत पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत की। आचार्य विश्वनाथ मिश्र द्वारा प्रस्तुत घनानन्द, बिहारी तथा अन्य रीतियुक्त और रीतिमुक्त कवियों से सम्बद्ध मौलिक सामग्री ने इस साहित्य के प्रति हमारी उदासीनता दूर की। पं० परशुराम चतुर्वेदी का 'नव निबन्ध' और डॉक्टर राजेश्वर चतुर्वेदी का 'श्रृंगार-रस-विवेचन' तथा इस प्रकार के अन्य छोटे-बड़े प्रयासों ने रीति-साहित्य के अध्ययन को जीवित रखा है। लखनऊ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० के लिए प्रस्तुत पं० ब्रजकिशोर मिश्र का 'रीतिकालीन अवध के कवि' शोध-निबन्ध अभी प्रकाश में नहीं आया है। निश्चय ही यह अध्ययन इस युग के बहुत से कवियों तथा प्रधान प्रवृत्तियों के विषय में नवीन सामग्री उपस्थित करेगा। डॉ० भगीरथ मिश्र का प्रस्तुत अध्ययन उपर्युक्त समस्त सामग्री को आत्मसात् कर हिन्दी-रीति-साहित्य के सन्तुलित मूल्यांकन का नवीनतम सफल प्रयास है।

डॉ० मिश्र ने हिन्दी-काव्य-शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करते समय रीतिकालीन सम्बन्धी साहित्य को भली भांति परखा था। तब से बराबर इस सम्बन्ध में सोचने और अध्ययन को आगे बढ़ाने का अवसर उन्हें मिलता रहा है। प्रस्तुत अनुशीलन इसी चिन्तन और अध्ययन का परिणाम है। इस कृति में उन्नीस पृष्ठों की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत लोकभाषा की परम्परा, रीति-साहित्य के विकास के कारणों तथा राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है। परिस्थितियों के अध्ययन की विशेषता यह है कि उनका सीधा सम्बन्ध रीति-साहित्य की प्रवृत्तियों से दिखाया गया है। परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से खिंची-तनी नहीं हैं। इतिहास-ग्रन्थों से प्रमाण उपस्थित करते समय डॉ० ईश्वरीप्रसाद के इतिहास से ही बार-बार उद्धरण देना थोड़ा खटकता है। इस सम्बन्ध में—'Life and Condition of the People of Hindustan'—कुँअर अशरफ की कृति का भी आधार लिया गया होता तो अच्छा ही था। यद्यपि अशरफ महोदय का अध्ययन १५५६ ई० तक ही सीमित है, किन्तु जीवन-प्रणाली का स्रोत आगे भी लगभग उसी स्थिति में बहता आया है। इसी पृष्ठभूमि के अन्तर्गत रीतिकालीन जीवन के ऐहिक पक्ष पर प्रस्तुत सामग्री रोचक और नवीन है।

इस अध्ययन की तीन अन्य प्रमुख विशेषताएँ लक्षित की जा सकती हैं—

(क) हिन्दी-रीति-साहित्य में भी 'अलंकार', 'ध्वनि', 'रस' और 'रीति' सम्प्रदायों की स्थिति का अवलोकन।

(ख) पूर्व-परम्परा के रूप में संस्कृत के उपर्युक्त सम्प्रदायों का संक्षिप्त किन्तु सचेष्ट परिचय।

(ग) अन्त में रीति-काव्य-सग्रह के रूप में सुरुचिपूर्ण छन्दों का सग्रह।

हिन्दी में अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत लेखक ने 'केशव', 'जसवन्तसिंह', 'मतिराम', 'भूषण', 'गोप', 'रसिक सुमति', 'गोविन्द', 'दूलह', 'वैरीलाल', 'गोकुलनाथ', 'पद्माकर' आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्यों को स्थान दिया है। आधुनिक युग के आलंकारिकों में लछिराम, कविराजा मुरारीदान, कन्हैयालाल पोद्दार, लाला भगवानदीन, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', अर्जुनदास केडिया और मिश्रबन्धुओं की कृतियों पर विचार किया गया है।

हिन्दी **रस-सम्प्रदाय** के अन्तर्गत सुन्दर कवि, चिन्तामणि, तोष, मतिराम, कुमारमणि भट्ट, रसलीन, भिखारीदास, रूपसाहि, उजियारे, यशवन्तसिंह, रामसिंह, पद्माकर, रसिक गोविन्द, बेनी प्रवीन, ग्वाल, लछिराम, प्रतापनारायणसिंह, हरिऔध और बिहारीलाल भट्ट आदि आचार्यों की कृतियों को स्थान दिया गया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कुलपति मिश्र, देव, सूरति मिश्र, कुमारमणि भट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि, लछिराम, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और पं० रामदहिन मिश्र की कृतियों को स्थान दिया गया है।

रीति-सम्प्रदाय में रहीम, सेनापति, बिहारी, मतिराम, देव, घनानन्द, भिखारीदास, रसलीन, बेनी प्रवीन, पद्माकर, आदि की गणना की गई है।

जहाँ तक नवीनता का प्रश्न है, निस्सन्देह हिन्दी-रीतिकालीन आचार्यों की मान्यताओं में संस्कृत साहित्य में प्रवर्तित विविध सम्प्रदायों की छाया ढूँढ़कर उनका भी शास्त्रीय-साम्प्रदायिक वर्गीकरण हिन्दी-साहित्य में पहली बार किया गया है, किन्तु इसमें थोड़ी गड़बड़ी या असुविधा भी (पाठकों की दृष्टि से अधिक) सम्भावित है। निश्चित है कि हिन्दी-साहित्य के अधिकांश आचार्य न तो किसी विशेष शास्त्रीय सम्प्रदाय की स्थापना करना चाहते थे और न अपने को उस सीमा में बाँधना ही चाहते हैं। अतः इस प्रकार की सम्प्रदाय-स्थापना में एक ही आचार्य को दो या तीन सम्प्रदायों में समाहित करना पड़ा है।

इस अध्ययन में रीतिकालीन स्वच्छन्द कवियों के साथ भी थोड़ा अन्याय हुआ है। घनानन्दजी के जो कवित्त **"सुछन्द सदा रहै"** वे रीति की शृंखलाओं में बँधकर अपनी विवशता दिखा रहे हैं। यह ठीक है कि रीतिकालीन टीकाकारों ने उनके छन्दों में भी नायिकाओं को ढूढ़कर खड़ा कर दिया है, किन्तु उनकी मूल प्रवृत्ति स्वच्छन्दता की ओर ही है। वैसे तो सभी युगों में कवि किसी-न-किसी रीति का अनुसरण करने को बाध्य होता है। छायावादी कवि भी तो एक विशेष प्रकार की परिपाटी में बँधे रहे हैं।

यह होने पर भी डॉ० मिश्र की प्रस्तुत कृति निष्पक्ष, सन्तुलित, सचेष्ट और विश्वासपूर्ण मूल्यांकन की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकृत होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।[1]

---

१. **लेखक—डॉ० भगीरथ मिश्र; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन प्राइवेट, लिमिटेड, बम्बई, दिल्ली, इलाहाबाद, पटना, मद्रास; पृष्ठ-संख्या १७१; मूल्य ४)**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मीरमण वार्ष्णेय

पद्मसिंह शर्मा के पत्र

विद्यार्थी-जीवन में एक बार आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा के दर्शन हुए थे। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी और पं० हरिशंकरजी शर्मा द्वारा सम्पादित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' पढ़कर उनकी मूर्ति फिर सजीव हो उठी। यह इस पुस्तक की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

किसी लेखक या कवि की कृति का उसके व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। उसकी कला उसके व्यक्तित्व की प्रतिमूर्ति होती है। इसीलिए उसकी रचनाओं का भलीभाँति अध्ययन करने के लिए उसके जीवन और उन अन्य बातों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है जिनसे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। उसकी प्रकाशित रचना से उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती अवश्य हैं, किन्तु उसके प्रकृत स्वरूप के जानने का अवसर प्राप्त नहीं होता। उसके जीवन और फलतः रचनाओं की छोटी-बड़ी सभी सन्धियाँ जानने के लिए पत्र मूलाधार का काम देते हैं। इन्हीं सन्धियों पर उसका सामाजिक रूप आधारित रहता है। सामाजिक जीवन में कवि या लेखक को दुराव-छिपाव भी करना पड़ता है, कहीं-कहीं उसे मौन भी धारण करना पड़ता है। पत्रों में उसका वास्तविक व्यक्तित्व प्रकट होता है। इसलिए यदि किसी रचना का अध्ययन करने के लिए उसके रचयिता के जीवन का अध्ययन करना जरूरी है, तो जीवन को वास्तविक रूप में जानने के लिए कृपापात्रों, मित्रों, पाठकों, विश्वस्त व्यक्तियों आदि को लिखे गए पत्रों से उसके मन के कोने-कोने में झाँकने का अवसर मिल जाता है। इससे साहित्य का अध्ययन व्यक्तित्व के अध्ययन के साथ-साथ होता चलता है। साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से, फलतः, पत्रों का विशेष महत्त्व है।

खेद की बात है कि साहित्य के इतने उपयोगी अंग की हिन्दी में उपेक्षा होती रही है। जीवनी-साहित्य और पत्र-साहित्य की दृष्टि से हिन्दी-भाषा आज भी बहुत समृद्ध नहीं कही जा सकती। अनेक महापुरुषों की जीवन-गाथाएँ तो विस्मृति के महान्धकार में विलीन हो ही चुकी हैं। पत्रों को सुरक्षित रखने वाले लोगों का भी हमारे समाज में कुछ अभाव-सा मिलता है। जैसा कि पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने अपनी सुन्दर भूमिका में कहा है, "पत्र लिखना **भी एक नशा है और पत्र-संग्रह करना भी एक नशा है। यह नशा जितने अधिक लोगों में हो उतना ही अच्छा है।"**

यूरोप में जीवनी-लेखकों तथा साहित्य के विद्यार्थियों ने पत्रों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है और अनेक प्रसिद्ध साहित्यिकों तथा महापुरुषों के पत्र-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। बायरन, कीट्स, मार्क्स, ऐंगल्स, स्टीवेंसन, तुर्गनेव, टॉल्स्टाय, जॉन्सन आदि महापुरुषों के विचारों का मूल तत्त्व समझने के लिए उनके पत्रों से विशेष सहायता मिलती है। पत्रों का अध्ययन करने से हम उनकी कला-विभूति और आत्मा की महत्ता का पता लगाने में समर्थ होते हैं, उनके जीवन की अच्छाइयों और कमजोरियों द्वारा उनका मानव-रूप समझने में सहायता प्राप्त करते हैं। उर्दू और बंगला में भी पत्र-साहित्य काफ़ी प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी में इस दिशा में जितना कार्य होना चाहिए था उतना तो अभी नहीं हुआ, किन्तु यह सन्तोष की बात है कि अब कुछ महानुभावों का ध्यान इस ओर गया है। आशा है उनसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेरणा ग्रहण कर इस कार्य के बढ़ाने में अन्य सज्जन भी प्रवृत्त होंगे। जिन थोड़े-से महानुभावों का ध्यान इस ओर गया भी है उनके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

हिन्दी में अभी तक जिन साहित्यिकों के पत्रों का संग्रह करने की ओर सबसे अधिक प्रयास किया गया है और किया जा रहा है, उनमें स्वर्गीय आचार्य द्विवेदीजी और आचार्य पद्मसिंहजी शर्मा प्रमुख हैं—यद्यपि पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी तथा पं० हरिशंकरजी शर्मा ने कुछ अन्य पत्र-संग्रहों का भी उल्लेख किया है। हाल ही में 'द्विवेदी पत्रावली' शीर्षक के अन्तर्गत उनके पत्रों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' शीर्षक संग्रह दूसरा महत्त्वपूर्ण संग्रह है। वास्तव में शर्माजी के पत्र कला की दृष्टि से आदर्श पत्र हैं। उनका व्यक्तित्व विविधता-सम्पन्न था। अपने समय के साहित्य-निर्माण में उनका पूरा योग था। उनके पत्र पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पद्मसिंहजी केवल प्रकाण्ड पण्डित ही नहीं थे, वरन् उनमें व्यवहार-बुद्धि, साहस, निर्भीकता, विचारों की दृढ़ता और स्वाभिमान था और, सर्वोपरि, उनका मानव-रूप इन पत्रों से भलीभाँति विदित हो जाता है। भाषा, व्याकरण, रचनादर्श और साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से उनके पत्रों में उनकी सरल-स्वाभाविक, किन्तु शक्ति-सम्पन्न और घरेलू शैली के दर्शन होते हैं। संग्रह में सर्वश्री पारसनाथसिंह, वियोगी हरि, हरिशंकर शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, हरिदत्त शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, भीमसेन शर्मा, श्यामसुन्दरदास खत्री, मोहनलाल महतो 'वियोगी', कुँवर सुरेशसिंह, नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' आदि को लिखे गए पत्र हैं। परिशिष्ट में पं० श्रीराम शर्मा, प्रेमचन्द, अकबर इलाहाबादी और राजेन्द्रप्रसाद द्वारा व्यक्त पद्मसिंहजी के सम्बन्ध में विचारों का संकलन है। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी और पं० हरिशंकरजी शर्मा का पद्मसिंहजी से घनिष्ठ सम्पर्क था। ऐसे उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा इस ग्रन्थ का सम्पादन होने से उसका मूल्य और भी अधिक हो गया है। कुछ पत्रों के फ़ोटो दे देने से ग्रन्थ हस्त-लिपि-विशारदों के लिए भी उपयोगी बन गया है। पाद-टिप्पणियाँ देकर सम्पादक-द्वय ने और भी अच्छा काम किया है।

लगभग प्रत्येक पत्र से पद्मसिंहजी की जिन्दादिली तो टपकती ही है, उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी अनेक आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। पद्मसिंह शर्मा-टाइप के लोग तो अब साहित्य-क्षेत्र में मिलते नहीं। उनके पत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रत्येक घड़ी साहित्य-रस में डूबे रहते थे। गन्ने उगाने या बीमारी की बात तक कहने में उन्होंने साहित्यिकता प्रदर्शित की है। उनके इन पत्रों में वह सजीवता तथा गुण हैं जिनके लिए वे साहित्य में प्रसिद्ध हैं। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी को लिखते हुए एक पत्र में उन्होंने लिखा है—**"मैंने इसमें कुछ ऐसे लेखकों पर प्रकाश डाला है जो दलबन्दी की आँधी के कारण छिपे हुए हैं। जिन लोगों ने कन्वेसिंग, प्रोपेगेण्डा या दलबन्दी के सबब अपना सिक्का बिठा रखा है उन्हींका गुणगान होता है। चुपचाप काम करने वालों को कोई नहीं पूछता।···बात 'घणी चोखी' बावन तोले पाव रत्ती—यानी बिल्कुल सही और सच है। फिर 'उछलती-कूदती' भाषा का लाजवाब जवाब भी है। उस उछलती-कूदती भाषा की बात को उस वृथा पुष्ट पोथे से लेकर पोथे वाले चेलों ने कई पुस्तकों को दोहराया है—'शृगाल रोदन-न्याय' का परिचय दिया है—इसलिए इसकी और भी ज़रूरत थी, आप ही कहिए थी या नहीं ? मैं**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो समझता हूँ—थी, और जरूर थी, आपने तो प्रोपेगेण्डा-अस्त्र माँज-मूँजकर फिर मोथरा कर दिया, सोडावाटर का उबाल आकर रह गया, पर मैं इस अनर्थ और अत्याचार को यों चुपचाप सह लेना नितान्त अनुचित समझता हूँ।····" इससे उनका अन्याय के प्रति रोष, सचाई और निर्भीकता का परिचय मिलता है। उनके सहानुभूतिपूर्ण हृदय का प्रमाण देखिए—"····ऐसी घटनाएँ बड़ी हृदय-विदारक होती हैं। जीवन को भारभूत बना देती हैं। उर्दू के एक कवि ने सच ही कहा है—

हरनफ़स आह और अनफ़ास पै जीने का मदार,
जिन्दगी आहे-मुसलसल् के सिवा कुछ भी नहीं।

जीना क्या है, दुःखों का भार ढोना है, जो ढोना ही पड़ता है, लाचारी है। उर्दू-हिन्दी के साहित्य-सेवियों की सच्ची जीवनी लिखी जाय, तो दुःख-गाथाओं का एक भारी पोथा बन जाय। ग़ालिब और अकबर यही रोना रोते-रोते मर गए। शंकरजी और द्विवेदीजी (स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी) का भी यही हाल है।····कौटुम्बिक व्याधियों से व्यथित हैं। भगवान् यम के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं। पढ़कर जी भर आया। साहित्य-सेवियों की जीवनी में दुःख-ही-दुःख भरा है।···" पद्मसिंहजी के द्रवीभूत हृदय और उनकी मानसिक दशा बताने वाली ये पंक्तियाँ उनके मानव-रूप की घोषणा करती हैं। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण इस संग्रह से दिये जा सकते हैं जो पद्मसिंहजी के पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं। उनकी साफगोई, दिखावट से घृणा, दम्भ से अरुचि, आत्मगौरव, निर्भीकता, आदर्श-पालन, साहित्य-सेवा, बहुज्ञता, भाषाधिकार आदि अनेक बातों का इन पत्रों से पता लगता है। उनके लिए यह कहा गया है कि सरस्वती की रक्षा के लिए तो वे 'बरतना शमशेर' थे। प्रस्तुत पत्र-संग्रह से इस कथन की सार्थकता पूर्णतः प्रमाणित होती है। उनका मानव-रूप और साहित्यिक रूप दोनों ही उनके पत्रों में भलीभांति प्रतिबिंबित हैं। इसीलिए यह पत्र-संग्रह सार्थक, सफल और उपयोगी है। ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के लिए सम्पादक-द्वय धन्यवाद के पात्र हैं।[1]

●

भोलानाथ तिवारी

पुरानी राजस्थानी

इटली के सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० एल० पी० तेस्सितोरी का 'Notes on the Grammar of the old western Rajasthani with special reference to Apabhramsa and Gujarati and Marwari' शीर्षक प्रसिद्ध शोधपूर्ण निबन्ध 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी' में धारावाहिक रूप से १९१४, '१५ तथा '१६ के कुछ अंकों में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक उसी निबन्ध का डॉ० नामवरसिंह द्वारा किया हुआ हिन्दी-अनुवाद है। डॉ० तेस्सितोरी के इस निबन्ध के महत्त्व के संबंध में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं—

"राजस्थानीविद् स्व० एल० पी० तेस्सितोरी ने 'इंडियन ऐंटीक्वेरी' पत्रिका के

1. सम्पादक—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी और पं० हरीशंकर शर्मा; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-६; १९५६; मूल्य ६); पृ० सं० २४१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंकों में जो मूल्यवान् गवेषणा सम्पूर्ण की थी, उससे राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला गया है।....पुरानी राजस्थानी उच्चारण-रीति, रूप-तत्त्व और वाक्य-रीति के पूरे विचार के साथ तेस्सितोरी की आलोचना ऐसी महत्त्वपूर्ण है कि इसे राजस्थानी तथा गुजराती भाषा-तत्त्व की बुनियाद यदि कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी।[1]

राजस्थानी तथा गुजराती के लिए तो यह निबन्ध महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही किसी भारतीय भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण प्रस्तुत करने का भी यह प्रथम प्रयास है और इस रूप में एक दिशा का यह प्रथम निर्देशक ग्रन्थ है।

यह निबन्ध एक तो अंग्रेज़ी में था और दूसरे एक पुस्तक रूप में न होकर इंडियन ऐंटीक्वेरी के कई अंकों में बिखरा पड़ा था, अतएव हिन्दी के अध्येता सरलतापूर्वक इतनी महत्त्वपूर्ण सामग्री का समुचित उपयोग नहीं कर पाते थे। डॉ० सिंह ने इसका अनुवाद करके तथा नागरी प्रचारिणी सभा ने इसे प्रकाशित करके हिन्दी वालों का बड़ा उपकार किया है।

ग्रन्थकार की प्रस्तावना के अतिरिक्त मूल पुस्तक १० अध्यायों में विभक्त है, जिनके शीर्षक क्रम से भूमिका, ध्वनि-विचार, संज्ञा-शब्द-रूप, विशेषण, संख्यावाचक विशेषण, सर्वनाम, क्रियाविशेषण, समुच्चय-बोधक, क्रिया तथा रचनात्मक प्रत्यय हैं। अंत में एक परिशिष्ट में 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी रचनाओं से संकलित उदाहरण' हैं। पुस्तक के आरम्भ में डॉ० तेस्सितोरी का संक्षिप्त जीवन-परिचय तथा उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों की सूची है। उसके पूर्व अनुवादक की विज्ञप्ति है, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त पुस्तक के महत्त्व पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

लेखक के शब्दों में यह निबन्ध 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी के व्याकरण पर नोट' मात्र है, पर जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, यह राजस्थानी का ऐतिहासिक व्याकरण है, साथ ही जैसा कि डॉ० सिंह ने भी अपनी विज्ञप्ति में कहा है, यह पुरानी पश्चिमी राजस्थानी द्वारा अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की उस खोई हुई कड़ी के पुनर्निर्माण का प्रयत्न है, जिसके बिना किसी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का ऐतिहासिक व्याकरण लिखा ही नहीं जा सकता।

अनुवाद की भाषा स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण तथा मूलभावों की रक्षा में पूर्ण समर्थ है।

हिन्दी में व्याकरण के संज्ञा, सर्वनाम आदि सामान्य शब्दों को छोड़कर, जो हमें संस्कृत भाषा से रिक्थ के रूप में मिले हैं, भाषा के अध्ययन के लिए आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली में, जिनका आधार यूरोपीय भाषाएँ हैं, एकरूपता का सर्वथा अभाव है। उदाहरणार्थ 'Inflectional' शब्द लें। इसके लिए हिन्दी में विभक्तियुक्त, मिलन्त, धातुरूपात्मक, श्लिष्टयोगात्मक, विभक्ति-प्रधान, संस्कार-प्रधान, विकृति-प्रधान तथा श्लिष्ट आदि लगभग आधे दर्जन से अधिक शब्दों का प्रयोग चल रहा है। इस अव्यवस्था के कारण सामान्य पाठक ही नहीं, अपितु भाषा-शास्त्रियों के लिए भी कहीं-कहीं लेखकों के मन्तव्य समझने में कठिनाई होती है। डॉ० सिंह के सामने भी अनुवाद करते समय इस प्रकार की कठिनाई रही होगी। उन्होंने कुछ तो पुराने लोगों द्वारा गढ़े शब्दों का प्रयोग किया है और कुछ स्वयं भी गढ़ लिये हैं। लगता है कि शब्दों का यह गढ़ा जाना अनुवाद के साथ ही चलता रहा है और अनुवाद-कार्य करने

१. 'राजस्थानी भाषा', डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, उदयपुर, १९४९, पृ० ७-८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पूर्व या बाद में उन पर एकरूपता की दृष्टि नहीं दौड़ाई गई है। यदि अनुवाद में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द पहले स्थिर कर लिये गए होते तो एक ही अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्द के लिए कहीं किसी और कहीं हिन्दी पारिभाषिक शब्द को प्रयुक्त करने की स्थिति का सामना न करना पड़ता। इन नये-नये प्रयुक्त शब्दों में कुछ शब्द (जैसे Illative के लिए 'परिणामबोधक' तथा 'निष्कर्षवाचक') प्रायः एकसे ही हैं, पर पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार के अंतर भी न रहने देना स्थिरीकरण की दृष्टि से प्रायः अच्छा होता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, डॉ० सिंह ने कुछ अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी-प्रतिशब्द गढ़ लिये हैं, पर कई स्थलों पर संभवतः शब्दों को गढ़ने की कठिनाई के कारण ही उन्होंने अंग्रेज़ी शब्दों के ही प्रयोग कर दिए हैं। इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं—

१. स्वरों के बीच ज व्यंजन की शक्ति खो देता है और जैन प्राकृत की य-श्रुति की तरह Euphonic तत्त्व के रूप में प्रयुक्त होता है।[1]

२. Precative बहुवचन के पदान्त में ज्ज विकल्प से सरल होकर ज्य हो जाता है।[2]

३. कुछ और अधिक ज़ोर देने के लिए करणकारक संज्ञाओं में यौगिक appendage की तरह जोड़ दिया जाता है।[3]

४. मारवाड़ी में हमें परो, वरो, रो विशेषणों का उपयोग करके एक प्रकार के Verbal intensives बनाने के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

५. ध्यान देने योग्य है कि कविता में ए प्रथमपुरुष सर्वनाम में सभी कारकों में मात्रा की दृष्टि से anceps है।

६. यह क्रिया के पहले Proclitically रखा जाता है।

इतने परिश्रम से डॉ० सिंह ने इस पुस्तक का अनुवाद, सफल अनुवाद, किया है और काफी शब्दों के पर्यायों का निर्माण किया है। ऐसी स्थिति में यदि थोड़ा और श्रम और समय देकर इन अंग्रेज़ी शब्दों को भी, जो संख्या में एक दर्जन से अधिक नहीं हैं, हिन्दी-रूप दे दिया गया होता तो अनुवाद और भी पूर्ण हो जाता। यह स्खलन संभवतः जल्दी करने के कारण हो गया है, क्योंकि संभवतः इनमें से कुछ शब्दों के हिन्दी-पर्यायों का प्रयोग इसी अनुवाद में अन्यत्र हुआ है।

पुस्तक के अंत में इसमें आए राजस्थानी शब्दों की यदि एक अनुक्रमणी दे दी गई होती तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती।

कहीं-कहीं प्रूफ़ की कुछ साधारण अशुद्धियाँ हैं। पृष्ठ १६-१७ पर ६ पंक्तियाँ दो बार छप गई हैं। पर ये सब नगण्य हैं।

ऊपर दिये गए सामान्य स्खलनों के बावजूद पुस्तक का अनुवाद सुन्दर, प्रकाशन सुरुचि-पूर्ण और छपाई सुन्दर तथा शुद्ध है। अनुवादक तथा प्रकाशक दोनों हिन्दी-संसार की बधाई के पात्र हैं।[4]

१. पृ० ३४ २. पृ० ४२ ३. पृ० ६६
४. 'पुरानी राजस्थानी', लेखक—डॉ० एल० पी० तेस्सितोरी; अनु०—प्रो० नामवरसिंह; प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवकुमार मिश्र

बेकसी का मज़ार

'बेकसी का मज़ार' हिन्दी के जाने-माने कथाकार, 'विदा', 'विकास', 'बयालीस', 'विसर्जन' आदि उपन्यासों के रचयिता, मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव की नवीनतम कृति है। इस कृति में मुन्शीजी ने अपने अन्य उपन्यासों से भिन्न एक ऐतिहासिक कथानक को अपनी लेखनी का आधार बनाया है और वह कथानक भी ऐसा जो अतीत का होते हुए भी, आज भी हमारे लिए उतना ही ताज़ा और नया है, जितना तब था—और वह ऐतिहासिक कथानक है—भारत के प्रथम स्वाधीनता-संग्राम का कथानक, सन् १८५७ की जन-क्रान्ति का कथानक; एक ऐसे व्यक्तित्व से सम्बन्धित जो एक साथ बादशाह, दार्शनिक, कवि सभी कुछ था, अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे पुत्रों व पौत्र के कटे हुए सिर को देखकर भी (जिन्हें अंग्रेजों ने उसके पास भेजा था) अत्यन्त धैर्य और मुख पर अपूर्व शान्ति धारण कर जिसने केवल इतना ही कहा था—

"अल्लाह-मद-लिल्लाह! तैमूर की औलाद ऐसी ही सुर्खरू होकर बाप के सामने आया करती थी।"[१] हमारा इशारा मुग़ल वंश के आखिरी चिराग़ बहादुरशाह शाह 'जफर' की ओर है, जो सन् १८५७ में अपनी धूमिल किन्तु ऐसी ज्योति के लिए जल रहा था जिसने आज़ादी के दीवाने अगणित पतंगों को अपने ऊपर जलकर भस्म हो जाने के लिए प्रेरित किया और बाद को स्वयं भी बुझ गया, पर भारतीयों के हृदय में ऐसी यादगार छोड़कर, ऐसी निष्ठा और कर्मण्यता फूँककर, जिसका परिणाम १५ अगस्त सन १९४७ को भारत-वर्ष की पूर्ण स्वाधीनता में प्रकट हुआ।

ऐसे ही इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्तित्व और उससे सम्बन्धित सन् १८५७ की लोमहर्षक, भयावनी और अधिकांशतः सत्य घटनाओं को लेकर उपरोक्त उपन्यास की, जो डिमाई आकार के ५५२ पृष्ठों का है और अपने मूल्य के रूप में पूरे दस रुपयों की माँग करता है (जो औसत पाठकों के लिए शायद बहुत अधिक है), रचना हुई है।

सबसे पूर्व हम इस भ्रम को मिटा देना चाहते हैं कि जब उपन्यास सन् १८५७ की घटनाओं व बहादुरशाह से सम्बन्धित है तो उसका नाम 'बेकसी का मज़ार' क्यों रखा गया? इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन है कि सन् १८५७ की जन-क्रान्ति की घोर असफलता एक बेकसी का मज़ार ही कही जा सकती है, दूसरे 'बेकसी का मज़ार' शीर्षक बहादुर-शाह ही की एक सुन्दर नज़्म की अन्तिम पंक्तियों से सम्बन्ध रखता है जो अपने भावों में जितनी सुन्दर है, बहादुरशाह के तत्कालीन व्यक्तित्व को उभारने में भी उतनी ही सफल

१. His animal passions not satisfied, their heads were severed from their bodies and presented to Bahadur Shah on which the aged Emperor with unimaginable calmness remarked :-
Allah-mad-lillah,................" (History of Modern India—Dr. Ishwari Prasad and S. K. Subedar, Page 262). **उपन्यासकार ने उपन्यास में इस समय बहादुरशाह को अचेत होता हुआ दिखाया है जो कदाचित् ठीक नहीं है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाई। बहादुरशाह 'जफर' की उस नज़्म की आखिरी पंक्तियाँ यों हैं—

कोई मुझ पै फूल चढ़ाये क्यों, कोई लाके शमा जलाये क्यों,
कोई मुझ पै अश्क बहाये क्यों, कि मैं बेकसी का मज़ार हूँ।

उपन्यास का अन्त भी इन्हीं पंक्तियों से होता है, अतएव जहाँ तक उपन्यास के शीर्षक के औचित्य का प्रश्न है, हम उससे सहमत हैं।

अब उपन्यास की कथावस्तु को लीजिए, उपन्यास का लेखक जिस तत्त्व को उपन्यास के अन्य सारे तत्त्वों से अधिक महत्त्व देता है। ५५२ पृष्ठों के इस वृहत् उपन्यास में कथानक का ढाँचा काफी व्यापक घटनाओं के आधार पर निर्मित किया गया है। १८५७ का स्वाधीनता-संग्राम वैसे ही अपने भीतर अगणित घटनाओं को आत्मसात् किये है, उन घटनाओं का एक विशेष व्यक्ति के साथ तारतम्य जोड़कर, ऐसे कथानक का ढाँचा निर्मित करना जो एक साथ ही उस व्यक्ति के विषय में भी सब-कुछ स्पष्ट कर दे, साथ ही स्वाधीनता-संग्राम की भी व्यापक झलक प्रस्तुत करे और फिर आकर्षक व रोचक भी हो—काफी परिश्रम-साध्य कार्य है। यही कारण है कि यद्यपि उपन्यासकार को मस्तिष्क में कथानक का ढाँचा निर्मित करने में पाँच-छः वर्ष का समय लगा, फिर भी वह विभिन्न ऐतिहासिक व काल्पनिक घटनाओं की सुसंगठित व सम्यक् योजना करने में पूर्णरूपेण सफल नहीं हो पाया, हाँ उसने इतनी सफलता अवश्य प्राप्त की है कि पाठक इस वृहत् उपन्यास को एकबारगी ही आखिर तक पढ़ जाता है। यह सफलता कुछ कम नहीं है। असफल उपन्यासकार इस अर्थ में हुआ कि जिस महत्त्वपूर्ण व्यक्ति-विशेष को उसने कथावस्तु का प्रमुख केन्द्र बनाना चाहा है, उसका न तो चरित्र ही पूरी तरह उभर पाया है और न उससे सम्बन्धित सारी घटनाएँ ही आ सकी हैं, केवल उनकी झलक मात्र मिलती गई है जो पर्याप्त नहीं है। बहादुरशाह के स्थान पर उपन्यास सन् १८५७ की क्रान्ति की ही गाथा बन गया है। क्रान्ति की योजना किस प्रकार हुई, किस प्रकार वह प्रारम्भ होकर असफल हुई, उपन्यास में प्रमुख रूप से यही वर्णित है। क्रान्ति की घटनाओं ने बहादुरशाह से सम्बन्धित घटनाओं को बिल्कुल दबा दिया है। बहादुरशाह के भाग्य-निर्णय के पश्चात् की घटनाएँ अवश्य छोड़ दी गई हैं, पर इससे हमारे उपरोक्त कथन में कोई अन्तर नहीं आता। घटनाएँ अधिकांशतः देश-भर की क्रान्ति से ही सम्बन्धित हैं, न बहादुरशाह से और न दिल्ली से ही, जैसा कि उनको होना चाहिए था। इस प्रसंग में हम श्री वृन्दावनलाल वर्मा के 'झाँसी की रानी' उपन्यास की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिसमें सारी घटनाएँ रानी व प्रमुखतः झाँसी से सम्बन्धित हैं और यही कारण है कि 'झाँसी की रानी' एक सफल कृति बन सकी, पर प्रस्तुत उपन्यास के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। कथानक की घटनाओं का दिल्ली से सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने वाला केवल एक व्यक्ति है—शाह हसन अस्करी जो बहादुरशाह का निजी व विश्वासपात्र है, जो देश-भर में घूम-घूमकर क्रान्ति की आग सुलगाता है, देश-भर के विद्रोही नेताओं को बहादुरशाह के झण्डे के नीचे एकत्र करता है, पर हमारे विचार से शाह हसन अस्करी के ये कार्य भी हमारी पूर्व-कथित बात को नहीं मिटाते। हाँ, शाह हसन अस्करी अपने इन कार्यों से स्वयं उपन्यास के सर्वप्रमुख पुरुष-पात्र बन जाते हैं और इस प्रकार बहादुरशाह को पीछे ढकेलकर स्वयं उपन्यास का नायक बनने का claim (हक) उपस्थित कर देते हैं और जो उचित भी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके अतिरिक्त घटनाओं की अधिकता के कारण उनका तारतम्य भी अनेक स्थानों पर विशृङ्खलित-सा हो गया है, जिसे सँभालने के लिए उपन्यासकार को इतिहास से काफ़ी मुँह मोड़कर कल्पना का आश्रय लेना पड़ा है जो एक ऐतिहासिक उपन्यास के लिए, विशेषकर ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास के लिए, जिसकी घटनाओं को घटे अभी बहुत समय नहीं गुज़रा, जो आज भी उतनी ही जीवन्त हैं--उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं की ऐतिहासिकता या काल्पनिकता भूलकर, उन्हें समग्र रूप से देखने पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि कथावस्तु का ढाँचा उपन्यास का कलेवर देखते हुए पर्याप्त गठा हुआ है, कम-से-कम अन्त तक उसमें आकर्षण, भरपूर आकर्षण, विद्यमान है। पहली पंक्ति से जो कथा प्रारम्भ होती है वह अन्तिम पंक्ति तक पहुँचकर ही समाप्त होती है—भले ही उसे गतिशील रखने के लिए, उसके रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए कुछ अनगढ़, मनगढ़न्त व अस्वाभाविक घटनाओं का आश्रय लिया गया हो।

यहाँ 'अनगढ़', 'मनगढ़ंत', 'अस्वाभाविक' घटनाओं की चर्चा हो गई है, अतएव उसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। उपन्यासकार ने कथानक की योजना में ऐसी अनेक घटनाओं का आश्रय लिया है जो पूर्णतः कल्पित अथवा मनगढ़न्त हैं—शायद ऐसी घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाओं के बराबर या उनसे ज्यादा ही हों जैसा कि उपन्यासकार ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने 'निवेदन'[1] में स्वीकार भी किया है। यहाँ तक तो कोई बात नहीं, पर प्रश्न तब उठ खड़ा होता है जब हम उन कल्पित घटनाओं के बीच कतिपय ऐसी घटनाओं को देखते हैं जिनके कारण हमें उपरोक्त शब्द प्रयुक्त करने पड़े। वस्तुतः उपन्यास का कलेवर १५० पृष्ठों तक या उससे भी अधिक कम हो सकता था, यदि उपन्यासकार अनावश्यक चमत्कारिता के फेर में न पड़कर, 'चन्द्रकान्ता' व 'भूतनाथ'-सरीखे उपन्यासों के पाठकों के मनोरंजन का ख्याल न कर, घटनाओं की सृष्टि करता। पर उसने ऐसा न कर सभी प्रकार की रुचि वाले पाठकों के लिए भाँति-भाँति का 'बारह मसाला' जुटाने की कोशिश की, परिणामस्वरूप ही उपरोक्त दोष पैदा हुआ। इस प्रकार की घटनाएँ तो अनेक हैं, पर यहाँ हम दो-एक उन्हीं प्रमुख घटनाओं को लेते हैं जो या तो अनावश्यक रूप से अधिक पृष्ठ घेरती हैं, बाकी उपन्यास से जिनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, या उपन्यास के तत्त्वों को गलत रूप से प्रभावित कर कथानक की सृष्टि में व्याघात उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार की घटनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) बादशाह शाहजहाँ के खुफिया खजाने से सम्बन्धित घटना—इस घटना ने उपन्यास के ४० पृष्ठ घेरे हैं तथा इस खजाने की प्राप्ति में 'चन्द्रकान्ता' व 'भूतनाथ' सरीखे न जाने कितने 'तिलिस्म' टूटते हैं, सनसनीखेज़ व भयावने दृश्य सामने आते हैं, कौतूहल व भयमिश्रित वातावरण उत्पन्न होता है जबकि इस घटना का उपन्यास के शेष कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है, न यह खज़ाना ही किसी काम आता है। इस घटना ने उपन्यास के अनेक पृष्ठ तो घेरे ही, आज के साहित्यिक उपन्यासों में इस प्रकार की तिलिस्मी घटनाओं का कोई औचित्य भी नहीं है।

१. इसमें (उपन्यास में) कहानी को प्रधानता देकर इतिहास को गौण बनाया गया है और प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाओं को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें कहानी का अंग बनाने की चेष्टा की गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) अज़ीमुल्ला-गुलनार प्रेम-प्रसंग—इस घटना के औचित्य पर हमें कोई शिकायत नहीं है, केवल इसके अनावश्यक विस्तार से हम सहमत नहीं हैं, कारण इस प्रेम-प्रसंग का विशेष महत्त्व उपन्यास में नहीं दिखाई देता।

(३) गुल मुहम्मद व माताबदलसिंह की मृत्यु के पश्चात् का कथानक—वस्तुतः उपन्यास के इन दो पात्रों की मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो जाना था, पर कथा को अनावश्यक रूप से, केवल कुछ कौतूहलजनक वातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से, बढ़ाया गया है। इस विस्तार ने उपन्यास की ऐतिहासिकता पर भी आघात पहुँचाया है। लेखक ने अज़ीमुल्ला को उपन्यास के अन्त तक जीवित दिखाया है, जबकि इतिहासकारों के अनुसार वह लखनऊ के युद्ध में मारा गया था। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्तिम दृश्य मार्मिक व प्रभावशाली बन गया है, नहीं तो यह विस्तार बेहद खटकता।

(४) गुलशन का यौन-परिवर्तन—चौथी घटना, जिस पर हमारी गम्भीर आपत्ति है और वस्तुतः जो ही कथानक की सारी अनगढ़ता और कुरूपता का कारण है, गुलशन (बेगम ज़ीनत महल की सहेली, उपन्यास की सर्वप्रमुख नारीपात्र, क्रान्ति में अग्रणी) का यौन-परिवर्तन है। पता नहीं क्यों उपन्यासकार ने कथानक में ऐसी घटना को स्थान दिया। जिन-जिन लोगों ने उपन्यास पढ़ा है, इसी घटना की कुरूपता पर इशारा किया है। आधे उपन्यास तक तो गुलशन स्त्री रहती है, उसकी सुन्दरता व उसके आकर्षण का उपन्यासकार उल्लेख करता है, उसे उपन्यास की नायिका के रूप में आगे बढ़ाता है, पर आधे उपन्यास के पश्चात् यही गुलशन स्त्री न रहकर पुरुष बन जाती है और उसका नाम गुलमुहम्मद हो जाता है। अब यदि यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाय कि उपन्यास की नायिका कौन है, तो कोई रास्ता नहीं रह जाता। यह ठीक है कि उपन्यासकार काफी पहले से गुलशन के भावी यौन-परिवर्तन के संकेत देने आरम्भ कर देता है, जिससे अन्त तक पहुँचते-पहुँचते यह घटना आकस्मिक नहीं लगती, पर प्रश्न यह उठता है कि उसने ऐसा क्यों किया, अपने कथानक के साथ इस प्रकार का बेजा खिलवाड़ क्यों किया, किन आधारों पर किया, किस उद्देश्य से किया? एक ऐतिहासिक उपन्यास में यौन-परिवर्तन की बात दिखाना, उपन्यास की सर्वप्रमुख नारी-पात्र से उसका सम्बन्ध जोड़ना, घटनाओं के स्वाभाविक क्रम को यकायक मोड़ देना, कहाँ तक उचित और युक्तिसंगत है?

आज यदा-कदा यौन-परिवर्तन सम्बन्धी देश-विदेश के कुछ किस्से समाचारपत्रों में देख पड़ते हैं, पर केवल इन किस्सों के आधार पर एक ऐतिहासिक कथानक में इस प्रकार का परिवर्तन हमारे विचार से कतई उचित नहीं है। बातचीत के दौरान में उपन्यासकार ने इसे आधुनिक युग का प्रभाव स्वीकार किया है व यह तर्क भी दिया है कि आज इस प्रकार की घटनाएँ घटती हैं तो उस युग में भी घटती होंगी व छिपी रह जाती होंगी, पर केवल इस अनुमान पर ही उपन्यास में इतना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाना हमारे विचार से बिलकुल ठीक नहीं है। फिर यदि इस घटना की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता का प्रश्न छोड़ भी दिया जाय और एक घड़ी के लिए उपन्यासकार की ही बात मान ली जाय, तब प्रश्न उठता है कि उपन्यासकार के इस यौन-परिवर्वन से कौनसे उद्देश्य सिद्ध होते थे? प्रत्येक उपन्यासकार का अपने कथानक की छोटी-से-छोटी घटना की योजना करने में भी कोई-न-कोई उद्देश्य होता है, फिर किसी महत्त्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण घटना का जन्म तो निरुद्देश्य होता ही नहीं। यदि कोई उपन्यासकार महज चमत्कार-लोभ से ऐसा करता है तो यह उसकी अपरिपक्वता ही समझी जायगी। उपन्यास की साहित्यिकता का गला चमत्कारिता से दबवाने का प्रयत्न विरला उपन्यासकार ही कर सकता है, जैसा कि मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने किया है।

उपन्यासकार ने इस घटना के औचित्य को लेकर जो तर्क मुझे दिये और जो वस्तुतः हो सकते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) मातावदल सिंह (हिन्दू) व गुलशन (मुसलमान) के पारस्परिक विवाह की समस्या को टालना।

(२) बहादुरशाह के लड़कों के कातिल हाडसन को मारने की क्षमता का पुरुष में ही होना जबकि गुलशन स्त्री थी।

(३) मैनावती (नाना साहब की पालिता पुत्री) व गुलशन का प्रेम-प्रसंग, जो गुलशन को पुरुष बनाकर ही प्रदर्शित किया जा सकता था।

हम उपरोक्त तीनों तर्कों का क्रमशः उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

जहाँ तक पहले तर्क का प्रश्न है, हमारा इतना ही कहना है कि एक तो मातावदलसिंह व गुलशन का प्रेम एकाङ्गी था; गुलशन मातावदलसिंह से प्रेम न करती थी वरन् उसे अपने प्रेम का भुलावा देकर उससे अपनी कार्यसिद्धि करना चाहती थी, जैसा कि उसके अनेक कथनों से प्रकट होता है।[1] दूसरे मातावदलसिंह जिस हद तक गुलशन के वश में हो गया था और जिस प्रकार उसके विवाह-प्रस्ताव को समझा-बुझाकर गुलशन ने आगे के लिए टाल दिया था, उसी प्रकार गुलशन उसे अन्त तक सँभाले रख सकती थी और अन्त में इस समस्या के उठने का कोई प्रश्न ही नहीं था, कारण उपन्यासकार को इन्हें मारना ही था। फिर यदि विवाह का प्रश्न भी उठता तो उसमें हिन्दू-मुसलिम प्रश्न को लेकर कोई बाधा न न खड़ी होती, कारण गुलशन के बिरादरी वालों ने सब जानकर भी इस बात को कोई महत्त्व न प्रदान किया था। शाह हसन अस्करी, जो गुलशन के पिता के समान थे, स्वयं इस प्रश्न को लेकर गुलशन के साथ मज़ाक किया करते थे[2] व गुलशन की बहन गुलनार भी सूबेदार मातावदलसिंह का नाम ले-लेकर गुलशन की चुटकियाँ लिया करती थी।[3] अस्तु!

उपन्यासकार का उपरोक्त तर्क बहुत हल्का है। अब दूसरे तर्क पर आइये। दूसरे तर्क के उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि हाडसन की मृत्यु किसी दूसरे के हाथ से भी दिखाई जा सकती थी और यदि उपन्यासकार इस कारण कि हाडसन ने पहले गुलशन की बेइज्जती की थी, गुलशन के हाथों से ही उसे मरवाना चाहता था तो स्त्री-रूप में ही गुलशन से यह कार्य कराने में क्या बाधा या अस्वाभाविकता थी? बल्कि यह घटना तब और भी प्रभावशालिनी हो गई होती। यह बात मानने को जी नहीं करता कि पुरुष को मारने की क्षमता पुरुष में ही हो सकती थी। उपन्यासकार ने प्रारम्भ से ही गुलशन को एक वीर रमणी

१. पृष्ठ २८, शाह हसन अस्करी से बातचीत के दौरान में, पृष्ठ १२४ शाहसाहब से ही पुनः, आदि-आदि!
२. पृ० २८।
३. पृ० १२३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में प्रस्तुत किया है और ऐसी दशा में यदि वह हाडसन को युद्ध में परास्त कर उसे मारती तो कोई अस्वाभाविकता न उत्पन्न होती। भारतीय इतिहास इस प्रकार की नारियों से भरा पड़ा है, स्वयं १८५७ में ही रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ा दिए थे। क्या यह अस्वाभाविक था? फिर यदि उपन्यासकार के कहने से यह मान भी लिया जाय कि यह कार्य अस्वाभाविक लगता, तो यह अस्वाभाविकता हमें ग्राह्य होती वरन् उस अस्वाभाविकता के जो उसने गुलशन का यौन-परिवर्तन करके प्रदर्शित की है।

जहाँ तक तीसरे तर्क का प्रश्न है, इतना ही निवेदन है कि आखिर इस बात की कौन-सी आवश्यकता आ पड़ी थी कि मैनावती की ओर किसी का आकर्षण दिखाया ही जाय? फिर यदि दिखाना ही था तो कोई अन्य पुरुष पात्र इस कार्य के लिए मिल सकता था, गुलशन ही इसके लिए क्यों चुनी गई? स्त्री, स्त्री से प्रेम नहीं कर सकती इस कारण गुलशन को पुरुष बनाकर उसे मैनावती का प्रेमी बनाना—इस सारी खींचतान की क्या आवश्यकता थी? फिर ये सारी घटनाएँ, यहाँ तक कि माताबदलसिंह, गुलशन, मैनावती आदि पात्र भी कल्पित थे, और जब उपन्यासकार आसानी से स्वाभाविक मार्ग की ओर घटनाओं के प्रवाह को मोड़ सकता था, उस पर कोई बन्धन न था, तब उसने कथानक के साथ इतनी बेजा स्वतंत्रता क्यों बरती? गुलशन का यौन-परिवर्तन 'बेकसी का मज़ार' की एक ऐसी घटना है जो उसकी आधी सुन्दरता की हत्या कर देती है, उससे उपन्यासकार के किसी भी उद्देश्य की (केवल चमत्कारिता को छोड़कर) पूर्ति नहीं होती, उल्टे अन्य घटनाओं पर उसका बुरा प्रभाव पड़ा है।

कथावस्तु में कतिपय छोटी-मोटी अनुचित व अस्वाभाविक घटनाएँ और भी हैं—उदाहरणार्थ शाह हसन अस्करी का गुलशन (जिसे वे पुत्री से भी अधिक मानते थे) को अपनी प्रेम-कहानी सुनाना और सुनाते-सुनाते गिरकर रोने लगना, गुलशन से सूबेदार मातावदलसिंह का नाम लेकर मज़ाक करना, गुलशन का उन्हें अपने यौन-परिवर्तन की बात पूरे विस्तार से, अपने अंगों का हवाला देकर बतलाना, मैनावती का अपनी बुआ रानी लक्ष्मीबाई से गुलशन के अंगों की बाबत बताना आदि-आदि! कुछ अस्वाभाविक बातें भी हैं, जैसे बैसवाड़े के मातावदलसिंह का 'आल्हा' से परिचित न होना और ऋषिनाथ से पूछना कि 'आल्हा क्या है? मुझे नहीं मालूम'[1] तथा बिठूर में गुलशन के अंगों का स्त्रीवत् होना और बिठूर से कलकत्ता तक के मार्ग में अचानक पूर्णरूपेण पुरुषवत् हो जाना आदि-आदि!

कथानक में जैसा कहा गया है, ऐतिहासिक और काल्पनिक सभी प्रकार की घटनाएँ मिश्रित हैं। परन्तु उपरोक्त दो-तीन प्रमुख घटनाओं को छोड़कर लेखक की कल्पना ने कहीं भी सीमा का अतिक्रमण नहीं किया। काल्पनिक घटनाओं की संगति इतिहास के संदर्भ में कुशलता से बिठा दी गई है। ऐतिहासिक व काल्पनिक सभी घटनाएँ प्रभावशाली व मार्मिक हैं। अजीमुल्ला का इंगलैण्ड जाना, वहाँ के भद्र रमणी-समाज में विख्यात होना, अनेक रमणियों का उन पर आकर्षित होना, इंगलैंड से लौटते हुए इटली व रूस जाना तथा रूस के ज़ार से मिलना, सब-कुछ ऐतिहासिक है व रसेल की डायरी के आधार पर है। शाह हसन अस्करी का फारस के शाह को पत्र भिजवाना आदि घटनाएँ भी सत्य हैं। मिर्ज़ा इलाहीबख्श की गद्दारी भी इतिहास-सिद्ध है, यद्यपि उपन्यासकार ने उसके रूप को अवश्य परिवर्तित कर

१. पृष्ठ १०३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया है। ऐतिहासिक व काल्पनिक घटनाओं के इस योग ने कथावस्तु को पाठकों के लिए सहज ही ग्राह्य बना दिया है। माताबदलसिंह व गुलशन का प्रेम-प्रसंग यदि बिगाड़ा न जाकर, स्वाभाविक गति से आगे बढ़ाया जाता, तो अन्त में देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते हुए और अपने प्राणों की बलि देते हुए उन प्रेमियों का चित्र उपन्यास का अविस्मरणीय चित्र होता।

चरित्र ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक, काल्पनिक, सभी प्रकार के हैं, पर उनमें कोई वैषम्य नहीं प्रतीत होता। काल्पनिक चरित्र ऐतिहासिक चरित्रों के साथ कुशलतापूर्वक गूँथ दिये गए हैं। प्रमुख पुरुष पात्रों में सम्राट् बहादुरशाह, शाह हसन अस्करी, मौलवी अहमद-शाह, माताबदलसिंह, नाना साहब, अजीमुल्लाखाँ, गुलमुहम्मद व हाडसन हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, जिनमें गुलमुहम्मद व माताबदलसिंह को छोड़कर, जो पूर्णतः काल्पनिक हैं तथा हसन अस्करी, जो अर्ध-ऐतिहासिक हैं, शेष सभी अपने युग के प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं। बहादुरशाह को छोड़कर शेष सभी पात्रों का चरित्रांकन कुशलता से हुआ है, उनके चरित्र की टेढ़ी-सीधी सभी रेखाओं को उभारा गया है। गौण पुरुष पात्रों में अली, ऋषिनाथ, तात्या, बख्त खाँ, इलाहीबख्श व कुछ अंग्रेज अफसर हमारे सम्मुख आते हैं, जिनमें अली व बख्त खाँ सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। यही बात नारी-चरित्रों के विषय में भी कही जा सकती है। बेगम ज़ीनत महल, बेगम हजरत महल (ऐतिहासिक), गुलशन व गुलनार (काल्पनिक) उपन्यास की प्रमुख नारियाँ हैं और सबके कार्य अपूर्व दीप्ति से दीपित हैं तथा सब हमें प्रभावित करती हैं। मैनावती व लक्ष्मीबाई गौण नारी-पात्र हैं, पर मैनावती की झलक मात्र, उसका बलिदान हमारे नेत्रों के सम्मुख अविस्मरणीय बनकर चमक उठता है। अंग्रेज पात्रों की विशिष्टताएँ व दुर्बलताएँ भी सावधानी व कुशलतापूर्वक, पक्षपातरहित दृष्टिकोण से प्रदर्शित की गई हैं।

भाषा के क्षेत्र में उपन्यासकार को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। उपन्यासकार की भाषा पात्रानुकूल अपना रूप परिवर्तित करते हुए आगे बढ़ती है। मुसलमान पात्र उर्दू-फारसी शब्द बहुल भाषा का प्रयोग करते हैं, पर ऐसी कसी, गठी और बोधगम्य कि पढ़ते ही बनता है, जबकि हिन्दू पात्र संस्कृत तत्सम प्रधान भाषा ही अधिकतर बोलते हैं। उर्दू-फारसी शब्द-प्रधान भाषा की प्रभावशालिता ने उर्दू के प्रसिद्ध लेखक स्व० ख्वाजा हसन निज़ामी तक को बेहद आकर्षित किया था। अपनी सहजगति व प्रभावशालिता के कारण उपन्यास की भाषा उसकी महत्त्वपूर्ण विशिष्टता बनकर रह गई है।

यहाँ एक दोष का भी उल्लेख कर देना समीचीन प्रतीत होता है जो आज के अधि-कांश ऐतिहासिक उपन्यासों में देख पड़ता है, वह यह कि उपन्यासकार यह भूलकर कि वह एक ऐतिहासिक उपन्यास लिख रहा है, भावावेश में कथानक के युग का अतिक्रमण कर आज तक की चर्चा करने लगता है। प्रस्तुत उपन्यास में भी यह दोष कई स्थानों पर देख पड़ता है जो चिन्त्य है और कम-से-कम मुंशीजी जैसे प्रौढ़ लेखक से यह गलती न होनी चाहिए थी। इस प्रकार के उदाहरण पृष्ठ १८४ के अन्तिम पैराग्राफ, पृष्ठ ५०६ के पहले पैराग्राफ, व पृष्ठ ५३२ व ५३३ में स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जहाँ उपन्यासकार ने मूल उपन्यास की धारा में १५ अगस्त १९४७ तक की चर्चा कर डाली है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरोक्त कतिपय छोटी-बड़ी दुर्बलताओं को छोड़कर उपन्यासकार ने उपन्यास-लेखन में काफ़ी सतर्कता बरती है व काफी परिश्रम किया है। उस युग का ऐतिहासिक वातावरण उपन्यास में सजीवता से उभरा है। स्थान-स्थान पर लेखक ने अपने प्रगतिशील विचारों का भी परिचय दिया है। राजा-नवाबों से अधिक उसने जन-साधारण का पक्ष लिया है। उपन्यास के अनेक स्थल इस कथन के प्रमाण हैं, जहाँ उपन्यासकार ने जनता के वास्तविक महत्त्व को, उसकी अजेय शक्ति को उभारकर दिखाया है।

उपन्यास का अन्त पर्याप्त मार्मिक है, विशेषकर शाहज़ादी द्वारा गाई गई बहादुरशाह की अमर नज़्म 'न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का करार हूँ' वातावरण को और भी मार्मिक व विषाद से युक्त बना देती है।

उपन्यास की छपाई, सफाई, गेट-अप आदि पर्याप्त सुन्दर है। प्रूफ की अशुद्धियाँ पर्याप्त मात्रा में हैं, आशा है वे उपन्यास के अगले संस्करण में दूर हो जायँगी।

निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि कतिपय गहरी दुर्बलताओं के बावजूद भी 'बेकसी का मज़ार' सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम से प्रेरित होकर रचे गए साहित्य के बीच अपना विशिष्ट स्थान रखेगा। हाँ उपरोक्त दुर्बलताओं ने उसे प्रथम श्रेणी की कृति नहीं बनने दिया, ऐसा हमारा निश्चित मत है।[1]

सतीशचन्द्र काला

कला-दर्शन

शचीरानी गुर्टू हिन्दी की विचारशील लेखिका हैं। 'कला-दर्शन' पुस्तक उनके अथक परिश्रम और समीक्षात्मक ऊहापोह का फल है। इस पुस्तक में १५ मुख्य अध्याय हैं—प्रागैतिहासिक कला, मिस्र की कला, चीन-जापान की चित्रकला, यूनान की कला, इटालियन कला, स्पेन, फ्लाण्डर्स, जर्मनी, हालैंड की कला, फ्रांस की चित्रकला, ब्रिटेन और अमेरिका की कला, रूस की कला, आस्ट्रेलियन कला, अफ्रीका की कला, प्राचीन कलाएँ—मेसोपोटामिया और क्रीट, अरब, फारस और मुस्लिम कला, भारतीय कला तथा विश्व की मूर्ति-कला।

अन्त में परिशिष्ट रूप में विश्व के प्रमुख कला-स्मारक, अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिवाले कलाकारों तथा कला-ग्रन्थों की सूची दी गई है।

भारतीय कला वाले अध्याय में सिंधुघाटी की सभ्यता के समय से लेकर आधुनिक समय तक की कला-प्रवृत्तियों का क्रमानुसार विवेचन किया गया है। भारत का विदेशों के

१. **'बेकसी का मज़ार' (एक ऐतिहासिक उपन्यास); लेखक—मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव; प्रकाशक—भारती प्रतिष्ठान, पी रोड कानपुर, आकार डिमाई, पृष्ठसंख्या २९२, मूल्य १०)।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ कला के क्षेत्र में जो सम्बन्ध समय-समय पर रहा है उसकी चर्चा भी की गई है।

विदेशी तथा देशी कला के बहुसंख्यक चित्र पुस्तक में यथास्थान दिये गए हैं। इन चित्रों के संकलन में कुछ अधिक कल्पना-शक्ति एवं नीर-क्षीर-विवक उपेक्षित था। चित्रकला के जो अनेक उदाहरण दिये गए हैं उनमें से कुछ चित्र रंगीन होते तो अच्छा होता। यद्यपि इससे मुद्रण व्यय अवश्य बढ़ जाता, परन्तु पुस्तक अधिक कलापूर्ण होती। अजन्ता, काँगड़ा, राजस्थान आदि के कई उत्कृष्ट चित्र सादे होने के कारण भद्दे लगते हैं और उनसे मौलिक चित्रों का ठीक बोध नहीं होता। कुछ रेखाचित्र भी दिये गए हैं, जो संतोषजनक नहीं कहे जा सकते। अनेक चित्रों के विवरण भी अशुद्ध हैं। उदाहरण के लिए मथुरा से प्राप्त कुषाण कालीन वेदिका-स्तम्भों को ई० पूर्व द्वितीय शती का लिखा है। शुंग और कुषाण-काल को कई स्थानों पर एक ही समझने की त्रुटि हुई है। पृष्ठ ३०६ के सामने जो रेखाचित्र प्रकाशित किया गया है वह अजन्ता की हूबहू प्रतिकृति न होकर उसका आधुनिक अनुकरण है। चित्रों के नीचे उनकी क्रम-संख्या तथा आरम्भ में सूची देना आवश्यक है।

पुस्तक में कुछ स्थानों पर विवरण-सम्बन्धी त्रुटियाँ भी आ गई हैं। पृष्ठ ३२५ पर लिखा है कि "मथुरा और अमरावती की नारी-प्रतिमाएँ उजली चित्ती वाले लाल रवादार पत्थरों पर कोरी गई हैं।" मथुरा की मूर्तियाँ निस्सन्देह लाल बलुए पत्थर की बनी हैं, पर अमरावती वाला पत्थर हल्का सफेद संगमरमर है, न कि लाल रवादार। प्रूफ की अशुद्धियाँ भी कुछ स्थानों पर रह गई हैं।

हिन्दी-जगत् में इस ग्रन्थ का प्रकाशन स्वागत योग्य है। जैसा कि श्री बालकृष्ण-विश्वनाथ केसकर ने ग्रन्थ के आमुख में लिखा है, "विदेशी कलाओं के सम्बन्ध में हमारे यहाँ कोई अच्छा प्रकाशन नहीं था। इस कमी की पूर्ति प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा की गई है।"

देश-विदेश में विभिन्न युगों में जो कलात्मक प्रवृत्तियाँ कार्य करती रहीं, उनका विहंगावलोकन इस ग्रन्थ में मिलेगा। इस कृति के लिए लेखिका का श्रम निस्सन्देह सराहनीय है। यह और भी प्रसन्नता की बात है कि उनकी दूसरी पुस्तक 'भारतीय कलाकार' का प्रकाशन शीघ्र होने वाला है।[1]

कृष्णदत्त वाजपेयी

प्रतिमा-विज्ञान

भारतीय वास्तु-शास्त्र पर डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने पाँच ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना बनाई है। पहला ग्रन्थ 'वास्तु-विद्या एवं पुरनिवेश' प्रकाशित हो चुका है। प्रतिमा-विज्ञान पर यह दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जो लेखक की पंचपुष्पिका माला का चौथा पुष्प है। उत्तर प्रदेश राज्य की आर्थिक सहायता से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमाला प्रकाशित

१. 'कला-दर्शन', लेखिका—शचीरानी गुर्टू, एम० ए०; प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, ४७, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली; प्रथम संस्करण; १९५६; मूल्य २० रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो रही है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्रतिमा-विज्ञान' वास्तु-शास्त्र के दो प्राचीन ग्रन्थों—'समरांगण सूत्रधार' तथा 'अपराजित पृच्छा'—के अध्ययन पर आधारित है । ग्रन्थ में पूर्व-पीठिका तथा उत्तर-पीठिका शीर्षक दो खण्ड हैं । पूर्व-पीठिका में भारतीय प्रतिमा-विज्ञान की पृष्ठभूमि दी गई है । इसमें ये अध्याय हैं—विषय-प्रवेश, पूजा-परम्परा, प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता (साहित्यिक एवं पुरातत्त्वात्मक प्रामाण्य), अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक (वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन धर्म आदि), अर्चा-पद्धति तथा अर्चागृह । उत्तर-पीठिका में ये ग्यारह अध्याय हैं—विषय-प्रवेश, प्रतिमा-निर्माण-परम्परा, प्रतिमा-वर्गीकरण, प्रतिमा-द्रव्य, प्रतिमा-विधान, प्रतिमा-रूप-संयोग, प्रतिमा-मुद्रा, प्रतिमा-लक्षण, बौद्ध-प्रतिमा-लक्षण, जैन-प्रतिमा-लक्षण और उपसंहार । पुस्तक के अन्त में तीन परिशिष्ट दिये हुए हैं । आरम्भ में पंचध्यानी बुद्ध लक्षण की एक तालिका भी दी गई है ।

हिन्दी में अपने विषय का यह पहला बड़ा ग्रन्थ है, जिसमें मूर्ति-विज्ञान का सांगोपांग विवेचन उपस्थित करने का प्रयास किया गया है । भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला, अभिलेख, मुद्रा आदि के अध्ययन के साथ सम्बन्धित साहित्य एवं धार्मिक मान्यताओं का भी आलोड़न किया गया है । विभिन्न मतों में प्रतिमा-पूजन के स्वरूप तथा उसके क्रमिक विकास पर लेखक ने प्राचीन साहित्यिक उद्धरण देते हुए विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है । ग्रन्थ की उत्तर-पीठिका में प्रतिमा-विज्ञान का शास्त्रीय सिद्धान्त विस्तार से दिया गया है, जो बहुत उपयोगी है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के कई स्थलों पर लेखक ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते। पृष्ठ ६१ पर लिखा है—"**महाकवि कालिदास का काल ईशवीय पूर्व प्रथम शताब्दी प्रमाणित हो चुका है । अतः ईसा से बहुत पूर्व शिव का अर्धनारीश्वर रूप प्रसिद्ध था ।**" कुछ विद्वानों ने कालिदास को ई० पूर्व प्रथम शती का लेखक सिद्ध करने की चेष्टा की है, परन्तु यह मत अब समीचीन नहीं माना जाता । कालिदास गुप्तकाल में हुए, यही विचार अब प्रायः मान्य है । अर्द्धनारीश्वर-रूप में शिव की प्रतिमाएँ भी ईसवी चौथी शती से मिलती हैं । पूर्व-पीठिका के अध्याय ४ (प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता) और १० (अर्चागृह) तथा उत्तर-पीठिका का अध्याय ६ (प्रतिमा-लक्षण) अनेक स्थानों पर संशोधन की अपेक्षा रखते हैं । वज्रयान के देववृन्दों का जो विकास सारनाथ और नालंदा में हुआ उसका कुछ विवरण प्रतिमा-लक्षण अध्याय में देना आवश्यक था । पुराणादि साहित्य के साथ पुरातत्त्वीय प्रमाणों को जोड़ने का प्रयास कई जगह बहुत लचर है ।

पुस्तक में नामों की अत्यधिक अशुद्धियाँ खटकती हैं। उदाहरणार्थ, 'बकसर' को 'बखसर' (पृ० ४), 'पवाया' को 'पावय' (पृ० ५०),'परखम' को 'पारखम'(पृ०५१), 'भरहुत' को 'वरहुत' (पृ० ५१), 'हेलियोडोरस' या 'हेडियोदोर' को 'हेलिडोरा' (पृ० ५३), 'पंचाल' को 'पाञ्चाल' (पृ० ५६) 'गोविन्ददेव' को 'गोविन्ददेवी' (पृ० १६८), 'कार्ला' को 'कर्ली' (पृ० १६६) लिखा गया है । प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ पं० माधवस्वरूप वत्स के लिए 'वाट्स' शब्द बहुत खटकता है । म्यूज़ियम के लिए 'स्मारक गृह' शब्द (पृ० ५४) ठीक नहीं । संग्रहालय, कलाभवन आदि प्रचलित शब्दों में से कोई लिया जा सकता था ।

लेखक की शैली स्थान-स्थान पर बाणभट्ट और दंडी की शैली से टक्कर लेती हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिखाई पड़ती है। "इनमें धर्माश्रयता प्रमुख ही नहीं वह सर्वोत्कर्षेण विराजमाना दृष्टिगोचर हो रही है," इस वाक्य को इतने से भी व्यक्त किया जा सकता था—"उनमें धार्मिकता (या धार्मिक तत्त्वों) की प्रमुखता है।"

पुस्तक में मूर्तियों के चित्रों का अभाव भी खटकता है। ऐसे उपयोगी ग्रन्थ में कुछ मुख्य मूर्तियों के फोटो तथा रेखाचित्र अवश्य दिये जाने चाहिए थे। डॉ० शुक्ल हिन्दी में इस ग्रन्थ को लिखने के लिए बधाई के पात्र हैं। उन्होंने हिन्दी को निस्सन्देह एक बहुमूल्य कृति प्रदान की है। अगले संस्करण में उपर्युक्त कुछ कमियाँ दूर हो सकेंगी, इसकी हमें पूरी आशा है।[1]

029546

मनोहर वर्मा

अन्धा युग

'अन्धा युग' पाँच अङ्कों में समाप्त होने वाला गीति-नाट्य है, जिसमें महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं की पृष्ठभूमि पर आज के नये विकलांग कुरूप युग की ह्रासोन्मुख संस्कृति का चित्र खींचा गया है। दो महायुद्धों का जो विनाशकारी प्रभाव विश्व के आंतरिक एवं बाह्य जीवन पर पड़ा, उसकी आत्मपरक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति 'अन्धा युग' में हुई है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि युद्धकाल की अपेक्षा युद्धोत्तर काव्य अधिक सक्षम और प्रभावशाली रहा है। युद्ध-सभ्यता की वैज्ञानिक परीक्षा के लिए स्थान और काल की दूरी का 'पर्सपेक्टिव' मिलना आवश्यक है। यही कारण है कि अधिकांश श्रेष्ठ युद्ध-कृतियाँ (प्रथम महायुद्ध के पश्चात्) अमेरिकन कवियों द्वारा लिखी गईं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के सर्वश्रेष्ठ गायक ब्रिटेन ने उत्पन्न किये। विक्टर ह्यूगो को नेपोलियन पर लिखी गई कविताएँ घटना के बहुत बाद में छन्दबद्ध हुईं। युद्ध के भीषण अनुभव को मानसिक पाचन मिलना आवश्यक है। श्रेष्ठ युद्ध-काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उन्हीं के द्वारा लिखा जाय जो उसके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आते हैं। फ्रांसिस स्कार्फ ने 'ऑडेन एण्ड आफ्टर' (१९३०-४१) में लिखा है—

"The best war poetry is necessarily written not by those who see war but by those who feel it most intensely".[2]

इस प्रकार स्थान और काल की दूरी के 'पर्सपेक्टिव' भारती को पूरे-पूरे मिले हैं और इसीलिए उनकी युद्ध-सभ्यता की आलोचना में अति भावुकता, तीव्र घृणा, व्यंग्य-घातक शोक एवं अमर्यादित रोष की उन्मादपूर्ण प्रतिक्रिया नहीं है। दूरी के दृष्टिकोण ने उनकी लेखनी

१. 'प्रतिमा-विज्ञान', लेखक—डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय; प्रकाशक—वास्तु वाङ्मय प्रकाशन शाला, शुक्ल कुटी, फैज़ाबाद रोड, लखनऊ; अगस्त १९५६; मूल्य १५ रुपये।

२. पृ० १७४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कलात्मक संयत प्रकाशन का अवसर दिया है। आलोचकों ने 'अन्धा युग' को 'उत्पीड़ित विवेक का विस्फोट' कहा है, किन्तु कोई भी गम्भीर पाठक इस बात से सहमत नहीं होगा कि उसमें कवि का दृष्टिकोण 'न्यूरॉटिक' है। उत्पीड़ित अवस्था में लेखनी तीक्ष्ण, व्यंग्यात्मक, कड़ुए और विक्षिप्त साहित्य का सृजन करती है; किन्तु भारती के काव्य में गिरी हुई संस्कृति के खण्डहरों के प्रति किसी व्यंग्य, कड़ुआहट या विक्षिप्तता का दृष्टिकोण नहीं मिलता। 'अन्धा युग' के चरित्र निश्चित ही अन्धे और कुण्ठाग्रस्त हैं; किन्तु उनको एक सूत्र में बाँधकर चलाने वाली कवि की लेखनी में एक संयत मर्यादा, नैतिकता का आग्रह और आशावादी मानवता की झाँकी मिलती है। विक्षिप्त एवं उत्पीड़ित कलाकार आशा, संयम, विश्वास जैसी शांत, प्रसन्न भावनाओं का सहारा नहीं लेता। वह अपनी प्रतिक्रिया के भावनात्मक झोंके में अतिवादी छोरों का आग्रह करने लगता है। भारती ने 'अन्धा युग' में शुष्क बौद्धिक व्यंग्य और घोर ग्लानि पश्चात्ताप से भरी भावुक प्रलाप-शैली दोनों से बचने की कोशिश की है। अति बौद्धिकता एवं अति भावुकता के दोनों अतिवादी छोरों से अलग भारती की स्थिति मध्य में है, जहाँ संस्कृति का भग्न, जर्जरित रूप उन्हें मानवता के आशामय भविष्य का सन्देश देता है। मानव की मानवता पर से उनका विश्वास घटा नहीं है और यही इस बात का सूचक है कि भारती का 'अन्धा युग' 'उत्पीड़ित विवेक का विस्फोट' नहीं है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि भारती ने युद्ध के औचित्य या अनौचित्य अथवा युद्ध की समस्याओं का कोई दार्शनिक हल नहीं निकाला है। भारती की युद्ध-सभ्यता की आलोचना बौद्धिक मस्तिष्क की संवेदनात्मक विचारधारा का परिणाम है, जो युग के जर्जरित, शीघ्रता से बदलते हुए मूल्यों को कोई सुदृढ़ आधार नहीं दे सकी है। इस दृष्टि से 'अन्धा युग' निश्चय ही 'कामायनी' जैसी रचना से बहुत पीछे है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि 'अन्धा युग' में दादाइज़्म या सुररियलिज़्म की भाँति युद्धोत्तर-न्यूरॉटिक प्रतिक्रिया नहीं है। वह संयमित, मर्यादित एवं सन्तुलित संवेदनाशील काव्य है। यह मानना पड़ेगा कि 'अन्धा युग' के पात्रों का संशयालु, प्रश्नवाचक व्यक्तित्व इतना अधिक उभार ले गया है कि उसका प्रभाव पाठकों पर आवश्यकता से अधिक पड़ता है और भारती के मानवतावादी आशावाद का स्वर कुछ दब-सा जाता है।

'अन्धा युग' के पाँच अंक निम्नलिखित शीर्षकों से लिखे गए हैं—

(स्थापना—अन्धा युग)
पहला अङ्क—कौरव नगरी
दूसरा अङ्क—पशु का उदय
तीसरा अङ्क—अश्वत्थामा का अर्धसत्य
(अन्तराल—पंख, पहिए और पट्टियाँ)
चौथा अङ्क—गांधारी का शाप
पाँचवाँ अङ्क—विनय : एक क्रमिक आत्महत्या
(समापन—प्रभु की मृत्यु)

'अन्धा युग' में चरित्र-चित्रण वैचारिक कोटि का है। चरित्र मानवीय अस्तित्व की अपेक्षा विशेष विचारधारा अथवा विशेष कुण्ठाओं के प्रतीक अधिक हैं। बीसवीं सदी की पतनोन्मुखी संस्कृति के प्रतिनिधि यहाँ उपस्थित हैं। युधिष्ठिर एवं धृतराष्ट्र नेतृवर्ग की अन्धी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति उपासना, सम्पूर्ण विश्व पर एकाधिकार की स्वार्थी वासना के प्रतीक हैं। एक विजयी वर्ग का है, एक विजित वर्ग का। किन्तु दोनों ही असन्तुष्ट हैं, क्योंकि विजय के पश्चात् आने वाली विषम परिस्थितियाँ, युद्ध के बाद का विषैला वातावरण विजयी-वर्ग को विजित वर्ग से कहीं अधिक सन्तप्त बना देता है। गांधारी मानवता का वह घबराया हुआ वर्ग है, जो युग के बर्बर पशुत्व, अमर्यादित नैतिकता और जीवन के द्वन्द्वमय विरोधाभासी संस्कारों के कारण प्रतिक्रियास्वरूप 'कटु निराशा की उद्धत अनास्था' का मार्ग पकड़ लेती है। अश्वत्थामा, प्रतिहिंसक पशुत्व और एक न्यूरॉटिक युद्धलिप्सा के अर्धसत्य का सेवक है। वध उसकी 'नीति' नहीं, मनोग्रन्थि है। उसका अमानुषिक अर्धसत्य घृणा के तर्क पर जीवित है। अश्वत्थामा को वध से मानसिक सन्तुष्टि मिलती है; माँसपेशियों का तनाव खुल जाता है, उसकी न्यूरॉटिक मनोग्रन्थियाँ तृप्त हो जाती हैं। अश्वत्थामा उस वर्ग का संकेत देता है, जिस पर महायुद्धों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। वे सैनिक या उस स्थान के त्रस्त लोग, जहाँ महायुद्ध हुए, इसी घातक प्रतिक्रिया के शिकार हुए। उनके उपचेतन मस्तिष्क में युद्ध के भयंकर अनुभवों का तूफान इतने वेग से भर गया कि उस उन्मादपूर्ण अवस्था का तनाव ढीला करने के लिए उनका रक्त प्यासे पशु की भाँति घूमना अनिवार्य हो गया। महायुद्ध के सीधे प्रभाव में आने वाले राष्ट्रों के मानसिक असन्तुलन की यह विक्षिप्तावस्था अश्वत्थामा के रूप में स्पष्ट रूप से सामने आती दिखाई देती है। यह वर्ग एक ऐसी 'नरवस टेन्शन' की स्थिति में रहा है और है, जिसकी मानसिक कुण्ठाओं की तृप्ति के लिए युद्ध एक आवश्यक पदार्थ है। अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र प्रयोग में अणु विस्फोट का संकेत है।

कृष्ण ज्योति प्रतीक मानवता है, जो महाभारत युद्ध में करोड़ों बार जीवन और मृत्यु को प्राप्त हुए हैं—जो अश्वत्थामा के बर्बर पशुत्व की कोढ़ से पीड़ित हैं—जिन पर युग की विकृति, आत्मघाती, निराश, तटस्थ सत्य की कुरूप काली छाया डोल रही है। ज्योति एवं अन्धकार का द्वन्द्व उनके भीतर है, किन्तु वे प्रभु हैं द्वन्द्व से परे। प्रभु की हत्या व्याध के हाथों होती है। प्रभु की मृत्यु का उल्लेख प्रायः सभी धर्मों की पौराणिक गाथाओं में मिलता है। इस विषय पर धर्मग्रन्थों का पुनर्जन्म का सिद्धान्त एक सर्वमान्य धरातल पर उपस्थित मिलता है। सुमारियन-बेबीलोनियन ईश्वर **'तमूज़'**, फोनीशियन ग्रीक **एडोनिस**, फ्रीजियन **एटिस** और इजिप्शीयन **ऑसिरिस** आदिम कल्पना-प्रसूत देवता हैं, जो जीवन पर ऋतुओं की भाँति शासन करके और फिर मृत्यु की शक्ति के सामने झुक जाते थे; किन्तु यह मृत्यु शाश्वत नहीं थी, उसमें पुनर्जन्म के बीज रहते थे। 'अन्धा युग' में कृष्ण का अन्तिम सन्देश महत्त्वपूर्ण है। व्याध प्रभु की मृत्यु की सूचना देता हुआ कहता है कि सृष्टि के प्राणियों का समस्त दायित्व अपने ऊपर लिये हुए थे और अब अपना दायित्व हम सब पर छोड़ गए हैं। उनका एक अंश निष्क्रिय आत्मघाती और विगलित रहेगा; किन्तु शेष व्यक्तियों में उनका दायित्व प्रेरणा रूप में रहेगा जो कि ध्वंस को निर्माण की चुनौती मानेंगे और हर विकृत, अर्ध-बर्बर, आत्मघाती, अनास्थामय व्यक्ति जीवन की सार्थकता पा जायगा। समापन में भारती ने लिखा है—

> "हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
> अँधियारा है अश्वत्थामा है संजय है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है दास वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अन्धा संशय है लज्जाजनक पराजय है
पर एक तत्त्व है बीजरूप स्थित मन में
साहस में स्वतन्त्रता में नूतन सर्जन में
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्व-युक्त मर्यादित मुक्त आचरण में
उतना जो अंश हमारे मन का है
वह अर्ध सत्य से ब्रह्मास्त्रों के भय से
मानव भविष्य को हरदम रहे बचाता
अन्धे संशय दासता पराजय से।"

यही भारती का आशावादी भविष्य स्वप्न है। मानव की मानवता पर विश्वास रखने वाले इस कवि की आस्था की सराहना करनी होगी। इस अन्तिम आशावादी भावना का स्वरूप मानववादी कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक एवं राजनैतिक न होने के कारण ही शायद कुछ लोगों को 'अन्धा युग' में समाजशास्त्रीय वैज्ञानिकता का अभाव दिखाई देता है। इसको अवश्य ही स्वीकार किया जायगा कि भारती ने युद्ध-सम्बन्धी समस्याओं का कोई हल हमें नहीं दिया है, किन्तु क्या समाजशास्त्रीय वैज्ञानिकता हल निकालने तक ही सीमित है?

'अन्धा युग' के अन्य पात्रों में युयुत्सु, संजय और विदुर महत्त्वपूर्ण हैं। संजय आस्था-अनास्था के द्वन्द्व में त्रस्त, संशयालु, आत्मघाती चरित्र है। आस्था उसकी दृष्टि में एक घिसा हुआ सिक्का है, संजय निष्क्रियता और निरपेक्ष सत्य का प्रतीक है। विदुर के मन में अन्तर्द्वन्द्व है, जिसे अपनी मान्यताओं के सहारे वे दबाते हैं। वृद्ध याचक इलियट के 'वेस्टलैंड' की मैडम सोसोस्ट्रिस का स्मरण दिलाता है। दोनों प्रहरी दास्य-प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं।

'अन्धा युग' का विचार-क्षेत्र वही है जो इलियट के 'मर्डर इन दि कैथेड्रल', 'हालोमैन' और 'वेस्टलैंड' का। 'मर्डर इन दि कैथेड्रल' में आज की विषमता को उपयुक्त पृष्ठभूमि देने के लिए इलियट ने ऐतिहासिकता का सहारा लिया है। 'हालोमैन' का निष्क्रिय नपुंसक व्यंग-चित्र 'वेस्टलैंड' की ही छाया है। 'वेस्टलैंड' और 'अन्धा युग' दोनों बहुत-कुछ समान भूमि पर हैं, किन्तु फिर भी दोनों में बहुत अन्तर है। 'वेस्टलैंड' में मिस वेस्टन के 'रिचुअल टू रोमान्स' और फ्रेज़र के 'गोल्डन बो' की अनुप्रेरणा है। कण्टेमपोरेनिटी एण्ड एण्टिक्विटी, (प्राचीनता और सामयिकता) पेगेनिज़्म एण्ड क्रिश्चयनिटी की द्वन्द्वात्मक पृष्ठभूमि पर युद्धोत्तर पतनोन्मुखी संस्कृति को दर्शाया गया है। 'वेस्टलैंड' में अन्धी, निर्बल, खण्डित, आस्था-हीन मानव-सभ्यता की आलोचना है। इलियट ने इज़किल पैराडाइज़ लास्ट ब्लिक इन्स क्रैश्रोस इनफरनो एपियरेन्स एण्ड रियेलिटी उपनिषद् आदि महत्त्वपूर्ण कृतियों के सन्दर्भों द्वारा मानवीय सभ्यता के समस्त प्राचीन विश्वासों एवं बौद्धिक निष्कर्षों को, ज्ञान की विरासत को, एक 'विश्वमानव' की भाँति अतीत को सशरीर वर्तमान के 'कण्ट्रास्ट' पर लाकर खड़ा किया है। भारती ने अपनी प्रतीक पद्धति द्वारा काव्य को व्यापक कलात्मक स्वर देने की चेष्टा की है, किन्तु जहाँ इलियट के काव्य में यह गुण स्पष्ट है वहाँ वह भारती के काव्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवादग्रस्त प्रश्न बन गया है। इलियट ने 'ग्रेट लीजेण्ड' के आधार पर पुनर्जन्म का आशावाद व्यक्त किया है। वह मानता है कि अनुभव का सत्य शाश्वत है और उस पर आस्थाहीन संशयालुता ही खण्डित विश्वास और व्यर्थ के संघर्षों को पनपा देती है। जीवन और मृत्यु के निश्चित रहस्यों का प्राचीन दृष्टिकोण आज की भौतिकता और विज्ञान ने नष्ट कर दिया है। भारती की विचारधारा बहुत-कुछ ऐसी ही है, यद्यपि दोनों के काव्य-निष्कर्षों में वही अन्तर है जो दो विभिन्न पौराणिक प्रेरणा-सूत्रों को उपयोग में लाने पर होना चाहिए। भारती के काव्य में आशा है, कामना है और चेतावनी है, जोकि महाभारत की पृष्ठभूमि पर आज उतरी है। इलियट के 'वेस्टलैंड' में व्यंग है, विश्वास है और सांस्कृतिक एकता का प्रभावशाली चित्रण है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर दोनों काव्य-ग्रन्थों के पात्र बहुत-कुछ एक-से हैं, यद्यपि उनमें अपना वैयक्तिक एवं कथा-सम्बन्धी विशेष व्यक्तित्व तो है ही।

'अन्धा युग' हिन्दी-काव्य में अपने ढंग की पहली कृति है। 'अन्धा युग' द्वारा आज के सांस्कृतिक ह्रास की ग्लानि और पश्चात्ताप के यथार्थ चित्रों के साथ एक आशावादी भविष्य का सन्देश भी मिलता है। आज जबकि हिन्दी-काव्य प्रयोगवाद, प्रभाववाद, प्रतीकवाद आदि बौद्धिक चेष्टाओं द्वारा काव्य को दुरूह और क्लिष्ट अलंकरण दे रहा है, भारती का यह प्रयास प्रशंसनीय है। उन्होंने वादों की सीमा में अपने काव्य-व्यक्तित्व को नहीं आने दिया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। 'अन्धा युग' द्वारा हमारे हिन्दी-साहित्य के एक आवश्यक अंग की पूर्ति हुई है और हमें भारती की लेखनी की सम्भावनाएँ स्पष्ट दिखने लगी हैं।

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

विश्वविद्यालय
पुस्तकालय
कांगड़ी, हरिद्वार

---

१. 'अन्धा युग', लेखक—धर्मवीर भारती; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद; १९५६; मूल्य २॥)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

078546

राजकमल

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri